महर्षि सान्दीपनि राष्ट्रीय वेदविद्या प्रतिष्ठान उज्जैन
द्वारा प्रायोजित ग्रन्थमाला

ब्राह्मण ग्रन्थों में आचार दर्शन

डॉ॰ प्रज्ञा पाण्डेय

महर्षि सान्दीपनि राष्ट्रिय वेदविद्या प्रतिष्ठान, उज्जैन के द्वारा
प्रायोजित ग्रन्थमाला

ब्राह्मण ग्रन्थों में आचार-दर्शन

लेखिका
डॉ०प्रज्ञा पाण्डेय
एम० ए०, पी-एच०डी०
साहित्याचार्य



प्रतिभा प्रकाशन
दिल्ली भारत

महर्षि सान्दीपनि राष्ट्रीय वेदविद्या प्रतिष्ठान द्वारा प्रदत्त आंशिक अनुदान से प्रकाशित

प्रथम संस्करण : 2003

ISBN : 81-7702-083-6

मूल्य : 250.00

प्रकाशक :

डॉ० राधेश्याम शुक्ल
एम.ए., पी-एच.डी.

प्रतिभा प्रकाशन
(प्राच्यविद्या-प्रकाशक एवं पुस्तक-विक्रेता)
29/5, शक्तिनगर
दिल्ली-110007
Ph. : (O) 27451485 (R) 22912722
e-mail : info-pratibhabooks.com
pratibhaprak-yahoo.in
Web : www.pratibhabooks.com

टाईप सेटिंग : **क्रियेटिव ग्राफिक्स**
ए-40.6, गली नं० 2, ब्रह्मपुरी
दिल्ली-53, फोन नं० 22195643

मुद्रक : तरुण ऑफसेट, दिल्ली

ĀCĀRA-DARŚANA IN BRAHMAṆA LITERATURE

By

Prajñā Pāṇḍey



PRATIBHA PRAKASHAN

DELHI-110007

First Edition : 2003

ISBN : 81-7702-083-6

Price : 250.00

Published by :
Dr. Radhey Shyam Shukla
M.A., Ph.D.
PRATIBHA PRAKASHAN
(Oriental Publishers & Booksellers)
29/5, Shakti Nagar,
Delhi-110007
Ph. : 27451485
e-mail : info@pratibhabooks.com
pratibhaprak@yahoo.in
Web : www.pratibhabooks.com

Laser Type Setting :
Creative Graphics
A-40/6, St. No. 2,
Brahmpuri, Delhi-53
Phone : 22195643

Printed at : **Tarun Offset,** Delhi

पुरोवाक्

भारतीय परम्परा के अनुसार ज्ञान की परिणति आचार में होती है। आचाररहित ज्ञान निष्फल वृक्ष और वन्ध्या स्त्री के समान है। प्राचीन मान्यता है कि आचारहीन व्यक्ति को तो वेद भी पवित्रता नहीं प्रदान कर सकते हैं– 'आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः।'

ब्राह्मण ग्रन्थ, जो मन्त्र–संहिताओं के अनन्तर वैदिक वाङ्मय के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण भाग हैं, इसीलिए पौनः पुन्येन नैतिक भावना और उन्नत मनोभावों का प्रतिपादन करते हैं। डॉ॰ राधाकृष्णन् के अनुसार मनुष्य के कर्तव्य का भाव सबसे पहले ब्राह्मणग्रन्थों में ही उदित होता है (–भारतीय दर्शन, प्रथम भाग)। जीवन एक प्रकार से कर्तव्यों और उत्तरदायित्वों का चक्र है। मानवीय आचरण की दिशा को निर्दिष्ट करने वाले ये सङ्केत अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं, क्योंकि इनके प्रवृत्ति और निवृत्तिगत बिन्दुओं पर आचार–व्यवहार की सम्पूर्ण चेतना केन्द्रित की जा सकती है। इनके समन्ततः परिपालन से मनुष्य का दैनन्दिन व्यवहार और चारित्र्य ऊपर उठ सकता है। व्यष्टि और समष्टि के व्यवहार की सुदृढ़ आचार–संहिता के रूप में ब्राह्मणों में निहित नैतिक चेतना का स्तर अत्यन्त उच्च तथा परिष्कृत है। इनमें प्रायः उन सभी आवश्यक तथ्यों का ध्यान रखा गया है, जो व्यक्ति के व्यवहार को आवश्यकतानुसार न केवल संयत बनाते हैं, अपितु उसे गरिमा भी प्रदान करते हैं।

डॉ॰ प्रज्ञा पाण्डेय का प्रस्तुत ग्रन्थ 'ब्राह्मण ग्रन्थों में आचार–दर्शन' समस्त ब्राह्मण ग्रन्थों में निहित आचार–चेतना का समन्वित प्रस्तावक है। मुझे विश्वास है कि यह ग्रन्थ विद्वज्जगत् में समुचित समादर प्राप्त करेगा।

ओ३म् महन्मे वोचो भर्गो मे वोचो यशो मे वोचः स्तोमं मे वोचो भुक्तिं मे वोचः सर्वं मे वोचस्तन्मावतु तन्माविशतु तेन भुक्षिषीय'। (ताण्ड्यब्राह्मण 1. 1. 1.)

ओम प्रकाश पाण्डेय

सदस्य-सचिव, महर्षि सान्दीपनि

राष्ट्रीय वेदविद्या प्रतिष्ठान, उज्जैन।

अवतरणिका

ब्राह्मण-ग्रन्थों को वेद का अपरिहार्य अंग माना जाता है क्योंकि मन्त्र और ब्राह्मण दोनों ही यज्ञविद्या से सम्बद्ध हैं। इस यज्ञविद्या के दो भाग क्रमशः मन्त्र और विधि निरूपित किये गये हैं। ये विधियाँ हमें ब्राह्मण ग्रन्थों में ही प्राप्त होती हैं मन्त्रों में नहीं। अतः दोनों को मिलाकर ही वेद संज्ञा हुई। सम्भवतः इसीलिए ब्राह्मण-ग्रन्थों को वेद की परिधि से बाहर नहीं किया जा सकता। इनमें विवेचित विषय न केवल यज्ञ की दृष्टि से ही उपादेय हैं वरन् जीवन के विविध क्षेत्रों में भी हमें सम्पूर्णता प्रदान करने में सक्षम हैं। इनका ज्ञान हमें न केवल पतन के गर्त में गिरने से बचाता है अपितु उत्थान के मार्ग के अनुसरण की प्रेरणा भी प्रदान करता है।

वास्तव में हमारे विचार ही आचार के प्राणस्वरूप होते हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों के काल में मानव जीवन के सम्बन्ध में जागरूक प्रतीत होता है तभी तो उसने कल्याण के मार्ग के अनुसरण की कामनाकी और उसको प्राप्त करने के लिए प्रयत्न भी किया। ब्राह्मण-ग्रन्थों के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि उनके जीवन में कर्तव्यों को विशिष्ट स्थान प्राप्त था। सम्भवतः इसीलिये उन्होंने स्वीकार किया कि ऋत के नियम का अतिक्रमण न किया जाये, सत्य के मार्ग पर दृढ़ रहा जाये और जीवन को अनुशासित और संयमित करके निष्काम भाव से कार्यरत रहकर सौ वर्ष से भी अधिक जीवन जीने का प्रयत्न किया जाये। इस साहित्य में जहाँ, सत्य; शुचिता; श्रम; तप और सत्कर्मों से युक्त व्यक्ति की एक नहीं अनेक स्थलों पर प्रशंसा की गई है वहीं उन व्यक्तियों की निन्दा भी की गई है जो यज्ञादि कृत्यों में बाधा उपस्थित करते हैं, स्तुतिकर्ताओं को कष्ट पहुँचाते हैं, चोरी, धूर्तता, छलप्रपञ्च आदि का मार्ग अपनाते हैं और आचार-पथ से भ्रष्ट होकर सज्जनों की हिंसा करते हैं।

तत्कालीन युग में यह भी परिलक्षित होता है कि मानव न केवल अपने लिए ही सुख-शान्ति समृद्धि और कल्याण हेतु प्रार्थना करता था अपितु वह समस्त चराचर जगत् के कल्याण और अभ्युदय की कामना भी करता था। श्रेष्ठ वैयक्तिक गुणों से मनुष्य अपने जीवन को ठोस आधार प्रदान करता है और इस आधार से सुदृढ़ और श्रेष्ठ समाज का अनुमान सहज ही हो जाता है। इतना ही नहीं, हमें शैक्षणिक और आर्थिक जीवन में आचार के भी दर्शन ब्राह्मण ग्रन्थों में होते हैं। इसके अतिरिक्त राजनीति और धर्म जैसे महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों में भी श्रेष्ठ आचारगत तथ्यों का विश्लेषण और विवेचन किया गया है।

ब्राह्मण ग्रन्थों के आचारविषयक अध्ययन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि इनमें अन्य अनेकानेक विषयों की भांति ही आचारसम्बन्धी नियमों का भी सुन्दर ढंग से वर्णन किया गया है। यह सम्भव है कि हम आचार की दृष्टि से श्रेष्ठ मार्ग पर चलकर उस क्षणिक सुख को प्राप्त न कर सकें जो एक अनाचारी व्यक्ति भ्रष्ट उपायों से शीघ्र प्राप्त कर लेता है परन्तु सदाचार से प्राप्त सुख के सामने वह नगण्य है। इनमें प्रतिपादित आचार-दर्शन का यह वैशिष्ट्य प्रतीत होता है जो हमें अनायास ही अन्तस् तक जाकर सदाचार के मार्ग पर लाकर खड़ा कर देता है और हम अपनी दुष्प्रवृत्ति से मुक्त होकर नैतिकता और मानवता की सीमाओं का स्पर्श करने लगते हैं।

प्रज्ञा पाण्डेय

भूमिका

प्राचीन भारतीय वाङ्मय में, उत्तर-वैदिक काल अनेक दृष्टियों से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यह वह युग है, जब वैदिक मन्त्र संहिताएँ दुर्बोध हो चली थीं; मन्त्रों के अर्थ का ज्ञान सामान्य व्यक्ति ही नहीं, विद्वानों के लिए भी दुस्साध्य था; श्रौत यज्ञों का अनुष्ठान यद्यपि हो रहा था, लेकिन उनके विधि-निषेधों पर ब्रह्मवादियों में मतैक्य के स्थान पर बहुविध शङ्काएँ उभरने लगी थीं; द्रव्यात्मक याग के साथ ही यज्ञ के आध्यात्मिक स्वरूप के प्रतिपादन के विषय में भी आग्रह प्रबल होते जा रहे थे, जो केवल पूर्व विद्यमान वाङ्मय के आधार पर ही सम्भव नहीं था। इन युगीन आवश्यकताओं के परिप्रेक्ष्य में, जिस विराट् वाङ्मय का प्रवचनात्मक प्रणयन हुआ, वास्तव में वही ब्राह्मण-साहित्य है। इस साहित्य के प्रवक्ताओं पर मन्त्रों की व्याख्या, यागीय क्रिया-कलाप के स्पष्टीकरण, मौखिक रूप से प्रचलित आख्यायिकाओं और संवादों के निबन्धन, राजनैतिक-सामाजिक सन्दर्भों में कर्मकाण्ड के विपुलीकरण के साथ ही आचार-व्यवहार के मानदण्डों के निर्धारण का गम्भीर दायित्व था। इनके साथ ही धर्म, अध्यात्म और दर्शन के क्षेत्रों में उठ रहे नवीन सन्देहों के निराकरण का भी उत्तरदायित्व था। वास्तव में यह सम्पूर्ण युग एक बृहद् बौद्धिक आन्दोलन और तार्किक उथल-पुथल से समन्वित है, जिसके मूलस्वर को समझे बिना भारत के धर्म-दर्शन ही नहीं, राजनीति और समाजशास्त्र को भी नहीं समझा जा सकता है। यद्यपि ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद्-ये तीनों शब्द पृथक्-पृथक् विषयवस्तु के उपस्थापक हैं, लेकिन वास्तव में ये सभी एकान्वित क्रम के द्योतक हैं। कर्म, ज्ञान और उपासना-इनमें परस्पर विरोध नहीं हैं-आधार-आधेय भाव हैं। उदाहरण के लिए बृहदारण्यक सहित सम्पूर्ण शतपथ ब्राह्मण एक इकाई है, छान्दोग्य और केन उपनिषदें ताण्डयमहाब्राह्मण

की ही अन्तिम अंश मानी जाती हैं - इन्हें भेद-भाव से देखने वाला वैचारिक क्रम में प्रायः भ्रमः का आखेट बन जाता है।

ब्राह्मण ग्रन्थों ने धर्म को बौद्धिक और तार्किक आधार पर प्रतिष्ठित किया। इसीलिए उनके प्रतिपाद्य विषयों में प्रथम स्थान 'हेतु' का है। संसार में, सम्भवतः यही एकमात्र ऐसा धार्मिक साहित्य है, जो आस्था के स्थान पर 'हेतु' (reasoning) का आश्रय लेता है। अपनी सर्वाङ्गीणता और रत्नाकर-सी गम्भीरता के कारण, कालान्तर से इस साहित्य को वेद के सदृश ही विपुल श्रद्धा प्राप्त हुई। संक्षेप में, यह वाङ्मय एक विराट् समाज की समग्र धार्मिक मान्यताओं और क्रिया-कलापों का प्रस्तावक ही नहीं, सञ्चायक भी है।

ब्राह्मण ग्रन्थों ने अपने युग की बौद्धिक जिज्ञासाओं के शमन का जो दुरूह दायित्व सम्भाला, उसके कारण अनेक तत्त्वचिन्तक सामने आये। महिदास ऐतरेय और याज्ञवल्क्य जैसे चिन्तकों से भावी कार्यक्रम की रूपरेखा तैयार हुई।[1] इस युग के अन्य महत्त्वपूर्ण विचारके में गार्ग्यायण, प्रतर्दन, उद्दालक, बालाकि, अजातशत्रु, शाकल्य, माण्डूकेय, कौण्ठीरव, रैक्व, बाध्व, शाण्डिल्य, सत्यकाम, जाबाल और जैवलि प्रभृति हैं। पश्चिमी विचारकों के प्रभाव से आक्रान्त मनीषियों ने भी इन चिन्तकों को अरस्तू अथवा सुकरात कहकर सराहना की है। जब चट्टोपाध्याय जैसे दार्शनिक इतिहास-लेखक जब महिदास ऐतरेय को अरस्तू, गार्ग्यायण को प्लेटो, उद्दालक को पाइथागोरस और अनक्सागोरस के समकक्ष बतलाते हैं, तो अटपटा तो बहुत लगता है, लेकिन वैदेशिक दासता से ग्रस्त पराधीन भारत का लेखक अपनी हीनता-ग्रन्थि से उभरने के क्रम में शायद इसी प्रकार की बात कह सकता था। याज्ञवल्क्य की तुलना भी चट्टोपाध्याय ने सुकरात तथा प्लेटो से की है।[2] यह वह युग था, जब बहुत-से भारतीय विद्वान् कालिदास को 'भारतीय शेक्सपियर' कहकर खुश हो

---

1. Barua: A History of Pre-Buddhistic Indian Philosophy, Calcutta. 1921-51-187
2. Yājñavalkya is the practical mind of Socrates procceeding to the abstract thinking of Plato or it may well be that is a Platonic mind-learning to Socratic-Chattopadhyaya; D.P: Indian Philosophy, April. 1986.

जाया करते थे। चट्टोपाध्याय ने याज्ञवल्क्य पर यूनानी प्रभव भी देख लिया है।[1] उपनिषदों को अंग्रेजी अनुवाद के रूप में पढ़ने वाले तत्कालीन अंग्रेजीदाँ भारतीय दार्शनिक इतिहास लेखक इससे अधिक उनकी गहराई में झाँक भी नहीं सकते थे। चट्टोपाध्याय-जैसे लेखक इससे ज्यादा महत्त्व ब्राह्मण-ग्रन्थों के प्रवक्ताओं को दे भी कैसे सकते थे, जब उन्होंने उनके आधारभूत ग्रन्थों - वैदिक मन्त्रसंहिताओं - में ही उच्च दार्शनिक विचारों का अस्तित्व न मानकर उन्हें आदिम-प्राकृत और बर्बरतापूर्ण गीतों का ही नाम दिया है।[2] यहाँ आलोचना उदयन और उनकी 'न्याय कुसुमाञ्जलि' की की गई है, जिन्होंने अपने दर्शन का आधार ऋङ्मन्त्रों को बतलाया है।

वैदिक वाङ्मय में अथवा उसमें वर्णित इन्द्रादि देवों में चटोपाध्याय को किसी आध्यात्मिक आचार-दर्शन का अस्तित्व उसी प्रकार दृष्टिगोचर नहीं हुआ,[3] जैसे मैक्समूलर, कीथ, ओल्डेनबर्ग प्रभृति को नहीं हुआ था।

पश्चिमी धर्म में यज्ञ-संस्था जैसी कोई संस्था न होने के कारण पाश्चात्य मनीषियों का ब्राह्मणग्रन्थों के अनुशीलन में उतना मन नहीं रमा, जितना संहिताओं में रमा था। ब्राह्मणग्रन्थों में उन्हें केवल शुष्क कर्मकाण्ड भर दिखा। न तो नैतिकता दिखी और न सदाचार दिखा। तुलनात्मक भाषाशास्त्र और तुलनात्मक माइथॉलॉजि के नाम पर संहिताओं की तरह, वे ब्राह्मणों में स्वेच्छाचार

---

1. As we shall see the idealistic veiw attributed to Yājñavalkya in Brihadāranyaka Upaniṣad had a real resemblance to that of Parmanides and Plato. or. at any rate. had a similar role to pay in the history of our idealogical development-ibid.
2. This is just an instance of how obviously fanciful it is to seek support for the advanced philosophical views of the later times in those early songs. It is moreover questionable how far even an advanced religious consciousness or any spiritual attitude in a modern sense is objectively to be found in at least the genuinely older portions of the Rigveda-ibid.
3. But they (Vedic deities) are often crassly human heroes. looting food and cattle for the tribes-men and sharing these out among and addressed by them in endearing terms like friends. The barbarian poets with their healthy appetite praised him (India) for being savoury and delicious-ibid.

भी नहीं कर सकते थे, इसलिए आरम्भिक पाश्चात्य वेदानुशीलियों ने ब्राह्मणों की गम्भीर गवेषणा किये बिना ही उन्हें सदाचार, कलादर्शन और सौन्दर्यशास्त्र से रहित घोषित किया। ये बातें उन्होंने इतनी बार कही हैं कि उनके उद्धरण देने की यहाँ आवश्यकता नहीं है। परवर्ती पीढ़ी के वेबर, एग्लिंग, हॉग, कालान, गास्ट्रा, बोलिंग जैसे कुछ पाश्चात्य मनीषियों ने ऐतरेय, शतपथ, ताण्ड्य और गोपथब्राह्मण के अध्ययन तथा अनुवाद किये, लेकिन वे भी इनके साथ पूरी तरह न्याय नहीं कर सके। इनमें सर्वाधिक उल्लेखनीय है ब्लूमफील्ड की गोपथब्राह्मण की समीक्षा (अथर्ववेद एवं गोपथब्राह्मण), जिसमें आद्यन्त ब्लूमफील्ड केवल यही भर सिद्ध करने में लगे रहे, कि गोपथब्राह्मण ने कितनी-कितनी सामग्री कहाँ-कहाँ से चुरायी है। अपने इस बौद्धिक उन्माद में उन्हें फिर यह दिख ही कहाँ सकता था कि गोपथ ने द्रव्यात्मक याग से आगे बढ़कर ओङ्कार, महाव्याहृतियों और सावित्री (गायत्री) के सन्दर्भ में कितनी अधिक मूल्यवान् सामग्री प्रस्तुत की है। आचार-दर्शन की दृष्टि से निश्चित ही इस सामग्री का अत्यन्त महत्त्व है।

पाश्चात्य विद्वानों की तरह आर्य-समाज के प्रवर्तक महर्षि दयानन्द सरस्वती और उनके कुछ अनुयायियों ने भी ब्राह्मणग्रन्थों को उतना गौरव नहीं दिया, जिसके वे पात्र थे। उन्होंने, पहली बात यह की कि ब्राह्मणों को वेद न मानकर मात्र उनकी व्याख्या माना। फिर भी गंगाप्रसाद उपाध्याय, स्वामी सत्यप्रकाश और क्षेमकरणदास त्रिवेदी प्रभृति विद्वानों ने ऐतरेय, शतपथ और गोपथ के राष्ट्रभाषानुवाद प्रस्तुत किये हैं। पं. विजयपाल ने गोपथ ब्राह्मण का बड़ा प्रामाणिक संस्करण प्रस्तुत किया है। ब्राह्मणग्रन्थों के अन्य सम्पादकों में पं. आनन्दचन्द्र वेदान्तवागीश, राजेन्द्रलाल मित्र, चिन्नस्वामी शास्त्री, डॉ. रघुवीर (जैमिनीयब्राह्मण), बी.आर.शर्मा, हरिनारायण आप्टे, दुर्गामोहन भट्टाचार्य (छान्दोग्यब्राह्मणम्) इत्यादि के नाम श्लाध्य हैं।

ब्राह्मणग्रन्थों पर किये गये अन्य कार्यों में पं. सत्यव्रत सामश्रमी कृत 'ऐतरेयालोचनम्' पं. भगवद्दत्त का वैदिक इतिहास (ब्राह्मण भाग) डॉ. अतुलचन्द्र बनर्जी कृत 'स्टडीज इन द ब्राह्मणाज', डॉ. मंगलदेवशास्त्री-कृत 'कौषितकि ब्राह्मण पर्यालोचनम्', डॉ. गंगासागर राय-कृत 'शांखायनब्राह्मण : एक अध्ययन', डॉ. गणेश उ. थिटे-कृत 'सैक्रीफाइस इन द ब्राह्मणाज', डॉ. ओमप्रकाश

पाण्डेय-कृत 'सामवेदीय ब्राह्मणों का परिशीलन' तथा जोगिराज वसु-कृत' इण्डिया ऑफ द एज ऑफ दि ब्राह्मणाज' प्रभृति ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं। इन सभी मनीषियों की अपनी-अपनी दृष्टि है। ब्राह्मणों के अनुशीलन में अब तक याज्ञिक, देवशास्त्रीय, निर्वचनात्मक तथा ऐतिहासिक दृष्टिकोणों का प्राधान्य रहा है।

आचार-दर्शन की दृष्टि से डॉ. मंगलदेव शास्त्री 'पूर्वसूरयः' की श्रेणी में आते हैं, लेकिन उनका कार्यमात्र कौषीतकिब्राह्मण तक परिमित है। इस दृष्टि से, सभी ब्राह्मणों की गवेषणा का महत्कार्य भी अवशिष्ट था, जिसे सर्वाधिक उपादेय समझकर प्रस्तुत लेखिका ने अपने अनुसन्धान का विषय बनाया है।

भारतीय परम्परा में ज्ञान की परिणति आचार में मानी गई है, इसलिए रामायण, महाभारत, पुराणों एवं स्मृतियों में आचार को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण माना गया है। यहाँ तक कहा गया है कि 'आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः' (आचरणहीन व्यक्ति को तो वेद भी शुद्ध नहीं कर सकते)। आचाररहित ज्ञान खपुष्प अथवा वन्ध्या स्त्री की तरह निष्फल है। ऐसा ज्ञान केवल सूचना भर देने का काम कर सकता है। व्यक्ति, समाज और राष्ट्र के जीवन-निर्माण में उसकी भूमिका तब तक अधूरी रहती है, जब तक उसे कर्मानुष्ठान और आचार से न सम्बद्ध किया जाये। आज जब भ्रष्टाचार का दानव सम्पूर्ण समाज को निगलने के लिये सक्रिय है; सम्पूर्ण तन्त्र भ्रष्टाचार का पर्याय बनता जा रहा है, उस स्थिति में आचार-दर्शन पर आधृत इस कार्य की प्रासङ्गिकता स्वयमेव सर्वोपरि हो गई है।

इस ग्रन्थ में निरूपित विषयवस्तु का अध्यायक्रम से विवरण इस प्रकार है -

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रथम अध्याय में ब्राह्मणग्रन्थों के स्वरूप, उनमें प्रतिपादित विषय-वस्तु एवं महत्त्व पर प्रकाश डाला गया है। ब्राह्मणग्रन्थों में निहित आचार-दर्शन को समझने के लिए सर्वप्रथम 'आचार' की अवधारणा को समझना अतिआवश्यक है, अतः द्वितीय अध्याय में "आचार की पारम्परिक अवधारणा" विषय पर चर्चा की गई है। तृतीय अध्याय में पौरस्त्य दार्शनिकों की दृष्टि में 'आचार' सम्बन्धी तथ्यों की जानकारी दी गयी है। चतुर्थ अध्याय

में पाश्चात्य शास्त्रीय परम्परा में विभिन्न मनीषियों के सिद्धान्त प्राप्त होते हैं जिनको क्रमशः विधानवाद, प्रज्ञावाद, सुखवाद, विकासवाद, वैराग्यवाद, कर्तव्यवाद, पूर्णतावाद और मूल्यवाद के नाम से जाना जाता है। इनमें निहित विभिन्न पाश्चात्य चिन्तकों के मतों का विवेचन "पाश्चात्य दार्शनिक प्रस्थानों में आचार-दर्शन की रूपरेखा" शीर्षक से विस्तार पूर्वक किया गया है।

ब्राह्मणग्रन्थों में निहित आचार के अवबोध के लिये यह आवश्यक है कि इनकी पूर्वपीठिका में निहित आचार को भी समझा जाये। इस दृष्टि को ध्यान में रखकर पञ्चम अध्याय में वैदिक संहिताओं में प्रतिपादित आचरण एवं व्यवहार सम्बन्धी विश्लेषण किया गया है।

ग्रन्थ के षष्ठ, सप्तम और अष्टम अध्यायों की उपादेयता के सन्दर्भ में यह कहा जा सकता है कि इन तीन अध्यायों में ब्राह्मणग्रन्थों में निरूपित आचार-दर्शन का विस्तृत सर्वेक्षण किया गया है। इनमें क्रमशः ऋग्वेदीय ऐतरेय एवं शांखायन, शुक्लयजुर्वेद की माध्यन्दिन और काण्व शाखाओं से सम्बन्धित शतपथब्राह्मण तथा कृष्णयजुर्वेद के तैत्तिरीयब्राह्मण, सामवेदीय ब्राह्मण-ग्रन्थों एवं गोपथब्राह्मण में सन्दर्भित आचार के स्वरूप को स्पष्ट किया गया है।

ब्राह्मणग्रन्थों में विभिन्न श्रौतयागों एवं गृह्यानुष्ठानों का वर्णन प्राप्त होता है। इन यागों में प्रतिपादित आचार-चेतना को क्रमशः नवम और दशम अध्याय में स्पष्ट किया गया है। इस साहित्य में मनुष्य के कल्याण-हेतु आशा, ज्ञान, शुचिता, श्रमादि जैसे महनीय तत्त्वों का अनेकशः वर्णन किया गया है, ऐसे उदात्त आचरण एवं व्यवहार से मनुष्य का अवश्य ही उत्थान होना चाहिये। वर्तमान परिस्थितियों में ब्राह्मण-ग्रन्थों में प्रतिपादित आचार सम्बन्धी विश्लेषण मनुष्यमात्र के लिये कल्याणकारी सिद्ध हो सकता है, इस सम्बन्ध में-"ब्राह्मणोक्त आचार दर्शन की साम्प्रतिक उपादेयता" नामक एकादश अध्याय में विचार किया गया है।

अन्त में ब्राह्मणग्रन्थों के सम्यक् परिशीलन से ऐसा प्रतीत होता है कि इनमें प्रतिपादित आचरणसम्बन्धी तथ्य वास्तव में उदात्त और महान हैं और इनमें सम्भवतः जीवन के प्रत्येक अंग को पूर्ण बनाने का प्रयास किया गया है।

शब्द-संकेत-सूची

अ.	अमरकोष
अ. स.	अथर्ववेद संहिता
ऋ. स.	ऋग्वेद
ऋ.	ऋग्वेद सर्वानुक्रमणी
ऋ. प्रा.	ऋग्वेद प्रातिशाख्य
ऐ. आ.	ऐतरेय आरण्यक
ऐ. ब्रा.	ऐतरेय ब्राह्मण
का. सं.	काण्व संहिता
का. सर्वा.	कात्यायन सर्वानुक्रमणी
कौ. ब्रा.	कोषीतकि ब्राह्मण
गो. ब्रा.	गोपथ ब्राह्मण
छा. उप.	छान्दोग्य उपनिषद्
छा. ब्रा.	छान्दोग्य ब्राह्मण
जै. उप. ब्रा.	जैमिनीय ब्राह्मण
जै. ब्रा.	जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण
जै. मी. सू.	जैमिनीय मीमांसा सूत्र
तै. ब्रा.	तैत्तिरीय ब्राह्मण
तै. सं.	तैत्तिरीय संहिता
नि.	निरुक्त

विषयानुक्रमणिका

प्रथम अध्याय

वैदिक वाङ्मय में ब्राह्मण ग्रन्थ

विश्व का प्राचीनतम वाङ्मय, जो सर्वप्रथम भारत में प्रणीत हुआ, वेद नाम से जाना जाता है। भारतीय परम्परा के अनुसार, 'विद्' धातु से निष्पन्न 'वेद' शब्द ज्ञान का वाचक है। आचार्य विष्णुमित्र के अनुसार 'वेद' का व्युत्पत्तिजन्य अर्थ इस प्रकार है:-

"विद्यन्ते ज्ञायन्ते लभ्यन्ते वा एभिर्धर्मादिपुरुषार्था इति वेदाः"[1]

अर्थात् धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष पुरुषार्थ जिसके द्वारा जानें जायें या प्राप्त किये जायें, वह वेद है। आचार्य सायण वेद का स्वरूप बतलाते हुए कहते हैं-इष्टप्राप्त्यनिष्टपरिहारयोरलौकिकमुपायं यो ग्रन्थो वेदयति स वेदः[2]। अर्थात् अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति और अनिष्ट के परित्याग के लिए अलौकिक उपाय जो ग्रन्थ बतलाता है वह वेद है। प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण के द्वारा अलौकिक विषयों, यथा स्वर्ग, ब्रह्म, धर्म आदि का ज्ञान नहीं हो सकता अतः इन विषयों के ज्ञान में वेद ही प्रमाण है। कहा भी गया है:-

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते।
एनं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता।।[3]

वेद का स्वरूप-निर्धारण करते हुए आचार्य बौधायन ने सर्वप्रथम यह मत व्यक्त किया कि मन्त्र और ब्राह्मण दोनों का सामूहिक नाम वेद है।[4] सम्पूर्ण

---

1. ऋक् प्रातिशाख्य, वर्गद्वयवृत्ति, सं. डॉ. शास्त्री, मंगलदेव, पृ. 5, इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद।
2. तैत्तिरीय भाष्यभूमिका, सं. उपाध्याय, बलदेव पृ.2, चौखम्बा, वाराणसी (वेदभाष्यभूमिका संग्रह में)।
3. वही; सायणाचार्य के द्वारा उद्धृत।
4. 'मन्त्रब्राह्मणं वेद इत्याचक्षते'-बौधायनगृह्यसूत्र, (26.2) मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम् तदेव (3.2.63) तथा आपस्तम्ब यज्ञपरिभाषा 1.1.31)

सूत्र-साहित्य में वेद का यही स्वरूप मिलता है। वैदिक भाष्यकारों ने भी यही मत स्वीकार किया और परवर्ती भारतीय परम्परा भी इसी मत को मान्यता देती है।[1]

सर्वप्रथम महर्षि दयानन्द जी ने वेद के मंत्र-ब्राह्मणात्मक स्वरूप पर आपत्ति प्रकट करते हुये यह विचार व्यक्त किया कि केवल संहिता भाग ही वेद है, वही ऋषि-दृष्ट है जबकि ब्राह्मण ग्रन्थ संहिताओं के भाष्यमात्र हैं। भाष्यग्रन्थ या व्याख्यान ग्रन्थ वेद नहीं हो सकते।[2] मैक्समूलर[3] विल्सन[4] और ग्रिफिथ[5] आदि अन्य विद्वानों का सम्प्रदाय केवल संहिताओं को ही वेद मानता है और अन्य के अनुसार वेद मंत्रब्राह्मणात्मक शब्दराशि है।

सूत्रकाल में 'वेद' का स्वरूप कुछ व्यापक हो गया। ब्राह्मणग्रन्थ जो मंत्रों के व्याख्यान थे उनको भी वेद माना जाने लगा। सभी सूत्रकारों तथा परवर्ती भाष्यकारों ने एक मत से ब्राह्मणों को वेद का अपरिहार्य अंग मान लिया। ब्राह्मणों को वेद के अन्तर्गत मानने का कारण यह था कि उनमें यज्ञ को भी एक विद्या माना जाता था। इसीलिए तो ब्राह्मणों में स्थान-स्थान पर यज्ञ-विधि के

---

1. मन्त्रब्राह्मणयोर्वेद इति नामधेयं षडङ्गमेक इति। तन्त्रवार्तिक 1.3.10, वेदशब्देन ऋग्यजुः सामानि ब्राह्मणसहितान्युच्यन्ते। -मनु 2.6 पर मेधातिथि, मन्त्रब्राह्मणात्मकः शब्दराशिर्वेदः। सायणकृतऋग्भाष्यभूमिका पृ. 14, जैमिनीय मीमांसा सूत्र 2.1. 32 - 33, जै.न्या.मा. वि.-2.1, 15, मन्त्रब्राह्मणयोराहुर्वेदशब्दं महर्षयः। षड्गुरुशिष्य, सर्वा.वृ.भूमिका।
2. स्वामी दयानंद सरस्वती, ऋ.भा.भू.- वेदसंज्ञाविचारः।
3. It would be indeed nearer the truth to take'veda' as a callective name for the sacred literature of the vedic age, which forms, so to speak, the background of the whole Indian world. मैक्समूलर-हि. ए.सं.लि.पृ. 17
4. We may venture to affirm in opposition to the consentient assertions of Brahmanical scholars and critics that neither of these works has the slightest laim to be regards the counterpart and contemporary of the Veda" एच.एच. विल्सन, ऋग्वेदका आंग्लानुवाद, भूमिका पृ. 13-14
5. 'Veda meaning 'literaly' Knowledge is the name given to certain ancient work which formed the foundation of early religious belief of the Hindus, these are the Rigveda. the Samaveda. The yajurveda and the Atharvaveda. आर.टी.एच. गिफिथ, 'हिम्स ऑफ द ऋग्वेद पृ. - 5

ज्ञान को स्वर्गप्राप्ति या सुखप्राप्ति का साधन माना गया है।[1] विधि के प्रवर्तन में अर्थवाद की महत्त्वपूर्ण भूमिका है और वे ब्राह्मण-ग्रन्थों में ही हैं इसलिए इन ग्रन्थों को वेद की परिधि से बाहर नहीं किया जा सकता। सूत्रकाल में जितने भी आचार्य हैं वे सभी यज्ञों के समर्थक थे। सम्पूर्ण वेदाङ्ग-साहित्य यज्ञ की प्रधानता का प्रतिपादन करता है। वेदाङ्-ज्योतिष तो सभी वेदों को यज्ञार्थ ही प्रवृत्त मानता है।[2] इसीलिए बौधायन, आपस्तम्ब आदि सूत्रकारों ने वेद का स्वरूप मंत्रब्राह्मणात्मक ही माना है।[3]

ब्राह्मण ग्रन्थों का स्वरूप

उत्तरवैदिककाल में वैदिक संहिताओं के दुर्बोध होने का अनुभव हुआ क्योंकि उस समय तक मंत्रज्ञान कुछ विशिष्ट व्यक्तियों तक सीमित हो गया था। अत: वेदमंत्रों की विशद व्याख्या की आवश्यकता अनुभव की गई। तत्कालीन परिस्थितियों में दीर्घकाल से चले आ रहे यागों का अनुष्ठानिक आधार मौखिक ज्ञानमात्र था जिसके कारण यज्ञ-विधान जटिल और संश्लिष्ट प्रतीत होने लगे। स्थान-स्थान पर सन्देह और शंकाओं का प्रादुर्भाव होने लगा। ब्राह्मवादियों के मध्य यागीय विसंगतियों के निराकरण-हेतु सम्पन्न चर्चा-गोष्ठियों, परिसंवादों और सघन विचार-विमर्श ने ब्राह्मण ग्रन्थों के प्रणयन का मार्ग विशेष रूप से प्रशस्त किया। वेदमंत्रों की सुगम व्याख्या, यज्ञीय विधि-विधानों के अतिसूक्ष्म निरूपण तथा समकालीन वैचारिक आन्दोलन को दिशा प्रदान करने की भावना मुख्यतया ब्राह्मण ग्रन्थों के साक्षात्कार की पृष्ठभूमि में निहित रही है। ब्राह्मण-ग्रन्थों के स्वरूप को समझने के लिए पहले ब्राह्मण शब्द को एवं अर्थ को जानना आवश्यक है।

ब्राह्मण शब्द एवं उसका अर्थ

मंत्र भाग के अतिरिक्त शेष वेद-भाग ब्राह्मण है, जैसा कि जैमिनि का

---

1. प्रजायते प्रजया पशुभिर्य एवं वेद-ऐ ब्रा. 11, इत्यादि
2. वेदा हि यज्ञार्थमभिप्रवृत्ता:। वे. ज्यो.-31
3. संस्कृत-साहित्य का बृहद् इतिहास सम्पादित प्रो.बी.बी. चौबे, वेद ख़ण्ड-प्रस्तावना, पृ. 52

कथन है-:'शेषे ब्राह्मण शब्दः।[1]' सायणाचार्य ने भी इसी अर्थ से सहमति व्यक्त की है[2]। कोशग्रन्थों के अनुसार वेदभाग का ज्ञापक ब्राह्मण शब्द नपुंसकलिंग में व्यवहार्य है[3]। इसका अपवाद हमें केवल महाभारत में एक स्थल पर मिलता है जहाँ पुल्लिंग में भी यह प्रयुक्त है।[4] ग्रन्थ के अर्थ में 'ब्राह्मण' शब्द का प्राचीन प्रयोग तैत्तिरीय संहिता में है।[5] पाणिनीय अष्टाध्यायी[6], निरुक्त[7] तथा स्वयं ब्राह्मण ग्रन्थों में तो एतद्विषयक पुष्कल प्रयोग दृष्टिगोचर होते हैं।[8] व्युत्पत्ति की दृष्टि से यह 'ब्रह्म' शब्द से 'अण्' प्रत्यय लगाकर निष्पन्न हुआ है। इस सन्दर्भ में सत्यव्रत सामश्रमी का अभिमत है कि 'ब्राह्मण' शब्द से ही प्रोक्त अर्थ में 'अण्' प्रत्यय लगकर 'ब्राह्मण' शब्द बना है।[9] ब्रह्म शब्द के दो अर्थ होते हैं-1. मंत्र तथा 2. यज्ञ।[10] ब्राह्मण ग्रन्थों में याज्ञिक दृष्टि से मंत्रों की विनियोगात्मक व्याख्या की गई है।[11] जिन मनीषियों ने वेद का मंत्रवत् प्रामाण्य स्वीकार नहीं किया वे भी इन्हें वेद व्याख्यानरूप मानते हैं।[12]

---

1. मीमांसा सूत्र।
2. मंत्रश्च ब्राह्मणश्चेति द्वौ भागौ तेन मन्त्रतः। अन्यद् ब्राह्मणमित्येतद् भवेद् ब्राह्मण-लक्षणम्-जैमिनीय न्यायमाला विस्तर 2 1.8 तथा 'अवशिष्टो वेदभागो ब्राह्मणम् 'ऋग्वेदभाष्यभूमिका' पृ. 37 ऐतरेयालोचन, पृ. 3-2
3. ब्राह्मणं ब्रह्मसंघाते वेदभागे नपुंसकम्-मेदिनीकोश।
4. य इमे ब्राह्मणाः प्रोक्ता मंत्रा वै प्रोक्षणेगवाम्। एते प्रमाणं उतादो नेति वासव। महाभारत (उद्योगपर्व)
5. एतद् ब्राह्मणान्येष पंच हवींषि – तै. सं., 3.7.11।
6. अष्टाध्यायी, 3.4.36।
7. निरुक्त, 4.27।
8. 'ब्रह्म वै मन्त्रः' – शतपथ ब्रा. 7.1.1.5 'वेदो ब्रह्म' जै. उप. ब्रा. 4.11.43
9. ऐतरेयालोचन, पृष्ठ-21
10. ब्राह्मणं नाम कर्मणस्तन्मन्त्राणां च व्याख्यानग्रन्थः-भट्टभास्कर, तै. सं., 1.5.1 पर भाष्य।
11. नैरुक्त्यं यस्य मंत्रस्य विनियोगः प्रयोजनम्। प्रतिष्ठानं विधिश्चैव ब्राह्मणं तदिहोच्यते। -वाचस्पति मिश्र
12. स्वामी दयानंद सरस्वती, अनुभ्रमोच्छेन; सत्यार्थप्रकाश, पृ. 299 तथा – 'तत्तन्मन्त्राणां ततद्यागायुपयोगित्वं वर्णयितुं समासतस्तात्पर्य मन्वख्यातु वा व्याख्यानानि च कृतानि। ततश्च विध्यर्थवादाख्यानपूर्वकमादिमं मंत्रभाष्यं ब्राह्मणार्मित्येव पर्यवस्यते ब्राह्मणलक्षणम्-1. ऐतरेयालोचन, पृ. -11

ब्राह्मण

ब्राह्मण ग्रन्थों का वर्तमान स्वरूप प्रवचनात्मक और व्याख्यात्मक है। विधियों तथा उनके हेतु, निर्वचन, प्रशंसा प्रभृति का निरूपण प्रवचनात्मक अंशों में है तथा विर्नियुक्त मंत्रों के औचित्य का प्रदर्शन व्याख्यात्मक ढंग से किया गया है। सुदीर्घकालीन मौखिक परम्परा से प्रचलित यज्ञीय कर्मकाण्ड का संकलन इनमें किया गया है। साथ ही ब्रह्मवादियों के मध्य होने वाले वाद-विवाद के प्रसंग भी यत्र-तत्र प्राप्त होते हैं। आधुनिक युग में महर्षि दयानन्द सरस्वती और उनके आर्य--समाज में दीक्षित विद्वानों ने ब्राह्मण ग्रन्थों को वेद न मानकर वेद-व्याख्यान ग्रन्थ मात्र माना है जबकि अधिकांश विद्वानों का विश्वास है कि मंत्र संहिताओं की तुलना में ये वेद नहीं तो वेदकल्प तो हैं ही। ब्राह्मण ग्रन्थों को श्रुतिस्वरूप स्वीकार करने वाले अधिकांश-विद्वानों ने संहितावत् इन्हें भी अपौरुषेय माना है।[1]

संहिताओं की भांति ब्राह्मणग्रन्थों का भी साक्षात्कार किया गया है। जिन ऋषियों के नाम इनसे सम्बद्ध हैं वे इनके रचयिता न होकर प्रवचनकर्ता ऋषि अथवा आचार्य हैं जिन्होंने इन्हें सम्प्रेषित किया। भिन्न-भिन्न ब्राह्मण-ग्रन्थों के प्रवक्ता भी भिन्न-भिन्न हैं।

ब्राह्मण ग्रन्थों की विषय-वस्तु

ब्राह्मण-ग्रन्थों का मुख्य विषय यज्ञ का सर्वांगपूर्ण निरूपण है। इसमें याग-मीमांसा के दो भाग हैं-विधि और अर्थवाद। विधि से अभिप्राय है यज्ञानुष्ठान, कब कहाँ और किन अधिकारियों द्वारा होना चाहिए। याग-विधियाँ अप्रवृत्त कर्मादि में प्रवृत्त कराने वाली तथा अज्ञातार्थ का ज्ञापन करने वाली होती हैं। इन्हीं के माध्यम से ब्राह्मण ग्रन्थ कर्मानुष्ठानों में प्रेरित करते हैं जैसा कि आपस्तम्ब की यज्ञपरिभाषा में कहा गया है-'कर्मचोदना ब्राह्मणानि'[2]

---

1. ब्राह्मण ग्रन्थों की श्रुतिरूपता पर अपने ग्रन्थ 'वैदिक साहित्य और संस्कृति' में आचार्य पं. बलदेव उपाध्याय ने विस्तार से विचार किया है। इसमें उन्होंने मनुस्मृति, दार्शनिक-सूत्रकारों, पाणिनीय अष्टाध्यायी, व्याकरण महाभाष्य और अन्य आचार्यों के मतों की विशद मीमांसा करते हुए ब्राह्मणों की वेदरूपता का युक्तियुक्त प्रतिपादन किया है।
2. आपस्तम्ब यज्ञपरिभाषा, सूत्र-35

विधि का स्तुति और निन्दारूप में पोषण तथा निर्वाह करने वाले वाक्य ब्राह्मणगत अन्य विषय 'अर्थवाद' कहलाते हैं। अर्थवाद वाक्यों में यज्ञनिषिद्ध वस्तुओं की निन्दा एवं यज्ञोपयोगी वस्तुओं की प्रशंसा रहती है। इस प्रकार के वाक्यों की विधिवाक्यों के साथ एकवाक्यता का उपपादन मीमांसकों ने किया है-'विधिना तु एकवाक्यत्वात् स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः'।[1] उनके अनुसार विधि और अर्थवाद वचनों के मध्य परस्पर शेषशेषि भाव अथवा अङ्गाङ्गिभाव सम्बन्ध है। अतः शबरस्वामी के मतानुसार वस्तुतः विधियाँ ही अर्थवादादि के रूप में ब्राह्मणग्रन्थों में दस प्रकार से व्यवहृत हुई हैं।[2] उदाहरण सहित इनका स्पष्टीकरण इस प्रकार है-

1. हेतु

कर्मकाण्ड सम्बन्धी किसी विशिष्ट विधि की पृष्ठभूमि में निहित कारणवत्ता का निर्देश, यथा-'तेनं ह्यन्नं क्रियते'[3] अर्थात् सूप से होम करना चाहिये क्योंकि उससे अन्न को तैयार किया गया है। इस प्रकार यहाँ सूप से हवन करने के कारण का निर्देश किया गया है।

2. निर्वचन

व्युत्पत्ति के माध्यम से याग में प्रयोज्य पदार्थ की सार्थकता का निरूपण-यथा 'तद्दध्नोदधित्वम्'[4] अर्थात् यही दही का दहीपन है।

3. निन्दा

याग में उस वस्तु की अनुपादेयता का प्रतिपादन करना, यथा-'अमेध्या वै माषाः-'[5] उड़द यज्ञ की दृष्टि से अनुपादेय हैं।

---

1. जै. मी. सू. 1.2.27
2. हेतुनिर्वचनं निन्दा प्रशंसा संशयो विधिः। परक्रिया पुराकल्पो व्यवधारणकल्पना।। उपमानं दशैवैते विधयो ब्राह्मणस्य तु। एतद्वै सर्ववेदेषु नियतं विधिलक्षणम्।। (शाबर भाष्य, 2.1.11)
3. श. ब्रा., 2.5.2.23
4. तै. सं., 5.3.3
5. वही, 5.1.8.1

4. प्रशंसा

वायु के निमित्त क्यों यागानुष्ठान किया जाये, इसका प्रतिपादन इस रूप में किया गया है कि वायु शीघ्रगामी देवता हैं। 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता।'[1]

5. संशय

इसका तात्पर्य है सन्देह, जैसे यजमान के भीतर यह सन्देह उत्पन्न हो जाये कि मैं होम करूँ कि नही। 'तदव्यचिकित्सज्जुहुवानी इमा हौषादोम्।'[2]

6. विधि

औदुम्बरी (गूलर की वह शाखा जिसके नीचे बैठकर उद्गातृ-मण्डल सामगान करता है) कितनी बड़ी होनी चाहिए, के विषय में यह विधान मिलता है कि वह यजमान के परिमाण की होनी चाहिये- 'यजमानेन सम्मिता औदुम्बरी भवति'।[3]

7. परकृति

इसका अभिप्राय है दूसरे का कार्य, यथा-'माषानेव मह्यं पचति'[4] वह मेरे लिए उड़द पकाता है।

8. पुराकल्प

अर्थात् पुराना आख्यान, जैसे-पुरा ब्राह्मणा अभैषुः[5] प्राचीनकाल में ब्राह्मण डर गये।

9. व्यवधारणकल्पना

इसका अभिप्राय है विशेष प्रकार का निश्चय करना। इसको इस उदाहरण

1. वही, 2.1.1.1.1
2. तै. सं. 6.5.9.1
3. तै. सं. 6.2.10.3
4. तत्रैव - 6.2.10.3
5. तत्रैव - 1.5.7.5

के द्वारा समझाया जा सकता है कि जितने घोड़ों का प्रतिग्रह करें, उतने ही वरुण देवता का चतुष्कपालों से याग करें-'यावतोऽश्वान् प्रतिगृह्णीयात्तावतो वारुणान् चतुष्कपालान्निर्वपेत्'।[1]

10. उपमान

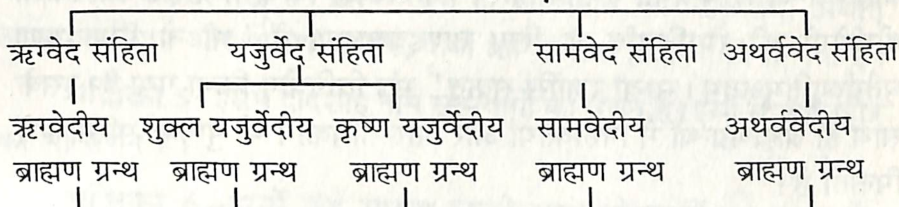
शबरस्वामी ने यद्यपि उपमान का उदाहरण नहीं दिया है किन्तु छान्दोग्य उपनिषद्[2] के इस अंश को प्रस्तुत किया जा सकता है-

'स यथा शकुनिः सूत्रेण प्रबद्धो दिशं पतित्त्वा अन्यत्रायतनमलब्ध्वा बन्धनमेवोपश्रयते, एवमेव खलु सोम्य! तन्मनो दिशं-दिशं पतित्त्वाऽन्यत्राय-तनमलब्ध्वा प्राणमेवोपश्रयते, प्राणबन्धनं हि सोम्य! मन इति।' इस प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थों में यागानुष्ठान की विभिन्न विधियों के निरूपण में प्रशंसा और निन्दा ही नहीं, उनके औचित्यबोधक हेतु भी दिये गये हैं; साथ ही यागों, उनकी अनुष्ठान-विधियों, द्रव्यों सम्बद्ध देवों, और विनियुक्त मंत्रों का छन्दस् इत्यादि के द्वारा औचित्य-निरूपण भी किया गया है। यजमान के सम्मुख कृत्यविशेष से होने वाले हानि-लाभ का यथावत् विवरण प्रस्तुत करने का प्रयत्न भी किया गया है, जो मानवीय भावना तथा मनोविज्ञान, दोनों ही दृष्टियों से उपयोगी है। अग्निष्टोम याग के अनुष्ठान के सम्बन्ध में ताण्ड्य ब्राह्मण में एक स्थल पर कहा गया है कि अग्निष्टोम याग समस्त फलों का साधन होने के कारण उपयोगी है। अग्निष्टोम याग के अनुष्ठान से समस्त फल प्राप्त हो जाते हैं।'[3] इस याग के करने से पशुसमृद्धि, ब्रह्मवर्चस् की प्राप्ति आदि अलग-अलग फलों की प्राप्ति भी हो सकती है।

ब्राह्मणग्रन्थों में कृत्यविशेष में विनियुक्त मंत्रों के औचित्य का प्रदर्शन भी किया गया है जिसे ब्राह्मणग्रन्थों की शास्त्रीय शब्दावली में रूपसमृद्धि कहा गया है। रूपसमृद्धि का अभिप्राय है-क्रियमाण कर्म के साथ विनियुक्त मन्त्र

1. तत्रैव - 2.3.12.1
2. छा. उप. - 6.8.2
3. एष वाव यज्ञे यदग्निपष्टोमः। एकस्मा अन्यो यज्ञः कामायाध्रियते सर्वेभ्योऽग्निष्टोमः। तां. ब्रा. - 6.3.1-2
4. एतद्वै यज्ञस्य समृद्धं यद्रूपसमृद्धं यत्कर्मक्रिमाणमृग्यजुर्वाऽभिवति-गो.ब्रा. 2.4.2

वैदिक संहिताओं की दृष्टि से ब्राह्मणग्रन्थों का वर्गीकरण



ऋग्वेदीय ब्राह्मण ग्रन्थ	शुक्ल यजुर्वेदीय ब्राह्मण ग्रन्थ	कृष्ण यजुर्वेदीय ब्राह्मण ग्रन्थ	सामवेदीय ब्राह्मण ग्रन्थ	अथर्ववेदीय ब्राह्मण ग्रन्थ
1. ऐतरेय ब्राह्मण	शतपथ ब्राह्मण	तैत्तिरीय ब्राह्मण	(i) कौथुम शाखा के ब्राह्मण ग्रन्थ	गोपथ ब्राह्मण
2. शांखायन (कोषीतकि) ब्राह्मण			1. पंचविंश (प्रौढ/ताण्ड्य) ब्राह्मण	
			2. षड्विंश ब्राह्मण	
			3. सामविधान ब्राह्मण	
			4. आर्षेय ब्राह्मण	
			5. मन्त्र ब्राह्मण	
			6. देवताध्याय ब्राह्मण	
			7. वंश ब्राह्मण	
			8. संहितोपनिषद् ब्राह्मण	
			(i) जैमिनीय शाखा के ब्राह्मणग्रन्थ	
			9. जैमिनीय ब्राह्मण	
			10. जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण	
			11. जैमिनीयार्षेय ब्राह्मण	

का अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है, जिससे स्वयं यज्ञ समृद्ध होता है।[4] रूपसमृद्धि तात्पर्य है विशिष्ट कृत्य के समर्थन में विनियुक्त मंत्र की सार्थकता का प्रदर्शन जहाँ विनियुक्त स्तोत्र के अर्थ से औचित्य का सीधे बोध नहीं हो पाता वहाँ ब्राह्मणग्रन्थों में मन्त्रगत देवों से कृत्य को सम्बद्ध किया गया है। यथा किसी दीर्घरोगी की रोगनिवृत्ति के लिए ताण्ड्यब्राह्मण में[1] 'आ नो मित्रावरुणा घृतैर्गव्यूतिमुक्षतम्। मध्वा रजांसि सुक्रतु'[2] मंत्र विनियोग किया गया है। इसके साथ ही ब्राह्मणग्रन्थों में निरुक्तियां और आख्यायिकायें भी पुष्कल परिमाण में मिलती है।

वैदिक संहिताओं की दृष्टि से ब्राह्मण का ग्रन्थों का वर्गीकरण और उनकी विषयवस्तु-

इस प्रकार प्रत्येक वैदिक संहिता के पृथक-पृथक ब्राह्मण ग्रन्थ हैं-ऋग्वेद संहिता के दो ब्राह्मण ग्रन्थ हैं- 1. ऐतरेय और 2. कौषीतकि। यजुर्वेद संहिता के दो ब्राह्मण ग्रन्थ हैं। सामवेद की कौथुम शाखा के ब्राह्मण ग्रन्थ चालीस अध्यायों में विभक्त हैं जो अध्याय-संख्या के क्रम से पंचविंशब्राह्मण, अद्भुत ब्राह्मण और जैमिनीय उपनिषद् तथा आर्षेय ब्राह्मण हैं, इनको क्रमशः आर्षेय ब्राह्मण और छान्दोग्य ब्राह्मण भी कहते हैं।

अथर्ववेद की नौ शाखायें हैं जिनमें एक ही ब्राह्मण उपलब्ध है जिसे गोपथ ब्राह्मण के नाम से जाना जाता है।

ऋग्वेद ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रतिपादित विषयवस्तु

1. ऐतरेय ब्राह्मण का प्रतिपाद्य

ऐतरेय ब्राह्मण में चालीस अध्याय हैं। प्रत्येक पांच अध्यायों की एक पञ्चिका होती है। अध्यायों का खण्डों में विभाजन किया गया है। इस प्रकार ऐतरेय ब्राह्मण में 40 अध्याय 8 पञ्चिकायें और 285 खण्ड हैं। पञ्चिकाओं के अनुसार वर्ण्यविषय इस प्रकार हैं-

---

1. तां. ब्रा. - 6.10.4
2. साम. - 2.20

पञ्चिका 1 और 2–इनमें 'अग्निष्टोम' याग में होता के कर्त्तव्यों का विस्तृत वर्णन है तथा अग्निष्टोम याग का विस्तृत विवेचन किया गया है।

पञ्चिका 3 और 4–प्रातः, मध्याह्न और सांयकालीन यज्ञों में बोले जाने वाले शस्त्रों का उल्लेख है। इसके साथ ही अग्निष्टोम की विकृतियों अर्थात् उक्थ्य, अतिरात्र और षोडशी नामक यागों का संक्षिप्त विवरण दिया गया है।

पञ्चिका 5–इसमें द्वादशाह नाम सोमयागों का वर्णन है। इसी में अग्निहोत्र का भी वर्णन है।

पञ्चिका 6–इसमें कई सप्ताह चलने वाले सोमयागों का वर्णन है। इसके अतिरिक्त ऋत्विजों के कार्यों का विवेचन तथा बाल्यखिल्यआदि खिलसूक्तों की विशद समीक्षा है।

पञ्चिका 7–इसमें मुख्य विषय राजसूय याग है। इसके तृतीय अध्याय में प्रसिद्ध शुनःशेप उपाख्यान है जो 'चरैवेतिं चरैवेति' गाथाओं के कारण विख्यात है।

पञ्चिका 8–इसके प्रथम दो अध्यायों में राजसूय याग का ही वर्णन है अन्तिम तीन अध्याय सांस्कृतिक और ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। तृतीय और चतुर्थ अध्याय में 10 प्रकार की शासन–पद्धतियों का विस्तृत वर्णन है। अन्तिम अध्याय में पुरोहित के धार्मिक और राजनीतिक महत्त्व का प्रतिपादन है। इसमें शत्रुनाशार्थ एक अद्भूत 'ब्राह्मपरिमर' नामक प्रयोग का वर्णन है जिसमें ब्रह्म के अन्तर्गत विद्युत्, वृष्टि, सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि का समावेश वर्णित है।

2. शांखायन ब्राह्मण का प्रतिपाद्य विषय

शांखायन ब्राह्मण में 30 अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय खण्डों में विभाजित है। इन खण्डों की संख्या 4 से लेकर 17 तक है। सम्पूर्ण खण्डों की संख्या 266 है। खण्डों में लम्बे गद्य हैं। गद्य में कई स्थानों पर कौषीतकि का उल्लेख है और उनका मत दिया गया है।[1]

---

1. 'कौषीतकि :- शांखायन 8.9

अध्याय-1	अग्न्याधान,
अध्याय-2	अग्निहोत्र,
अध्याय-3	दर्श और पूर्णमास इष्टि यज्ञ,
अध्याय-4	अनुनिर्वाप्या, अभ्युदिता, अभ्युदृष्टा आदि एकादश विशेष इष्टियाँ।
अध्याय-5	चातुर्मास्य-यज्ञ
अध्याय-6	ब्रह्मा के कर्त्तव्य, हविर्यज्ञ,
अध्याय-7	सोमयज्ञ का विस्तृत वर्णन।

सोमयागों में अध्याय 8 में अतिथि सत्कार, अध्याय 12 में अपोनपत्रीय यज्ञ के आज्य, प्रउग और अध्याय 15 में मरुत्वतीय शस्त्रों का वर्णन, अध्याय 22 और 23 में षडह के आज्य, प्रउग और अध्याय 26 में गवामयन और छन्दोमय शस्त्र का वर्णन, अध्याय 28 में प्रैष, अनुप्रैष और निगदों का वर्णन अध्याय 30 में नाभानेदिष्ठ, नाराशंस, बालखिल्य, कुन्ताप, दधिक्रा, एवयामरुत्, अतिरात्र, वाजपेय और आप्तोर्याम का भी वर्णन है।

यजुर्वेदीय ब्राह्मण ग्रन्थ

1. (क) शतपथ ब्राह्मण (माध्यन्दिन) का प्रतिपाद्य विषय

माध्यन्दिन शतपथ ब्राह्मण में 14 काण्ड, 100 अध्याय, 438 ब्राह्मण और 7624 कण्डिकाएँ हैं। सम्पूर्ण ग्रन्थ 14 भागों में विभक्त है इन्हें काण्ड कहते हैं। काण्डों के उपविभाग हैं, इन्हें कण्डिका कहते हैं। इस प्रकार इसके सन्दर्भ-निर्देश के लिए चार संख्यायें आती हैं - 1. काण्ड 2. अध्याय, 3. ब्राह्मण और 4. कण्डिका। इसका प्रतिपाद्य विषय इस प्रकार है -

काण्ड - 1	दर्श और पूर्णमास संज्ञक इष्टि याग।
काण्ड - 2	अग्निहोत्र, पिण्डपितृयज्ञ, दाक्षायण-याग, नवान्नेष्टि, चातुर्मास्य याग।
काण्ड - 3-4	सोमयाग।

काण्ड - 5	वाजपेय और राजसूय याग।
काण्ड - 6	सृष्टि-उत्पत्ति, चयन - निरूपण।
काण्ड - 7-8	चयन-निरूपण, वेदि-निर्माण।
काण्ड - 9	चयन निरूपण, शतरुद्रिय होम, राष्ट्रभृत होम।
काण्ड - 10	चयननिरूपण, छोटी और बड़ी वेदियों का निर्माण।
काण्ड - 11	दर्श-पूर्णमास, दाक्षायण-यज्ञ, उपनयन, पञ्चमहायज्ञ, स्वाध्याय-प्रशंसा।
काण्ड - 12	द्वादशाह, संवत्सर सत्र, ज्योतिष्टोम, सौत्रामणि याग, प्रायश्चित।
काण्ड - 13	अश्वमेध, पुरुषमेध, सर्वमेध, दशरात्र, पितृमेध
काण्ड - 14	प्रवर्ग्य-याग, ब्रह्मविद्या, बृहदारण्यकोपनिषद्।

(ख) शतपथ ब्राह्मण (काण्व) का प्रतिपाद्य विषय

काण्व शतपथ ब्राह्मण में माध्यन्दिन शतपथ ब्राह्मण से कुछ क्रम-विन्यास में अंतर है। इसमें 17 काण्ड, 104 अध्याय, 435 ब्राह्मण और 6806 कण्डिकाएँ हैं। माध्यन्दिन के काण्ड 2 का वर्ण्य विषय काण्ड-1 में कर दिया गया है और उसके काण्ड 1 का विषय इसमें काण्ड 2 में है। काण्व शतपथ का वर्ण्य विषय काण्डों के अनुसार इस प्रकार है। -

काण्ड - 1	अग्निहोत्र, नवान्न इष्टि (आग्रयण इष्टि, दाक्षायण, चातुर्भास्य)
काण्ड - 2	दर्श और पूर्णमास याग।
काण्ड - 3	अग्निहोत्र और दर्शपूर्णमास यागों का अर्थवाद।
काण्ड - 4-5	सोमयाग
काण्ड - 6-7	वाजपेय और राजसूय
काण्ड - 8	उरवासंभरण।
काण्ड - 9	12 विभिन्न चयन याग।

काण्ड - 13 आधानकाल, पथिकृत्, शंयुवाक्, ब्रह्मचर्य, दर्शपूर्णमास।

काण्ड - 14 सौत्रामणि, प्रायश्चित।

काण्ड - 15 अश्वमेध।

काण्ड - 16 प्रवर्ग्ययाग

काण्ड - 17 बृहदारण्यक उपनिषद्, ब्रह्मविद्या।

2. तैत्तिरीय ब्राह्मण का प्रतिपाद्य विषय

कृष्ण यजुर्वेदीय शाखा का एकमात्र यही ब्राह्मण संप्रति पूरा उपलब्ध है। यह तीन काण्डों या अष्टकों में विभक्त है। प्रथम और द्वितीय काण्ड में 8-8 अध्याय या प्रपाठक हैं। तृतीय कांड में 12 अध्याय हैं। इनके उपखंडों को 'अनुवाक' कहते हैं। इनकी संख्या 353 है। काण्डों के अनुसार प्रतिपाद्य विषय निम्नलिखित हैं -

काण्ड - 1 अग्न्याधान, गवामयन, वाजपेय, सोम, नक्षत्रेष्टि और राजसूययाग।

काण्ड - 2 अग्निहोत्र, उपहोम, सौत्रामणि, बृहस्पति सव, वैश्य सव आदि।

काण्ड - 3 नक्षत्रेष्टियाँ और पुरुषमेध।

सामवेदीय ब्राह्मण ग्रन्थ

1. ताण्ड्यमहाब्राह्मण

ताण्ड्य ब्राह्मण को 25 अध्यायों में विभक्त किया गया है, अतः इसे 'पंचविंश' ब्राह्मण कहते हैं। विषय-विवेचन की प्रौढ़ता के कारण इसे 'प्रौढ ब्राह्मण' भी कहते हैं। इसमें ज्योतिष्टोम से प्रारम्भ करके एक हजार वर्ष तक चलने वाले सोमयागों का वर्णन है। इसमें इसी के अन्तर्गत स्तोत्र, स्तोम, उनकी विष्टुतियों आदि का विस्तृत वर्णन है। यह उद्गाता के कार्यों की विस्तृत

विवेचना के कारण आदरणीय ब्राह्मण माना जाता है। अध्यायों के अनुसार प्रतिपाद्य विषय निम्न क्रमानुसार हैं–

अध्याय 1	उद्गाता के लिए पठनीय मन्त्रों का निर्देश
अध्याय 2–3	त्रिवृत्, पंचदश, सप्तदश आदि स्तोत्रों की विष्टुतियाँ।
अध्याय 4–5	वर्ष भर चलने वाले 'गवामयन' याग का वर्णन।
अध्याय 6–9	12 वें खण्ड तक ज्योतिष्टोम, उक्थ्य और अतिरात्र का वर्णन है तत्पश्चात् 12 खण्डों में विभिन्न प्रायश्चित्त सम्बन्धी विधियाँ हैं।
अध्याय 10–15	द्वादशाह यागों का वर्णन।
अध्याय 16–19	एकाह यागों का वर्णन।
अध्याय 20–22	अहीन यागों का वर्णन
अध्याय 22–25	सत्रयागों का वर्णन।

इसमें कुल 170 सोमयागों का वर्णन है। अहीन याग ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तीनों के लिये हैं। इसमें अनेक यजमान हो सकते हैं तथा दक्षिणा दी जाती है। सत्रयाग में ब्राह्मण यजमान होते हैं तथा दक्षिणा नहीं दी जाती है। यह याग 13 दिन से लेकर वर्षों तक चलता है। यह सोमयाग का ही एक अंग है जिसमें 17 से 24 तक यजमान हो सकते हैं।

2. षड्विंश ब्राह्मण

यह कौथुमशाखीय सामवेद का महत्त्वपूर्ण ब्राह्मण है जिसे पंचविंश (ताण्ड्य) ब्राह्मण का ही परिशिष्ट समझा जाता है। ताण्डय् ब्राह्मण में सोमयाग के जिन विषयों का विवेचन नहीं हुआ है उनका इसमें विवेचन किया गया है।

षड्विंश ब्राह्मण में 26 अध्याय हैं जिनके अवान्तर भेदयाखण्ड हैं। इसके प्रथम पांच अध्यायों में यज्ञ का ही विषय वर्णित है। अन्तिम अध्याय को अद्भुत ब्राह्मण कहते हैं। इसमें भूकम्प, अतिवृष्टि, अकाल, अनिष्ट, कुस्वप्न और अपशकुनों आदि के साथ ही विभिन्न उत्पातों की शान्ति के लिए विभिन्न

यागों का वर्णन किया गया है। यह ब्राह्मण तत्कालीन मान्यताओं, प्रथाओं आदि के ज्ञान के लिए बहुत उपयोगी है।

इसके प्रथम अध्याय में 'सुब्रह्मण्या' ऋचा का विशेष वर्णन है। इसके साथ-साथ भूः, भुवः और स्वः इन तीन महाव्याहृतियों से क्रमशः ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद की उत्पत्ति का वर्णन है। इस ब्राह्मण ग्रन्थ से हमें यह भी ज्ञात होता है कि अभिचार यज्ञों के समय ऋत्विज् लालपगड़ी और लाल धोती पहनते थे।[1] ब्राह्मणों का सन्ध्योपासना समय अहोरात्र की सन्धि अर्थात् प्रातः और सायं सन्धिबेला बतलाया गया है।[2]. षड्विंश ब्राह्मण में यज्ञिय विधानों के प्रसंग में आख्यायिकाएँ आयी हैं। इसमें प्राप्त इन्द्र और अहल्या वाला आख्यान बहुत प्रसिद्ध है।

3. सामविधान ब्राह्मण

प्रतिपाद्य विषय की दृष्टि से यह ब्राह्मण अन्य ब्राह्मणों से सर्वथा भिन्न है। इसमें जादू-टोने से संबद्ध सामग्री के साथ-साथ विभिन्न उपद्रवों की शान्ति के लिए सामगान के साथ ही विभिन्न अनुष्ठानों का वर्णन है। सामविधान ब्राह्मण में श्रौतयागों के साथ ही प्रायश्चित्त विधान, कृच्छादि व्रत, काम्य याग और अभिचार कर्मों का भी वर्णन है।

यह ग्रन्थ तीन प्रपाठक और 25 अनुवाकों में विभक्त है जिसमें वर्णित विषय वस्तु इस प्रकार है-

प्रपाठक 1 - प्रजापति से सृष्टि की उत्पत्ति, सामप्रशंसा, सामस्वरों के देवता, देवों के लिए यज्ञ, कच्छ्र और अतिकृच्छ्र व्रतों का वर्णन, स्वाध्याय और अग्न्याधान के नियम, दर्शपूर्णमास, अग्निहोत्र, सौत्रामणि याग, श्रौतसूत्रों के साथ देव-प्रीत्यर्थ सामगान, विभिन्न पापों के लिए प्रायश्चित्तों का वर्णन।

प्रपाठक 2 और 3 - इनमें काम्य कर्म, रोग निवृत्ति एवं क्षेम के लिए विभिन्न प्रयोग, अभीष्टसिद्धि, राज्याभिषेक, अभिचार-शान्ति, युद्ध-विजय आदि के लिए विभिन्न प्रयोग दिये गये हैं। अन्त में साम-सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्यों का वर्णन, अध्ययन के अधिकारी तथा दक्षिणा का वर्णन है।

---

1. लोहितोष्णीषा लोहितवाससो निवीता ऋत्विज : प्रचरन्ति। षड् 4.22
2. तस्माद् ब्राह्मणोऽहोरात्रस्य संयोगे सन्ध्यामुपास्ते। षड् 5.5.4

4. आर्षेय ब्राह्मण

इस ब्राह्मण में तीन प्रपाठक हैं जो 82 खण्डों में विभक्त हैं। सामगान के वैज्ञानिक अध्ययन के लिए यह ब्राह्मण विशेष उपयोगी है। सामगानों के चार प्रकारों में से केवल दो प्रकार के गानों का वर्णन है। 1. ग्रामगेय और 2. अरण्यगेय। सामगानों के नामकरण के पाँच आधारों पर सामगानों की पांच कोटियाँ हो गई हैं। ये पाँच आधार हैं –

1. उन ऋषियों के नामों के आधार पर जिन्होंने उनका साक्षात्कार किया।
2. ऋचा के प्रारम्भिक पदों के आधार पर।
3. गान के अन्तिम भाग (निधन) के आधार पर।
4. प्रयोजन के आधार पर।
5. इनसे भिन्न अन्य आधार पर।

आर्षेय ब्राह्मण ऋषि के नाम के साथ-साथ उनके गोत्र का उल्लेख करता है जैसे-हविष्मत् गान के ऋषि हैं – हविष्मान्। इनका संबंध अंगिरा गोत्र से है।

अधिकांश विद्वानों का मत है कि आषेय और देवातध्याय ब्राह्मण एक ही ग्रन्थ के दो भाग हैं। एक में सामगान के ऋषियों का और दूसरे में देवों का वर्णन है। इस ब्राह्मण ग्रन्थ में ग्रामगेय गानों का उल्लेख सामवेद संहिता के क्रम से है।

5. देवताध्याय ब्राह्मण

देवताध्याय ब्राह्मण अत्यन्त लघु और सूत्र शैली में निबद्ध है इसमें चार खण्ड हैं जो सामगानों के देवताओं से विशेष रूप से सम्बद्ध हैं। खण्डों के अनुसार वर्ण्यविषय इस प्रकार हैं –

खण्ड 1 — विभिन्न सामों से सम्बन्धित देवताओं का वर्णन तथा इन देवों से सम्बद्ध सामगानों का उल्लेख।

खण्ड 2 — छन्दों के देवता और उनके वर्णों का विशेष वर्णन।

खण्ड 3 सामषेवदीय छन्दों के नामों की निरुक्तियाँ जैसे – 'गायत्री गायते स्तुतिकर्मणः'[1]

खण्ड 4 गायन साम के आधार पर गायत्री के विभिन्न भागों की देवरूपता का वर्णन।

6. उपनिषद् ब्राह्मण

इसका नामान्तर छान्दोग्य ब्राह्मण है, जिसमें दस प्रपाठक हैं। प्रथम दो प्रपाठकों में गृह्यकृत्यों में विनियुक्तमंत्र संकलित हैं अतः इस अंश को मंत्र ब्राह्मण या मंत्रपर्व भी कह दिया जाता है।[2] शेष आठ प्रपाठक छान्दोग्योपनिषद् कहलाते हैं। छान्दोग्य ब्राह्मण में कुल 268 गृह्यमंत्र हैं। छान्दोग्य ब्राह्मण में मंत्रभाग के अतिरिक्त आठ प्रपाठकों में छान्दोग्योपनिषद् निबद्ध है जो वर्णन शैली की दृष्टि से अत्यन्त क्रमबद्ध और युक्तियुक्त है। इस उपनिषद के प्रथम पाँच अध्यायों में विभिन्न उपासनाओं का विवेचन मिलता है। इसमें अनेक महत्त्वपूर्ण आख्यान-उपाख्यान आये हैं, यथा – शिलक, दाल्लभ्य और प्रवाहण का संवाद, उषस्ति का आख्यान, शौवसाम सम्बन्धी उपाख्यान, राजा जनश्रुति और रैक्व का उपाख्यान, सत्यकाम का उपाख्यान, केकय अश्वपति का आख्यान आदि।

सामगान की दार्शनिक अधिष्ठान पर व्याख्या करते हुए ओंकार तथा साम के निगूढ़ स्वरूप का विवेचन किया गया है। शौव उद्गीथ में भौतिक प्रयोजनों से प्रेरित होकर यज्ञानुष्ठान और साम-गान करने वालों पर व्यंग के अतिरिक्त सम्भवतः सामविधान और षड्विंश ब्राह्मणों के अद्भुत शान्ति प्रकरणों में विहित विभिन्न अभिचार और काम्यकर्मों का संकेत किया गया है।

7. संहितोपनिषद् ब्राह्मण

प्रस्तुत ब्राह्मण में संहिता का विभाजन विभिन्न श्रेणियों में किया गया है–

---

1. निरुक्त, 7.12
2. सायण का कथन है-'तत्रोपनिषदाख्योयः षष्ठो ग्रन्थ श्चद्विधा मंत्र पर्व च विद्येति ....।' छा. ब्रा. भाष्यभूमिका

1. देवहू, 2. वाक्शबहू और 3. अमित्रहू। यह वर्गीकरण मन्द्रादिस्वरजन्य उच्चारण पर आधृत है जो गानविधि के बिना संभव नहीं है। द्विजराज भट्ट के अनुसार इसमें प्रथम और द्वितीय खण्डों में क्रमशः आर्चिक और गान-संहिता का निरूपण हुआ है।[1]

देवहूसंहिता - इसका उच्चारण मंदस्वर से होता है और उसके गान से देवगण शीघ्र पधारते हैं। देवहू प्रकार का उद्गाता समृद्धि, पशु, पुत्र आदि प्राप्ति करता है।

वाक् शबहू - वाक् शबहू प्रकार का गायन करने वाला अस्पष्टाक्षरों में गान करता है और शीघ्र मर जाता है। आगे संहिता का शुद्धा, दुःस्पृष्टा और निभुजा रूपों में विभाजन किया गया है।

इनके अतिरिक्त देवसृष्टि से भी संहिता का वर्गीकरण किया गया है। द्वितीय तृतीय प्रपाठकों में सामगान की पद्धति विधिपूर्वक बतलायी गयी है। तृतीयखण्ड में विद्या-दान की दृष्टि से अधिकारियों का निरूपण किया गया है। चतुर्थ और पञ्चमखण्डों में भी इसी विषय का उपबृंहण हुआ है। चतुर्थ खण्ड में प्रसंगतः विविध गुरु-दक्षिणाओं का भी विधान किया गया है जिन्हें विद्या-प्राप्ति के अनन्तर शिष्य गुरु के चरणों में समर्पित करता है।

8. वंशब्राह्मण

इसमें तीन खण्ड हैं। ग्रन्थारम्भ में ब्रह्मा, ब्राह्मणों, आचार्यों, ऋषियों और देवों - वायु, मृत्यु, विष्णु और वैश्रवण को नमस्कार करते हुए साम-सम्प्रदाय-प्रवर्तक ऋषियों और आचार्यों की वंश-परम्परा दी गई है। प्रथम दो खण्डों में रविदत्त गार्ग्य, जो परम्परा की अंतिम कड़ी हैं, से प्रारम्भ करके कश्यपान्त ऋषि परम्परा है। कश्यप ने अग्नि से, अग्नि ने इन्द्र से, इन्द्र ने वायु से, वायु ने मृत्यु से, मृत्यु ने प्रजापति से और प्रजापति ने ब्रह्मा से सामवेद को उपलब्ध किया। इस प्रकार सामवेद की परम्परा वस्तुतः स्वयंभू ब्रह्मा से प्रारम्भ होकर कश्यप ऋषि तक विभिन्न देवों के माध्यम से पहुँची और कश्यप ऋषि से प्रारम्भ होकर शर्वदत्त गार्ग्य तक गई।

---

1. 'इदं पूर्वस्मिन् आर्चिक संहिता प्रयोमार्नाधः समयुक्तः। तदन्तरं मानसंहिता विधिः। संहितोपनिषद् भाष्य पृष्ठ-334

9. जैमिनीय ब्राह्मण

यह मुख्यतया तीन भागों में विभक्त है इसके प्रथम भाग में 360, द्वितीय में 437 और तृतीय भाग में 385 खण्ड हैं। जैमिनीय और ताण्ड्य ब्राह्मणों की अधिकांश विषयवस्तु समान है, जैसे दोनों में ही सोमयागगत औद्गात्रतंत्र का निरूपण है। इसके अतिरिक्त प्रकृति याग, गवामयनसत्र, एकाह, द्वादशाह और अहीन यागों का दोनों ग्रन्थों में वर्णन किया गया है लेकिन वर्ण्य-विषय समान होते हुए भी विवरण में बहुत अधिक अन्तर है। जैमिनीय ब्राह्मण में ताण्ड्य ब्राह्मण की अपेक्षा विषय अति विस्तार से निरूपित है। आख्यानों को दृष्टि से जैमिनीय ब्राह्मण में विस्तृत वर्णन किया गया है।

जैमिनीय ब्राह्मण के प्रारम्भ और अन्त में प्राप्य श्लोकों में जैमिनि की स्तुति की गई है।[1]

जैमिनीय ब्राह्मण में ही कहा गया है –

'मोच्चैरिति होवाच कर्णिनी वै भूमिरिति।'

अर्थात् ऊँचे मत बोलो, भूमि और दीवारों के भी कान होते हैं।

10. जैमिनीयार्षेय ब्राह्मण

कौथुमशाखीय आर्षेय ब्राह्मण की भांति इसमें भी प्रथम दो वाक्यों को छोड़कर स्वाध्याय तथा यज्ञ की दृष्टि से ऋषि छन्द और देवता के ज्ञान पर बल दिया गया है। वर्ण-विषय दोनों में समान है। ग्रामगेयगानों के ऋषि निरूपण में अध्यायों और खण्डों की व्यवस्था और विन्यास भी प्रायः समान है किन्तु कहीं-कहीं दोनों संहिताओं में शाखागत अंतर के कारण गानों के क्रम में भिन्नता है। कौथुमशाखीय आर्षेय ब्राह्मण की अपेक्षा यह कुछ संक्षिप्त है।

11. जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण

सम्पूर्ण जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण चार अध्यायों में विभक्त है। अध्यायों

---

1. उज्जहारागमाम्भोधेर्या धर्मामृतमञ्जस्य न्यायोनिर्मध्ये भगवान् स प्रसीदतु जैमिनिः।। सामाखिलं सकलवेदगुरोर्मुनीन्द्राद् व्यासादवाप्य भुवियेन सहस्त्रशाखम्। व्यक्त समस्तमपि सुन्दरगीतरागं त जैमिनिं तलवकार मुखं नमामि।।

का अवान्तर विभाजन अनुवाकों और खण्डों में है। इसमें ऐतिहासिक और देवशास्त्रीय आख्यानों के साथ-साथ ऐसी प्राचीन धार्मिक मान्यतायें निहित हैं जिनका अन्य ब्राह्मणों में उल्लेख नहीं मिलता है। उदाहरण के लिए मृत व्यक्तियों का पुनः प्राकट्य और प्रेतात्माओं द्वारा उन व्यक्तियों का मार्ग-निर्देशन जो रहस्यात्मक शक्तियों की प्राप्तिहेतु पुरोहित साधकों की खोज में निरत थे। इसमें श्मशानसाधना से सम्बद्ध उन कृत्यों का भी उल्लेख है जो अतिमानवीय शक्ति पाने के लिए चिता के समीप भस्म से किये जाते हैं।

आरंभ में ओंकार और हिंकार की महत्ता पर बल दिया गया है। ओम् परम ज्ञान और बुद्धि का आदि कारण है। ओम से ही अष्टाक्षरा गायत्री की रचना हुई। गायत्री से ही प्रजापति को भी अमरता प्राप्त हुई। इसी से अन्य देवों और ऋषियों ने अमरता प्राप्त की -

'तदेतदमृतं गायत्रम्। एतेन वे प्रजापतिरमृतत्त्वमगच्छत्। एतेन देवाः। एतेनर्षयः।[1]

जैमिनीय उपनिषद् का समापन इस कथन से हुआ है-

सैषा शाट्यायनी गायत्रस्योपनिषद् एवमुपासितव्या।[2]

अथर्ववेदीय ब्राह्मण

गोपथ ब्राह्मण का प्रतिपाद्य विषय

सम्पूर्ण गोपथ ब्राह्मण में आथर्वण परिशिष्ट चरणव्यूह के अनुसार कभी सौ प्रपाठक थे[3] किन्तु वर्तमान में इसके दो भाग हैं - पूर्वभाग और उत्तर भाग। पूर्व भाग में पाँच प्रपाठक और उत्तर भाग में छः प्रपाठक हैं। इनमें क्रमशः 135 और 123 प्रपाठक हैं।

पूर्व भाग की विषय वस्तु इस प्रकार है:-

---

1. जै. उप. ब्रा. 3.7.3.1
2. वही 4.9.2.9
3. तत्र गोपथः शतप्रपाठकं ब्राह्मणमासीत्। तस्यावशिष्टे द्वे ब्राह्मणे पूर्वम् उत्तरं च।

प्रथम प्रपाठक - सृष्टि-प्रक्रिया, प्रणवोपनिषद्, गायत्र्युपनिषद् देवाङ्गिरसों तथा दक्षिणा ओंकार-जप का फल तथा आचमन-विधि आदि का वर्णन।

द्वितीय प्रपाठक - ब्रह्मचारी के महत्त्व तथा कर्त्तव्य (1-81 कण्डिकाएँ), होतादि चारों ऋत्विकों की भूमिका तथा देवयानादि का विशद निरूपण।

तृतीय प्रपाठक - दर्शपूर्णमास, ब्रह्मोद्य, अग्निहोत्र, अग्निष्टोम प्रभृति यज्ञों का विवेचन।

चतुर्थ प्रपाठक - गवामयन आदि सत्रों की मीमांसाा।

पञ्चम प्रपाठक - यज्ञ-क्रम, ऋत्विकों को वाणी आदि की प्राप्ति, अंगिरा की उत्पत्ति, ऋत्विकों के कृत्यों की विवेचना आदि।

गोपथ ब्राह्मण के उत्तर भाग में यज्ञों के व्यावहारिक अनुष्ठान पर अधिक बल दिया गया है।

प्रथम प्रपाठक - ब्रह्माख्य ऋत्विक् की प्ररोचना, दर्शपूर्ण मास, काम्येष्टियों, आग्रयण, अग्निचयन और चातुर्मास्य का वर्णन।

द्वितीय प्रपाठक - काम्येष्टियों, प्रवर्ग्येष्टि, यज्ञशरीर के भेद, सोमयाग ध्वंस, सोमस्कन्द प्रामस्थिति, स्तोमभाग, आग्नीध्र, सदस्ज्न्यकर्म, प्रस्थितगृहों आदि का निरूपण।

तृतीय प्रपाठक - वषट्कार और अनुवषटकार ऋतुगृहादि, एकाह - प्रातः सवन, एकाह माध्यन्दिन सवन आदि।

चतुर्थ प्रपाठक - षोडशियाग का निरूपण।

पञ्चम और षष्ठ प्रपाठक - अतिरात्र, सौत्रामणि, वाजपेय, आप्तोर्याम, अहीन और सत्रयाग

ब्राह्मणग्रन्थों का महत्त्व

ब्राह्मणग्रन्थों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय यद्यपि आधिदैविक है किन्तु

कहीं-कहीं प्रसंगवश आध्यात्मिक तत्त्व भी वर्णित हैं। हमें ज्ञात है कि ब्राह्मण-काल में याज्ञिक क्रियाकलापों की ही प्रधानता थी, अतः उस समय प्रचलित यागों और उनसे संबंधित देवताओं का प्रमुख वर्णन भी स्वभावतः इनमें है। ब्राह्मणों में विधि और अर्थवाद के अतिरिक्त उपनिषदीय प्रतिपादन भी किया गया है। यज्ञ न केवल कर्मकाण्ड हैं वरन् सृष्टि-विद्या के भी प्रतीक हैं। सृष्टि के गूढ़ रहस्यों के साथ ही आत्मा के अस्तित्व, पुनर्जन्म, ओंकार की उत्पत्ति, महिमा तथा उसकी सप्त व्याहृतियों से वेद का प्राकट्य, प्रजापति शब्द में पुरुष तथा ब्रह्म का आविर्भाव आदि के सन्दर्भ हमें मिलते हैं। ब्राह्मण द्वारा निष्कारण वेदाध्यन की अनिवार्यता का वर्णन, वर्ण-आश्रमों का वर्णन[1] अभिमान को सारे सुखों का नाशक तथा दुःखों का मूल कारण बताकर उससे सर्वथा दूर रहने का आदेश आदि अनेक आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक विषयों का ब्राह्मण ग्रन्थों में पूर्ण एवं विशद वर्णन मिलता है।

याज्ञिक दृष्टि से ब्राह्मण ग्रन्थों का महत्त्व

ब्राह्मण ग्रन्थ यज्ञ को एक वैज्ञानिक संस्था के रूप में प्रस्तुत करते हैं, इस तथ्य को सभी विद्वज्जन एक मत से स्वीकार करते हैं। यज्ञसंस्था के उद्भव तथा विकास को समझने में सहायक तथा उसके स्वरूप और सूक्ष्मातिसूक्ष्म क्रियाकलाप की कार्य-कारण-मीमांसा ब्राह्मण-ग्रन्थों की विशिष्ट उपलब्धि है। शतपथ ब्राह्मण में प्राकृत और कृत्रिम दो स्वरूपों में यज्ञ की चर्चा करते हुए यज्ञ को जीवन का सबसे महत्त्वपूर्ण कर्म बतलाया गया है।[2] यज्ञ की प्रतीकात्मक व्याख्या करते हुए यज्ञ का मानवीकरण किया गया है।[3] यज्ञ पंक्ति है[4] यज्ञ को देवों की आत्मा कहा गया है[5] और अनृत-भाषाणादि कार्यों से यज्ञ को क्षति पहुँचती है, यह भी बतलाया गया है। यज्ञवेदी का स्वरूप स्त्री के

---

1. 'तस्मान्नाति मन्यते पराभवस्य हयेतन्मुखं यदति मानः' शतपथ ब्रा., 5.1.1.1
2. 'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म' - श. ब्रा., 1.7.3.5
3. श. ब्रा. - 3.5.3.1, 3.5.4.1
4. श. ब्रा - 1.1.2.16
5. श. ब्रा. - 9.3.2.7

समान बतलाया गया है।[1] यज्ञ के द्रव्यमय स्वरूप के स्थान पर आत्मयज्ञात्मक रूप का बाद में वर्णन प्रारम्भ हो चुका था, यह हमें ताण्ड्य महाब्राह्मण में प्राप्त सन्दर्भों से ज्ञात होता है।[2] सहस्रसंवत्सरसाध्य-विश्वसृजामयनयाग में ब्रह्म, तपस्या, इरा, अमृत, भूतभविष्यत्काल, ऋतुओं, सत्य, यश बल, आशा, अहोरात्र और मृत्यु ने विभिन्न ऋत्विजों और द्रव्यों का स्थान ग्रहण कर यज्ञ-संपादन किया। षड्विंश ब्राह्मण श्रौतयागों के अतिरिक्त लोक विश्वास पर चलने वाले धार्मिक विश्वासों से संबद्ध आनुष्ठानिक कृत्यों का प्रस्तावक है। सामविधान ब्राह्मण में जप यज्ञ और स्वाध्याय यज्ञ को महत्त्व प्रदान करते हुए अभीष्ट-सिद्धि हेतु, अभिचार-शान्ति, युद्ध-विजय,पिशाच-वशीकरण, पितरों तथा गंधर्व-दर्शन, गुप्तनिधि आदि की प्राप्ति-हेतु बहुत से काम्य प्रयोग दिये हैं। आर्षेय ब्राह्मण के अनुसार सामगान के ऋषियों के नाम एवं गोत्र के ज्ञान से स्वर्ग, यश, धनादि फलों की प्राप्ति होती है।[3] उपनिषद् ब्रा. में गृह्यकृत्यों में सहस्र संवत्सर-साध्य यागों के विस्तृत विधिविधान की प्रस्तुति में ब्राह्मण ग्रन्थों के पूर्ण योगदान का आकलन दु:साध्य ही है। ऋग्वेदीय ऐतरेय ब्राह्मण से अथर्ववेदीय गोपथ ब्राह्मण तक सभी में मानव शरीर के विभिन्न अंगों से यज्ञ की समानता प्रस्तुत की गई है। गोपथ में यज्ञ के 21 भेद बताये गये हैं।[4] तथा इनका पृथक्-पृथक् उल्लेख भी किया गया है -

सायं प्रातर्होमो स्थालीपाको नवश्च यः।
बलिश्च पितृयज्ञश्चाष्टका सप्तमः पशुः।। इत्येते पाकयज्ञाः।
अग्न्याधेयमग्निहोत्रं पौर्णमास्यमावास्ये।
नवेष्टिश्चातुर्मास्यानि पशुबन्धोऽत्र सप्तमः।। इत्येते हविर्यज्ञाः।
अग्निष्टोमोऽत्यग्निष्टोम उक्थ्यः षोडशिमांस्ततः।
वाजपेयोऽतिरात्रश्चाप्तोर्यामात्र सप्तमः। इत्येते सुत्याः।।[5]

---

1. 'योषा वै व्वेदिर्वृषाग्नि: परिग्रह्य वै योषा त्वृषाणं शेते। श. ब्रा. - 1.2.5. 15
2. 'मनुष्य देवा:, ' यजमानो वै प्रस्तर:' - तां. ब्रा. 1.3.1
3. ऋषीणां नामधेयगोत्रोपधारणम्। स्वर्ग्य, यशस्य, धन्यं पुण्यं, पुत्र्यं पशव्यं ब्रह्मम वर्चस्यं स्मार्त्तमायुष्यम्। आर्षेय ब्रा. - 1.1.1-2
4. सप्तसुत्या: सप्त च पाकयज्ञा हविर्यज्ञा: सप्त तथैकविंशति:। सर्वे ते यज्ञा अङ्गिरसोऽपि यन्ति नूतना यानृषयो सृजन्ति ये च सृष्टा पुराणे। गो. ब्रा., 1.5.15
5. गोपथ ब्राह्मण 5.23

गोपथ ब्राह्मणकार ने 'चत्वारि शृङ्गा' प्रभृति मंत्रों की यज्ञपरक व्याख्या करते हुए यज्ञ को ही महान् देवता बतलाया है।[1]

यागेतर आध्यात्मिक तत्त्वों की दृष्टि से महत्त्व

ब्राह्मण-ग्रन्थों में आध्यात्मिकतत्त्वों का प्रचुरता से निरूपण हुआ है। शतपथ ब्राह्मण में ब्रह्म के दो रूपों-मूर्त और अमूर्त को विश्व सृष्टि का मूल हेतु माना गया है।[2] सृष्टिकर्ता प्रजापति यज्ञ है। यज्ञ में ही प्रजायें उत्पन्न हुयीं जिनसे सृष्टि का विकास हुआ।[3] हिलती हुई पृथ्वी के दृढ़ीकरण, कंकड़ एवं मृत्तिका के सृजन, पशु-औषधियों एवं वनस्पतियों की सृष्टि, अन्य लोकों तथा संवत्सर की रचना तथा विभिन्न वेदों और छन्दों के आविर्भाव का भी विस्तृत विवरण मिलता है। सृष्टि-प्रक्रिया से संबंधित सामग्री हमें तै. ब्राह्मण के द्वितीय प्रपाठक में भी मिलती है किन्तु यहाँ नासदीय सूक्त का विशेष प्रभाव परिलक्षित होता है। मन का सर्वाधिक योगदान[4] इस प्रक्रिया में बतलाते हुए सृष्टि की सुरक्षा संबंधी प्राकृतिक नियमों की चर्चा की गई है। भूमि और समुद्र सभी ऋत पर ही अवलम्बित हैं।[5] गोपथब्राह्मण में ओंकार, महाव्याहृतियों, गायत्रीमंत्र और मानसिक संयम पर विशेष महत्त्व दिया गया है। ओंकार के सहस्रसंख्यक जप का महत्त्व बताते हुए कहा गया है कि यह समस्त कामनाओं को पूर्ण करने वाला है।[6] ओंकार के महत्त्व के प्रदर्शन[7] के पश्चात् भूः भुवः, स्वः इन व्याहृतियों के साथ गायत्री की भी विशद विवेचना ब्राह्मण ग्रन्थों में की गई है।

---

1. 'महो देवः' की व्याख्या में द्रष्टव्य, गो. ब्रा (1.2.16)
2. द्वौवा ब्राह्मणा। श.ब्रा. 14.9.3.1।
3. यज्ञाद्वै प्रजा यज्ञात्प्रजायमाना मिथुना प्रजायन्ते ---- अन्ततो यज्ञस्येमाः प्रजाः प्रजायन्त - वही, 1.9.1.51.
4. असतोऽपि मनोऽसृज्यत्। मनः प्रजापतिः प्रजा असृजत्। तै.ब्रा. 2.2.9.10
5. ऋतमेव परमेष्ठि। ऋतं नात्येति किञ्चन। ऋते समुद्र आहितः। ऋते भूमिरियं श्रिता - वही, 1.9.1.5.1
6. तदेतदसरं ब्राह्मणो यं काममिच्छेत्, त्रिरात्रोपोषितः प्राङ्मुखो वाग्यतो बर्हिष्युपविश्य सहस्रकृत्व आवर्तयेत्। सिद्ध्यन्त्यस्यार्थाः सर्वकर्माणि चेति ब्राह्मणम्-गो.ब्रा., 1.4.22
7. वही - 1.1.23

गायत्री के विषय में कहा गया है कि देवों की गायत्री एकाक्षरा एवं श्वेतवर्णा है।[1] सावित्री के स्वरूप पर प्रश्न उठाते हुए सावित्री की विभिन्न प्रकार से व्याख्या की गई है।[2] इसी ब्राह्मण ग्रन्थ में भौद्गल्य और मैत्रेय के आख्यान के द्वारा 'गायत्र्युपनिषद्' के अन्तर्गत 'सावित्री' के सन्दर्भ में मिलने वाली सामग्री अत्यन्त उपादेय है। गायत्री की उपासना के विषय में भी संदर्भ मिलता है जैसे – गायत्री की उपासना करने वाला अनन्य पुण्य, श्री एवं कीर्ति का भाजन बनता है।[3] प्रजापति का उल्लेख भी ब्राह्मण ग्रन्थों में किया गया है तैत्तिरीय ब्राह्मण में आख्यायिका के माध्यम से परम तत्त्व का विवेचन किया है।[4] शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि सृष्टि के प्रारम्भ में एकमात्र ब्रह्म की सत्ता थी। तदनन्तर प्रजापति की।[5] गोपथब्राह्मण में भी ब्रह्म का सर्वोपरि महत्त्व बताया गया है कि सृष्टि का आरम्भ ब्रह्म के श्रम और तप से हुआ।[6] देवसृष्टि और लोकसृष्टि से ही तीनों वेदों और महाव्याहृतियों का निर्माण हुआ।[7] इसके अलावा 'कैवल्य' की अवधारणा का भी प्रतिपादन किया गया है।[8] आध्यात्मिक दृष्टि से प्राप्त अनेक विलक्षण क्रियाकलापों के कारण समस्त ब्राह्मण ग्रन्थ विशेष महत्त्व के आस्पद हैं।

देवशास्त्रीय दृष्टि से ब्राह्मण ग्रन्थों का महत्त्व

देवता विषयक अनेक नवीन तथ्य ब्राह्मण ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं। उदक तर्पण के सन्दर्भ में एक मंत्र मिलता है[9] जबकि इस देवता के विषय में सायण भी अपनी असमर्थता प्रकट कर देते हैं।

1. गायत्री वै देवानामेकाक्षरा श्वेतवर्णा च व्याख्याता – वही 1.1.27
2. क: सविता। का सावित्री। -वही 1.1.30-33
3. पुण्यां च कीर्तिं लभते सुरभीश्च गन्धान्। सोऽपहतपाप्मा। अनन्तां श्रियमश्नुते य एवं वेद, यश्चैषं विद्वानेवमेता वेदानां मातरं सावित्री सम्पदमुपनिषदमुपास्ते।'-गो.ब्रा., 1. 1.38
4. तै.ब्रा., 3.10.9
5. प्रजापतिर्वाइदमग्र आसीत्-श.ब्रा.6.1.3.1
6. गो.ब्रा., 1.1-6
7. गो.ब्रा., 1.1.30
8. वही, 1.1.30
9. नमोऽहमाय मोहमाय मंहमाय नमो नम: सामविधान ब्रा., 1.2.7

यद्यप्यत्र देवताविशेषः स्पष्टो न प्रतीयते

आयुर्वेद के प्रवर्तक धन्वन्तरि का संबंध वरुण के साथ बताया गया है।[1] विनायक और स्कन्द का देवों के मध्य स्थान उल्लेखनीय है।[2] वरुण के जल से संबद्ध होने के क्रम का ज्ञान हमें गोपथ ब्राह्मण से होता है।[3] शतपथ ब्राह्मण में कुल 3003 देवों की स्थिति बताई गई है लेकिन वास्तव में 33 देवताओं का ही स्वरूप निरूपण है।[4] ये हैं आठ वसु, एकादश रुद्र, द्वादश आदित्य तथा इन्द्र और प्रजापति। 'अग्नि' के सन्दर्भ में ऐतरेय ब्राह्मण[5] और शांखायन ब्राह्मण[6] दोनों में वर्णन किया गया है। ऐतरेय ब्राह्मण में कुल तैंतीस देवता माने गये हैं – 'त्रयस्त्रिंशद् वै देवाः।' देवों के मध्य इन्द्र सर्वाधिक ओजस्वी, बलशाली और दूर तक पार करने वाला है।[7] इसी ब्राह्मण में देवताओं के चतुर्विध गुणों का प्रतिपादन किया गया है। 1. देवता सत्य से युक्त होते हैं। 2. देवता परोक्ष प्रिय होते हैं। 3. देवता एक दूसरे के घर में नहीं रहते हैं तथा 4. वे मर्त्यों को अमरत्व प्रदान करते हैं।[8] अतः हम कह सकते हैं कि ब्राह्मणग्रन्थोक्त देवता विषयक विवरण अत्यन्त उपादेय है।

सांस्कृतिक दृष्टि से महत्त्व

गंगा-यमुना की अन्तर्वेदी और सरस्वती के तटों पर निवास करने वाले जनसमुदाय की सम्पूर्ण धार्मिक आस्थायें ब्राह्मणग्रन्थों में संचित हैं। धर्म के द्वितीय स्वरूप का निर्माण स्वाध्याय, जप, मंत्र-तीर्थ-दर्शन और व्रत, उपवासों से हुआ क्योंकि भक्ति-आन्दोलन की प्रबलता ने भी व्यावसायिक यज्ञों के

---

1. 'वरुणाय धनवन्तरये, सामविधान ब्रा., 1.3.8
2. वही, 1.4.19-20
3. गो.ब्रा., 1.1.7
4. श.ब्रा., 1.11.6.3.6.8
5. अग्निर्वैदेवानामवमो विष्णुः परमस्तदन्तरेण सर्वा अन्यादेवता-ऐ.ब्रा., 1.1.1
6. अग्निर्वै देवानामवराध्यो विष्णुः परर्ध्यस्तद्यश्चैव देवानामवराध्यो यश्च पराध्यर्स्ताभ्यामेवैतत्सर्वा देवताः परिगृह्य सलोकतामाप्नोति 'शां. ब्रा., 7.1
7. स वै देवानामोजिष्ठो बलिष्ठः पारयिष्णुतमः। ऐ.ब्रा. 7.16
8. ऐ.ब्रा.- 1.1.6.3.3.9.5.2.4.6.3.4

स्थान पर अन्य क्रियाओं को प्रोत्साहन दिया। धर्म के तृतीय रूप में टोने-टोटके, अभिचारकृत्य और झाड़फूंक आते हैं। यह सामान्य वर्ग में अतिप्राचीन काल से ही प्रचलित रहा है। शतपथ ब्राह्मण में वैदिक संस्कृति के सारस्वत मण्डल से पूर्व की ओर प्रसार का सांकेतिक कथन है। व्रात्य समस्या उत्तरवैदिक काल की प्रमुख सामाजिक धार्मिक प्रहेलिका रही है। व्रात्य भारतीय समाज के ऐसे आचारहीन अंग थे जिनकी वैदिक कर्मकाण्ड के प्रति अनास्था थी। इन्हें संस्कृत करने के लिए ताण्ड्य महाब्राह्मण में व्रात्यस्तोम यागों का विधान मिलता है। ऐसा ही एक अन्य पथभ्रष्ट वर्ग यतियों का था। सामविधान ब्राह्मण में सामगानों की प्रस्तुति के संदर्भ में ऐसे अनेक मंत्र प्रयुक्त हुये हैं जो सांस्कृतिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों में विद्यमान सांस्कृतिक तथ्यों का पल्लवन हमें स्मृतियों, इतिहास एवं पुराणों में कालान्तर में दिखायी देता है।

ऐतिहासिक एवं भौगोलिक दृष्टि से महत्त्व

ब्राह्मण ग्रन्थों में विविध क्रियाकलापों और आख्यानों तथा उपाख्यानों में अनेक इतिहास और भूगोल की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण तथ्य समाविष्ट हैं। ऐतरेय ब्राह्मण में ऐन्द्र महाभिषेक के प्रसंग में हमें अनेक ऐतिहासिक नाम मिलते हैं। जैसे परीक्षित पुत्र जनमेजय, मनु पुत्र शर्यात् अविक्षित पुत्र मरुतय सुदास, पैजवन, शतानीक और दुष्यंतपुत्र भरत। भरत के पराक्रम की प्रशंसा करते हुए कहा गया है[1] –

महाकर्म भरतस्य न पूर्वे नापरे जनाः।
दिवं मर्त्य इव हस्ताभ्यां नोदापुः पञ्च मानवाः।।

शतपथ ब्राह्मण में गांधार, केकय तथा शाल्व जनपदों की विशेष चर्चा की गई है। आर्यावर्त के मध्य तथा पूर्वभाग - कुरु, पांचाल, कोसल, विदेह सृंजय आदि जनपदों का उल्लेख है। अश्वमेध के प्रसंग में अनेक प्राचीन सम्राटों यथा दुष्यन्त, जनक और जनमेजय का उल्लेख है। तत्कालीन जनपदों और नदियों का विस्तृत भौगोलिक विवरण ताण्ड्य ब्राह्मण को गहरी ऐतिहासिक

---

1. ऐ.ब्रा.-8.4.9

अर्थवत्ता देता है। ऋषियों में वसिष्ठ -शिला, प्रभव, गुंगुवास, अगस्त्यतीर्थ, कश्यपमतंग इत्यादि भौगोलिक महत्त्व के स्थानों का उल्लेख है।[1] जनपदों में कुरु, पांचाल, अंग, मगध, काशी, शाल्व, मत्स्य, सवश, उशीनर[2] तथा राजाओं में परीक्षित पुत्र जनमेजय तथा राजा यौवनाश्व मान्धाता के नामों[3] का उल्लेख है। ऐतरेय ब्राह्मण में मध्यप्रदेश का आदरपूर्वक उल्लेख है–[4] "ध्रुवायां मध्यमायां प्रतिष्ठायां दिशि।" उस समय भारत के पूर्व में विदेह आदि जातियाँ राज्य करती थीं।[5] दक्षिण में भोज, पश्चिम में नीच्य व अपाच्य उत्तर में उत्तरकुरु और उत्तरमद्र तथा मध्य भाग में कुरु-पांचाल राज्य थे।

गोपथ ब्राह्मण में सर्पवेद, पिशाचवेद, असुरवेद के साथ इतिहास वेदा और पुराणवेद का उल्लेख मिलता है।[6]

वैज्ञानिक दृष्टि से महत्त्व

ब्राह्मण ग्रन्थ यज्ञों को एक वैदिक संस्था के रूप में प्रस्तुत करते हैं। इनमें प्राकृतिक विपदाओं से बचने हेतु अनेक विधियों का उल्लेख मिलता है। षडविंश ब्राह्मण के अष्टम खण्ड में वायुदेव से सम्बद्ध उत्पातों जैसे वायु का अतिरेक अथवा अभाव आदि के शमन-हेतु होमविशेष विहित है। इसके निमित्तविशेष हैं पर्वतों का टूटकर गिरना, घर में वन्य पशुओं का प्रवेश, आकाश में मांस खण्ड और रुधिरादि की वर्षा इत्यादि। नवम खण्ड में यजमान के द्वारा स्वर्गाभिमुख होकर क्षौम के अद्भुतों की शान्तिका विधान हैं। इस होम के निमित्तविशेष हैं - नक्षत्र टूटकर गिरने लगना, उल्कापात, अन्तरिक्ष में धूमकेतु का आविर्भाव आदि। सप्तम खण्ड में अग्नि से संबंधित अपशकुनों के निवारणहेतु विशेष विधि का विधान किया गया है। जब पृथ्वी फटने लगे, कम्पन अथवा अनग्नि धूम हो, बिना वर्षा के जल गिरे, जल में प्रक्षिप्त पत्थर

1. गो.ब्रा.-1.2.8
2. गो.ब्रा.-1.2.10
3. गो.ब्रा.-1.2.10
4. ऐ.ब्रा.-8.4
5. ऐ.ब्रा.-8.3.2
6. ऐ.ब्रा.-1.1.10

न डूबे और प्रक्षिप्त मृत-शरीर डूब जाये, अकाल पुष्प फल उत्पन्न हों तब यह विधि अनुष्ठेय है। ग्यारहवें खण्ड में रुद्र तथा 12वें खण्ड में सूर्यदैवत्य अद्‌भुतों की शान्ति का विधान मिलता है। ऐतरेय ब्राह्मण के अध्याय 30 में हमें पृथ्वी सम्बन्धी वैज्ञानिक जानकारी मिलती है। पृथ्वी के प्रारम्भ में गर्भरूप का विवरण प्राप्त होता है - आदित्यों ने अङ्गिरसों को दक्षिणा में पृथ्वी दी। उन्होंने उसे तपा डाला, तब पृथ्वी सिंहिनी होकर मुख खोलकर मनुष्यों के भक्षण-हेतु दौड़ी। पृथ्वी की इस जलती हुई स्थिति में उसमें उच्चावच गर्त बन गये। इसके अलावा पृथ्वी अंतरिक्ष और स्वर्गलोकों का वर्णन मानव आयु - 'शतायुर्वै पुरुषः'[1] एवं पूर्णायु भोगने के उपायों का वर्णन अग्नि, सोम, सूर्य, अपामार्ग का वर्णन कीटाणुनाशक के रूप में जल का वर्णन आदि आज भी विज्ञान की दृष्टि से हमारे लिये उपादेय हैं।

आख्यान-उपाख्यानों की दृष्टि से महत्त्व

ब्राह्मण ग्रन्थों में आख्यान-उपाख्यान बृहत् परिमाण में संकलित हैं जिनका प्रयोजन याग से सम्बद्ध देवता, छन्द एवं अन्य उपादानों का कथात्मक ढंग से औचित्यनिरूपण है। ऐतरेय ब्राह्मण के 33वें अध्याय में सन्निविष्ट शुनः शेप आख्यान अथवा हरिश्चन्द्रोपाख्यान समाजशास्त्रीय, नृतत्त्वशास्त्रीय एवं धर्मशास्त्रीय दृष्टि से अति महत्त्वपूर्ण हैं। शतपथ ब्राह्मण के अनेक आख्यानों का विस्तार हमें ऐतिहासिक और पौराणिक ग्रन्थों में परिलक्षित होता है यथा इन्द्र-वृत्र-युद्ध, च्यवन भर्गव तथा शर्यात-मानव, पुरूरवा-उर्वशी, कोशिन् राजन्य, मनु एवं श्रद्धा तथा जलप्लावन के आख्यान तैत्तिरीय ब्राह्मण के तृतीय काण्ड के दशम प्रपाठक में महर्षि भारद्वाज से सम्बद्ध आख्यान आया है जिसमें वेदों के आनन्त्य 'अनन्ता वै वेदाः'[2] का प्रतिपादन है। सीता-सावित्री की प्रथितआख्यायिका, उषस् द्वारा प्रिय-प्राप्ति के आख्यान के साथ-साथ सृष्टि यज्ञ एवं नक्षत्र विषयक आख्यान तो हैं ही, देवविषयक आख्यान भी देवशास्त्र के विकास पर प्रकाश डालते हैं। ताण्ड्य ब्राह्मण में भी 180 आख्यायिकायें यत्र-तत्र दृष्टिगोचर होती हैं। छान्दोग्य उपनिषद् के अन्तिम तीन अध्यायों में

---

1. शांखायन ब्राह्मण, 7.7
2. तैत्तिरीय ब्रा. 3.10.11.3

तत्त्वज्ञान के सन्दर्भ में अनेक आख्यान आये हैं यथा-शिलक दालभ्य और प्रवाहण संवाद, शौव साम, राजा जानश्रुति और रैक्व, सत्यकाम तथा केकय अश्वपति के आख्यान ब्राह्मणोक्त हैं। पुराणों में भी आख्यानों का पल्लवन हुआ है।

साहित्यशास्त्रीय महत्त्व

ब्राह्मण साहित्य वैदिक और लौकिक संस्कृत-साहित्य के मध्य सेतु-स्वरूप है। इनमें अनुभूति और अभिव्यक्ति दोनों ही दृष्टियों से उत्कृष्ट साहित्यिक सौष्ठव निहित है। यद्यपि इनका मुख्य प्रतिपाद्य याग ही रहा है किन्तु विविध यागों के प्रस्तुतिकरण में दृष्टिगोचर हाने वाली कल्पना -प्रवणता को विस्मृत नहीं किया जा सकता है। इनमें रस-निष्पत्ति और भाव-व्यंजना भले ही पुष्कल परिमाण में नहीं है किन्तु मानवीय भावों जैसे कामना, आकांक्षा आदि को समझे बिना प्रशस्ति या निन्दा के माध्यम से याग की प्रेरणा उत्पन्न करना संभव नहीं है। साहित्य में स्थायिभावों की योजना जिन मूल मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियों - राग, क्रोध, भय, विस्मय, घृणा और विराग के आधार पर की गई है, ब्राह्मण ग्रन्थों के साक्षात्कर्ता - ऋषियों को इनकी गहरी प्रतीति है। गोपथब्राह्मण में सूत्रकाल में विकसित वैयाकरणिक शब्दावली का भी उल्लेख है - जैसे धातु, प्रातिपदिक, विभक्ति, प्रत्यय, विकार, विकारी आदि।[1]

ब्राह्मण ग्रन्थों में लाक्षणिकता, उपमा और रूपक-विधान पदों एवं अक्षरों की आवृत्ति एवं उससे उत्पन्न होने वाले लालित्य और प्रभावोत्पादकता जैसे भाव स्पष्ट दिखायी देते हैं। अर्थवाद के तीन भेद हैं 1. गुणवाद, 2. अनुवाद, और 3. भूतार्थवाद। गुणवाद लक्षणा के अतिनिकट हैं जिसके उदाहरण ब्राह्मण ग्रन्थों में इस प्रकार हैं - 'स्तेनं मनः', 'आदित्यो यूपः'' श्रृणोत-ग्रावाणः' इत्यादि। ये कथन उन्मत्त-प्रलाप के सदृश प्रतीत होते हैं। इसी कारण इस प्रकार के वाक्यों में मीमांसकों ने लक्षणा का आश्रय लिया है। साहित्यशास्त्रीय ग्रन्थों में भी लक्षणानिरूपण के प्रसंग में आचार्यों ने 'यजमानः प्रस्तर' 'आदित्योयूपः' प्रभृति ब्राह्मण ग्रन्थों से भी उदाहरण प्रस्तुत किये हैं।

---

1. गो.ब्रा.-1.1.25-27

षड्विंश ब्राह्मण में उपमा के अनेक उदाहरण मिलते हैं जैसे-विधि का परिचय प्राप्त किये बिना होम करना वैसे ही है जैसे अंगारों को हटाकर राख में आहुति डालना।[1] एक अन्य उदाहरण है- जैसे क्षुधित बालक माता के पास जाते हैं वैसे ही कष्ट में पड़े प्राणी भी अग्निहोत्र करते हैं।[2]

ब्राह्मण ग्रन्थों में रूपकविधान की उपादेयता

मीमांसकों ने सर्वप्रथम ब्राह्मण ग्रन्थों में रूपक-विधान के महत्त्व को प्रकाशित किया है।[3] कुमारिल भट्ट ने कहा है कि रूपक के द्वारा यज्ञ की स्तुति अनुष्ठान-काल में ऋत्विजों, यजमानों एवं अन्य व्यक्तियों में भी उत्साह का संचार करती है -

'रूपकद्वारेण याग-स्तुतिः कर्मकाले उत्साहं करोति।'

ब्राह्मण-ग्रन्थों में रूपकों का विस्तृत संकलन किया गया है। इनमें अधिकांश नर-नारी संबंध पर आधृत हैं। सम्भवतः मानवीय रुचि को ध्यान में रखकर ही ब्राह्मणग्रन्थकारों ने युग्मजीवन के रूपकों को यागक्रिया के सन्दर्भ में प्रस्तुत किया है। ताण्ड्य ब्राह्मण में एक अतिविस्तृत रूपक मिलता है[4] जिसमें तपस्या, सत्य, ओज, यश, प्राणशक्ति, आशा, बल, वाक् आदि की विश्व-सृष्टि के सन्दर्भ में भूमिका को विश्वस्रष्टा देवों के द्वारा अनुष्ठीयमान यागात्मक रूपक के माध्यम से व्यक्त किया गया है।

ब्राह्मण ग्रन्थों में विविध निर्वचनों के द्वारा निरुक्त शास्त्र का गुण प्रतिष्ठित दिखायी देता है। इसी प्रकार संगीतशास्त्र का शास्त्रीय अध्ययन सामवेदीय ब्राह्मणों में प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त ब्राह्मणोक्त ब्रह्मविवेचन नैतिक शिक्षा के नियम एवं आचारपरक तथ्य भारतीय दर्शन की आधारशिला हैं। इनमें स्त्री का महत्त्व, उसके पतिव्रता एवं पुरुष के लिए एक पत्नीव्रत होने का

---

1. 'स य इदमविद्वान् अग्निहोत्रं जुहोति यथाङ्गासनमपोह्य भस्मनि जुहुयात् तादृक तत् स्यात्।-षड्.ब्रा., 5.24.1
2. वही, 5.24.5
3. अभिधानेऽर्थवादः- जै.मी.सू., 1.2.46
4. तां.ब्रा. 25.10.4

वर्णन, सुकन्या बालिका द्वारा अश्विनीकुमारों के पिता द्वारा कन्या के दिये जाने का महत्त्व[1] स्त्रीहत्या का जघन्य पाप के रूप में वर्णन, सत्यवादन का महत्त्व एवं असत्य का निष्कृतिरहित महापाप के रूप में वर्णन किया गया है। शतपथ ब्राह्मण आदि में दी गई वेदिनिर्माण-विधि परकालीन शुल्बसाहित्य, रेखागणित एवं ज्यामिति शास्त्र की आधारशिला है। ब्राह्मण ग्रन्थों में वर्णित कृषि, व्यापार वाणिज्यादि अर्थशास्त्रीय, वर्ण एवं आश्रमव्यवस्थादि समाजशास्त्रीय तथा सभा, समिति, राज्यशासन, विविध शासन-प्रणालियाँ इत्यादि का राजनीतिपरक विवेचन किया गया है। ब्राह्मणग्रन्थों के ऋषियों ने अपने कार्य के प्रति आचार एवं निष्ठा प्रदर्शित करते हुए यज्ञसंस्थाओं की स्थापना करके मानव को कर्मनिष्ठ बनाने का स्तुत्य प्रयास किया है।

---

1. श.ब्रा. 1.1.19

द्वितीय अध्याय

आचार की पारम्परिक अवधारणा

मनुष्य के मन में जब विचारों का उदय हुआ तो उसका ध्यान सर्वप्रथम बाह्य जगत् की ओर गया। कुछ काल के पश्चात् उसने जीवन की व्यावहारिक आवश्यकताओं को समझने का प्रयास किया, जीवन के उद्देश्य को जानने की इच्छा उसके अन्दर जाग्रत हुई जो 'आचार' की उत्पत्ति में प्रेरणास्त्रोत बनी। अतः हम समझ सकते हैं कि आचार वह बौद्धिक प्रणाली है जिसके द्वारा नैतिक चेतना की निरन्तर खोज की जाती है। 'आचार' शब्द के व्युत्पत्तिजन्य अर्थ को बिना जाने हम इसके तात्पर्य को स्पष्ट रूप से नहीं समझ सकते हैं। अतः 'आचार' शब्द की निष्पत्ति आचरति एनम् अनेन इतिवा (इसका या इसके द्वारा आचरण करता है।) अर्थ में आ+चर्+घञ् व्युत्पत्ति से हुई। विद्वानों ने 'आचार' को नीति, धर्म या कर्तव्य नामों से भी अभिहित किया है।

'आचार' और 'नीति' दोनों शब्द आंग्ल भाषा के 'एथिक्स' या 'मौरेलिटि' के हिन्दी पर्याय हैं। इसके ज्ञान के लिये ही 'नीतिविज्ञान' या 'आचारविज्ञान' व्यवहृत हैं। अंग्रेजी के 'एथिक्स' शब्द की उत्पत्ति मूलतः ग्रीक भाषा के विशेषण 'एथिका' से हुई जो रीति-रिवाज, अभ्यास या आदत के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इसी प्रकार अंग्रेजी का 'मॉरेलिटी' शब्द जिसे 'मॉरल फिलॉसफी' अथवा 'साइन्स ऑफ मॉरलिटी' आदि से भी जाना जाता है। इसमें 'मॉरल' शब्द की उत्पत्ति लैटिन भाषा के 'मोर्स' संज्ञा शब्द से हुई है। यहाँ 'मोर्स' का अर्थ रीति-रिवाज या आदत है।[1] अतः 'आचारशास्त्र' का शाब्दिक अर्थ हुआ- 'मानव के रीति-रिवाजों अथवा अभ्यास का विज्ञान'। वास्तव में रीति-रिवाज या अभ्यास मनुष्य के कर्मों के प्रतिफल ही हैं जिन्हें प्रचलन,

---

1. एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका, भाग-8 पृ. 757.

व्यवहार या आदत के रूप में भी जाना जाता है। मानव-चरित्र के निर्माण में इनकी प्रमुख भूमिका होती है। अतः दूसरे शब्दों में 'आचार-शास्त्र' को यदि मनुष्यों के 'चरित्र का विज्ञान' कहा जाये तो अत्युक्ति न होगी।

हम अपने दैनिक ज़ीवन में विभिन्न सामाजिक प्राणियों के साथ जो व्यवहार करते हैं वही मानव का आचरण कहलाता है। 'आचरण' के लिये अंग्रेजी भाषा में 'कण्डक्ट' शब्द का प्रयोग किया गया है। इसके द्वारा केवल मानव की ऐच्छिक क्रियाओं की ओर ही संकेत किया गया है। यदि कोई व्यक्ति प्रयोजनवश किसी क्रिया को सम्पन्न करता है तो वह ऐच्छिक क्रिया है लेकिन हम प्रतिदिन खाँसना, छींकना, साँस लेना आदि अनेक अनैच्छिक क्रियाएँ भी सम्पन्न करते हैं। इन अनैच्छिक क्रियाओं को आचार-शास्त्र के साथ समीकृत नही किया गया है। आचार से सम्बन्धित क्रियाएँ मनुष्य के द्वारा सोच, विचार और सीख कर की जाती हैं। डॉ. भीखनलाल आत्रेय ने मनुष्य की दैनन्दिन खान-पान, काम-क्रोधादि क्रियाओं को भी इस सन्दर्भ में प्रभावशाली माना है[1] जिस प्रकार नाटक में पात्रों को योग्यता के अनुसार भूमिका का निर्वाह करना पड़ता है, ठीक उसी प्रकार यह जगत् भी एक नैतिक रंगमंच है जहाँ हम सभी लोग अपनी-अपनी भूमिका का निर्वाह करने आये हैं। मानव जीवन के श्रेष्ठ उद्देश्य और नैतिक आदर्शों का ज्ञान हमें जिस शास्त्र के द्वारा होता है उसे अलग-अलग विद्वानों के द्वारा आचारशास्त्र, नीतिशास्त्र, धर्मशास्त्र और कर्तव्यशास्त्र आदि नामों से व्यवहृत किया जाता है।

आचार के समानार्थी शब्द और उनका व्युत्पत्यात्मक अर्थ

सामान्यतः 'धर्म' और 'कर्तव्य' शब्द आचार और नीति से अलग प्रतीत होते हैं तथा इनके अंग्रेजी रूप भी क्रमशः 'रिलीजन' और 'ड्यूटी' हैं लेकिन वास्तव में इन सभी के अर्थ एक ही लक्ष्य की पूर्ति करते हैं। विद्वानों ने इस बात को सिद्ध कर दिया है कि अंग्रेजी का 'रिलीजन' शब्द संस्कृत अथवा

---

1. "प्रत्येक विचार, प्रत्येक आकांक्षा, इच्छा, सुख दुःख का अनुभव हमारे जीवन-प्रासाद के निर्माण में ईंट, पत्थर, लोहे, लकड़ी, चूने, सीमेन्ट, गारे और पानी का काम करते हैं।" -भारतीय नीतिशास्त्र का इतिहास, भीखनलाल आत्रेय, पृ.8

हिन्दी भाषा के 'धर्म' शब्द का पर्याय नहीं है। 'रिलीजन' शब्द का प्रयोग अत्यन्त संकुचित अर्थ में किया गया है-प्राय: किसी विशेष उपासना-प्रणाली के सन्दर्भ में, जबकि भारतीय परम्परा का 'धर्म' शब्द सम्पूर्ण जीवनपद्धति को आत्मसात् करने की क्षमता रखने वाला व्यापक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। 'रिलीजन' शब्द लेटिन भाषा के 'रिलीजियों' शब्द से निष्पन्न हुआ है जो मूलत: 'रेलिगारे' (बांधना) धातु से सम्बद्ध है। अत: यह शब्द समाज के विभिन्न मानवों को बांधने वाली अनुष्ठान-विधियों का द्योतक है। इसके अतिरिक्त यह शब्द देश तथा काल की परिधि में सीमित होता है। आचार्य बलदेव उपाध्याय ने 'रिलीजन' और धर्म दोनों के भिन्न स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा है-"रिलीजन का यथार्थ पर्याय 'मजहब' है न कि धर्म। किसी देश-विशेष में किसी विशिष्ट व्यक्ति द्वारा सामयिक उपयोगिता की दृष्टि से एक दूसरे को विशिष्ट समाज के रूप में बांधने के लिये जो आचार, प्रधान नियम बनाये जाते हैं वे ही 'रिलीजन' के अन्तर्गत आते हैं.........उधर 'धर्म' होता है ईश्वर निर्मित, नित्य, सर्वदा, स्थायी, देशकाल की सीमा का अतिक्रमण करने वाला तत्त्व।"[1]

धर्म को 'धर्म' इसीलिये कहा गया है क्योंकि 'ध्रियते अनेनेति धर्म:' अर्थात् धर्म धारण किया जाता है। इस कथन से हमारी शंका का पूर्ण समाधान नहीं होता बल्कि पुन: नवीन प्रश्न हमारे समक्ष उपस्थित हो जाता है-क्या धारण किया जाता है? इस प्रश्न के उत्तर में यह कहना अनुचित नही होगा कि धर्म के द्वारा मनुष्य, मनुष्य के रूप में धारण किया जाता है। मानव समाज के साथ-साथ सम्पूर्ण जगत् की प्रतिष्ठा भी धर्म में ही है क्योंकि संसार में पदार्थ और द्रव्यों के एकत्र, धारण एवं संयोग से मानव-जीवन का निर्वाह सम्भव है।[2] वेद भी इसका समर्थन करते हैं। वेद अनेक क्षेत्रों में हमारे कर्मों का विधान करते हैं, उन कर्मों का पालन करना ही धर्म है। महाभारत के शान्तिपर्व में व्यास द्वारा प्रतिपादित परिभाषा धर्म के स्वरूप को स्पष्ट रूप से व्यक्त करती

---

1. भारतीय धर्म और दर्शन-आचार्य बलदेव उपाध्याय, पृ. 13.
2. धर्मो विश्वस्य जगत: प्रतिष्ठा.........।

है।[1] वैशेषिक दर्शन के प्रणेता महर्षि कणाद ने भारतीय धर्म का लक्ष्य बतलाते हुए कहा है कि जिससे इस लोक तथा परलोक दोनों में सफलता मिले वही धर्म है।[2] इहलोक की सफलता को अभ्युदय तथा परलोक की सफलता को निःश्रेयस् कहते हैं। मनुस्मृति में धर्मलक्षण में प्रतिपादित निर्दिष्ट तत्त्व[3] वास्तव में सामाजिक प्रगति एवं कल्याण के लिए आवश्यक हैं। धर्म ही वे नियम हैं जिनसे जीवन मानवोचित ढंग से भलीभाँति चलता रहा है।[4] महामहोपाध्याय पी.वी. काणे के 'धर्मशास्त्र के इतिहास' ग्रन्थ में हमें विभिन्न धर्मशास्त्रकारों के मतों के द्वारा यह ज्ञात होता है कि प्राचीन काल में सम्पूर्ण मानव-जीवन से सम्बद्ध धारणा से ही धर्म का अभिप्राय था।[5]

महान् दार्शनिक डॉ. राधाकृष्णन् ने धर्म के सन्दर्भ में अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया है-"धर्म चारों वर्णों और चारों आश्रमों के सदस्यों द्वारा जीवन के चार पुरुषार्थों (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष) के सम्बन्ध में पालन करने योग्य मनुष्य का समूचा कर्तव्य है।"[6] पाश्चात्य विचारक हॉवेल भी भारतीय धर्म की व्यापकता पर चर्चा करते हैं-"भारत में धर्म केवल विधि ही नहीं, अपितु जीवन की विभिन्न अवस्थाओं लिए संघात आचरण की प्राक्कल्पना

---

1. धारणात् धर्म इत्याहुः धर्मो धारयते प्रजाः। यस्माद् धारणसंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः।।-महाभारत शान्तिपर्व, 108. 11.
2. यतोऽभ्युदय निःश्रेयससिद्धिः स धर्मः-वैशेषिक दर्शन, 1.1.2
3. अहिंसा सत्यमस्तेय शैचमिन्द्रिय-निग्रहः। धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्।। मनुस्मृति. 6.92
4. धर्मो ही तेषामधिकोविशेषः धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः महाभारत-शान्तिपर्व, 294.23
5. धर्म किसी सम्प्रदाय या मत का द्योतक नहीं है, प्रत्युत यह जीवन का एक ढंग या आचरण-संहिता है जो समाज के किसी अंग एवं व्यक्ति के रूप में मनुष्य के कर्मों और कृत्यों को व्यवस्थापित करता है तथा उनमें क्रमशः विकास लाता हुआ उसे मानवीय अस्तित्व के लक्ष्य तक पहुँचने योग्य बनाता है।
   – धर्मशास्त्र का इतिहास-म.म. डॉ. पाण्डुरंग वामन काणे, प्रथम भाग, पृष्ठ 101 (हिन्दी अनुवाद उ.प्र. हि. संस्थान, लखनऊ).
6. धर्म और समाज

है।"[1] एक अन्य विचारक हाकिंग का धर्म के व्यापक स्वरूप के विषय में कथन है-"स्वभावत: अनन्त उत्कर्ष की समाप्ति के समय प्राप्त किये जा सकने वाले विषयों के एकाकी अनुभव में वर्तमानकालीन उपलब्ध धर्म है।"[2]

नीति और धर्म परस्पर अत्यधिक जुड़े हुए हैं। यदि नैतिकता को धर्म से पृथक् कर दिया जाये तो आचार का कोई स्वरूप नहीं रह जायेगा।

आचार और नीति के अर्थ में कर्त्तव्य शब्द भी प्रयुक्त होता है। 'कर्तव्य' शब्द की व्युत्पत्ति 'कृ (करणे)' धातु से 'तव्यत्' प्रत्यय के योग से होती है। इस 'कर्तव्य' शब्द का अभिप्राय मनुष्य के उन कार्यों से है जो मानव को उसके लक्ष्य तक पहुँचाने में अथवा जीवन को सम्यक् रूप से चलाने के लिए करने चाहिये।

नीति के रूप में आचार और धर्म का प्रयोग संस्कृत साहित्य में पुष्कल परिमाण में मिलता है। नीति का समावेश राजनीति, रणनीति आदि अन्य अर्थों में भी किया जाता है किन्तु 'णी प्रापणे' धातु में भावार्थक 'क्तिन्' प्रत्यय के संयोग से निष्पन्न होने वाला नीति शब्द आचार के पर्याय के रूप में है। नीति मनुष्य को अपने उद्देश्य तक पहुँचाती है इसीलिये नीति(नयन) का अर्थ ले जाना अर्थात् पहुँचाना होने पर भी 'उचित व्यवहार' के अर्थ में इसका विस्तार हुआ है। प्राचीन काल से ही अस्पष्ट रूप में मानव जीवन का नियमन परम्पराएँ और प्रथाएँ करती आ रही हैं।

हम कह सकते हैं कि इस प्रकार धर्म, कर्तव्य और नीति शब्दों के व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ में एक ही उद्देश्य प्रकट होता है और वह है मानव जीवन का सम्यक् और उत्कृष्ट संचालन। यदि हम किसी व्यक्ति को सदाचारी कहकर विभूषित करते हैं, स्वयं ही हमें उसके सत् आचरण से नैतिकता, धार्मिकता और कर्तव्यपरायणता का बोध होने लगता है। वर्तमान में धर्म का व्यापक क्षेत्र अत्यन्त संकुचित हो गया है।

भारतीय दार्शनिकों ने जीवन का अन्तिम उद्देश्य मोक्ष माना है और

---

1. आर्यन रूल इन इण्डिया- हॉवेल, पृ. 170.
2. दि मीनिंग ऑफ गॉड इन ह्यूमन एक्सपीरियंस पृ. 31

मोक्ष-प्राप्ति के विभिन्न साधनों में सदाचार-पालन को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। सत् आचरण ही नैतिकता है, नैतिकतापूर्ण मनुष्य ही धार्मिक है और यही मनुष्य का अपने जीवन के प्रति वास्तविक कर्तव्य है अतः आचार, नीति, धर्म और कर्तव्य शब्द एक दूसरे से परस्पर जुड़े हुए हैं।

कोश ग्रन्थों के अनुसार 'आचार' का अभिप्राय

प्रायः कोशकारों की दृष्टि में आचार का अभिप्राय व्यवहार, चाल-चलन और आचरण से है किन्तु कुछ स्थलों पर इसका अर्थ सामाजिक प्रथाएँ, लोकाचार आदि भी दिया गया है। लेकिन सूक्ष्म अवलोकन करने से हमें यह ज्ञात होता है कि अन्ततः इनमें व्यवहार, आचरण इत्यादि को व्यक्त किया गया है। सर मोनियर विलियम्स ने अपने 'अंग्रेजी संस्कृत शब्दकोश' में आचार के लिये प्रयुक्त 'मॉरल', 'मॉरल फिलासफी' एवं 'मॉरेलिटी' शब्द के अर्थों में 'बार्हस्पत्यम्' का उल्लेख करते हुए आचार, नीति, धर्म तथा कर्तव्य को पर्याय माना है।[1]

वामन शिवराम आप्टे ने भी अपने संस्कृत अंग्रेजी कोश में आचार का अभिप्राय बतलाते हुए मनु को उद्धृत किया है।[2]

---

1. Moral (virtuous) सदाचार; सदाचारी। Moral philosophy- नीतिशास्त्रं, नीतिविद्या, व्यवहारशास्त्रं, नीतिः। Morality's (system of moral duties) नीतिः। विद्या, नीतिशास्त्रं, व्यवहारशास्त्रं, नय; नयविद्या, नयशास्त्रं, अर्थशास्त्र, विनयविद्या, शील विद्या, सदसद्विचारः, सदसद्विवेक; कर्तव्याकर्तव्यविचारः, कर्तव्याकर्तव्यविवेकः, as invented by Brihaspati, बार्हस्पत्यम् (pracitice of moral duties, virtue) धर्मानुष्ठानं, धर्माचरणं, धर्माचारिता, धर्म्मः, सदाचारत्वं, सच्चरितं, सुचरितं, साधुशीलता (confirmity to principles of reatitude) धर्मानुसारित्वं न्यायानुसारः, न्यायः, धर्मता, धर्मत्वं- Dictionary: English and Sankrit by Sir Monier Willanms.
2. आचार- Conduct. behaviour. manner of action or of conducting oneself. A custom. uses. pratice. "तस्मिन्देशे य आचारः पारम्पर्यक्रमागतः" Ms 2. 18. 3 (Apte- Sanskrit English Dictionary;) आचारः (आ+चर+घञ्) आचरण व्यवहार, काम करने की रीति, चाल-चलन, 2. प्रथा, रिवाज, प्रचलन "तस्मिन्देशे य आचारः पारम्पर्यक्रमागतः-मनु 2.18.1

हलायुध ने आचार का तात्पर्य आचरण, शील, चरित्र आदि ग्रहण करते हुए व्यवहार तथा चरित्रविषयक अनेक उद्धरण दिये हैं तथा आचार का विपरीतार्थक शब्द भी स्पष्ट किया है।[1]

संस्कृत के प्रसिद्ध कोश 'शब्दकल्पद्रुम' में आचार का अर्थ बताते हुए हेमचन्द्र, मनुस्मृति की कुल्लूक भट्टीया टीका तथा बृहस्पति आदि के विचारों का उल्लेख किया गया है।[2] यहीं पर सज्जनों के आचरण का मनु के द्वारा दिया गया लक्षण भी बताया है।[3]

बृहत संस्कृताभिधान कोश 'वाचस्पत्यम्' में भी 'आचार' की व्युत्पत्ति बताते हुए उसे सदाचार और कदाचार रूप में द्विविध बताया है।[4]

वैजयन्ती कोशकार यादवप्रकाशाचार्य ने भी आचार से अभिप्राय वृत्त,

---

1. आचारः पु. (आङ्+चर्+घञ्) व्यवहार :, चरितं चरित्रं, चरणं, वृत्तं शीलं, विचार, "आचारेणावसन्नोऽपि पुनर्लेखयते यदि। सोऽभिधेयो मितं पूर्वं प्राङ्न्यायस्तु स उच्यते। इति व्यवहार तत्त्वम्।" चरित्रम्-"आचारलाजैरिव पौरकन्या" इति रघुवंशे 2. 10,852-869-"आचारे नयनादौ" आचारातिक्रमः पु. (आचारस्य अतिक्रमः) अशिष्टाचारः, असद्व्यवहारः, अयोग्य किया।-हलायुध कोश
2. आचारः, पु. (आङ्+चर्+घञ्) व्यवहारः तत्पर्यायः। 1. चरित्रं, 2. चरितं, 3. चारित्रं 4. चरणं 5. वृत्तं 6. शीलम् 7. इति हेमचन्द्रः। स्नानाचमनादिः इति मानवे 2 अध्याय; 69 श्लोकटीकायां कुल्लूकभट्टः। व्यवहारः। स तु विचारः। यथा बृहस्पतिः-
   आचारेणावसन्नेऽपि पुनर्लेखयते यदि।
   सोऽभिधेयो मितः पूर्वं प्राङ्न्यायस्तु स उच्यते।।
   इति व्यवहारतत्त्वम्। चरित्रं। एतद्विवरणं सदाचार शब्दे द्रष्टव्यम्-रघु 2/10
   "आचारलाजैरिव पौरकन्याः।"-शब्द कल्पद्रुम।
3. सदाचारः पु. (सतां साधूनामाचारः) साधूनामाचरणम्। तल्लक्षणम् यथा-
   "सरस्वती दृषद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तरम्,"
   तद्देवनिर्मितं देशं ब्रह्मावर्तं प्रचक्षते।
   तस्मिन्देशे य आचारः पारम्पर्यक्रमागतः,
   वर्णानां सान्तरालानां सदाचारः स उच्यते।। इति मनुः। शब्दकल्पद्रुम
4. आचारः पु, आ+चर+भावे घञ्। आचरणे अनुष्ठाने स च अनुष्ठान निवृत्यात्मक-भावाभावरूपः तत्र सदाचारः वेदस्मृत्यादिविहितः तत्र नित्यनिषिद्धश्च कदाचारः इति भेदात् द्विविधः-वाचस्पत्यम्

चरित्र, चरिण तथा चरणादि लेकर इष्टपूर्वक कर्मों के रूप में उसकी व्याप्ति भी बतायी है।[1]

बृहत् हिन्दी कोश में भी आचार का अर्थ बताते हुए आचार में विभिन्न शब्दों के योग से उनके अर्थों में भेद स्पष्ट किया है।[2]

इस प्रकार कोशकारों के द्वारा प्रतिपादित आचार के व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ से हमें यह पता चल जाता है कि यथार्थ रूप में आचार मनुष्य के आचरण अथवा व्यवहार से सम्बन्धित है। इस सन्दर्भ में आचार शब्द मानव के उचित आचरण या व्यवहार से सम्बन्धित है। उचित आचरण के द्वारा ही मनुष्य अपने जीवन में दीर्घकालिक शुभत्व की प्राप्ति कर सकता है। हम यह भी जानते हैं कि अनुचित व्यवहार, कर्म अथवा आचरण अशुभ कर्मों की ओर प्रवृत्त करके अकल्याणकारी मार्ग पर ले जाते हैं। आचार की उपयोगिता न केवल हमारे व्यक्तिगत जीवन में ही है, अपितु समस्त समाज को शुभफल प्रदान करने में सहायक है। मनुष्य के उचित-आचरण का निर्णय करने के लिये हमें कुछ मानदण्डों की भी आवश्यकता होती है। आचारशास्त्र के अन्तर्गत हम यह निर्णय कर सकते हैं कि मनुष्य जीवन के चरम लक्ष्य मोक्ष (परम आनन्द) को ध्यान में रखकर मनुष्य के जिस प्रकार के कर्मों को शुभ एवं किस प्रकार के कर्मों को अशुभ माना जाये? उसके कर्तव्य क्या हों? जीवन के आदर्शों को प्राप्त करने के लिये कौन-कौन से साधन आवश्यक हैं? नित्य परिवर्तनशील परिस्थितियों में मानव को किस प्रकार अपने आचरण पर नियन्त्रण रखना

---

1. इष्टं यागात्मकं कर्म तूर्पं खातादिकर्मणि।
   आचारो कृतचारित्राणि च ।। 3.6.115.
   -भूमिकाण्ड-ब्राह्मण अध्याय-115-वैजयन्ती कोश
2. आचार-पु. (स) चरित्र, चाल-चलन, व्यवहार, शास्त्रोक्त आचार, रिवाज या रूढ़ व्यवहार (लोकाचार-कुलाचार) तन्त्र-पु. तन्त्र का एक भेद (बौद्ध) दीप-पु. आरती उतारने का दीप। पतित-वि. दे. आचार भ्रष्ट। पूत-वि. शुद्धाचारी। भेद-पु. आचरण सम्बन्धी नियमों का अन्तर। भ्रष्ट -वि. जिसका आचार-व्यवहार बिगड़ गया हो, पतित। लाज- पु. राजा आदि पर फेंका जाने वाला लावा। वर्णित-वि. जातिच्युत, नियम विरुद्ध। विचार-पु, आचार और शौचादि का ध्यान। वेदी स्त्री, आर्यावर्त, पुण्यभूमि। हीन-वि. शास्त्रोक्त कर्म न करने वाला आचारभ्रष्ट।

चाहिये? अन्य व्यक्तियों के साथ और समाज में उसे किस प्रकार का व्यवहार करना चाहिये? इत्यादि अनेक बातों को ध्यान में रखकर आचारशास्त्र मनुष्य को सदाचारी जीवन का निर्माण करना सिखाता है। मनुष्य की स्वभावजन्य प्रवृत्तियों तथा शारीरिक और मानसिक मूल्यों का भी आचारशास्त्र की दृष्टि से अत्यधिक महत्त्व है।

सम्भवतः इन्हीं कारणों से पाश्चात्य विचारकों ने आचारशास्त्र को मानव-जीवन के चरम लक्ष्य का अन्वेषण माना है। इसीलिये विलियम लिली ने आचारशास्त्र को सामाजिक मनुष्यों के आचर ग के आदर्श अथवा उचित आचरण का विज्ञान कहा है।[1] डॉ. जे. एन. सिन्हा ने आचारशास्त्र को उचित और अनुचित आचरण का विज्ञान माना है।[2] पी.एन.चटर्जी महोदय भी इसे नैतिकता का विज्ञान कहते हैं। मैकेंजी भी इस विषय पर अपना मत इस प्रकार प्रकट करते हैं कि आचारशास्त्र मनुष्य की आदतों, रीति-रिवाजों और उनके चरित्र की विवेचना करता है जिनके अनुसार वे अभ्यासवश अपनी क्रियाएँ करते हैं तथा उन सिद्धान्तों के उस औचित्य-अनौचित्य पर विचार करता है जिससे मानवीय आदतें उचित या अनुचित, शुभ अथवा अशुभ सिद्ध होती हैं।[3]

नीति

संस्कृत साहित्य में आचार के पर्याय 'नीति' का प्रयोग एवं उनकी व्याख्या पुष्कल परिणाम में मिलती है। नीति विषयक अनेक ग्रन्थ आज भी उपलब्ध हैं जैसे आचार्य कामन्दक का नीतिसार, भर्तृहरि का नीतिशतक,

---

1. Ethics is the normative science of the conduct of human beings living in societies.- (एन इन्ट्रोक्शन टू इथिक्स, पृ. -2) विलियम लिली.
2. 'Ethics is the science of rightness and wrongness of conduct.' -(ए मैनुअल ऑफ इथिक्स, पृ.-2)
3. 'Ethics discusses men's habits and customs. or in other words. their characters the principles on which they habitually act and considers what it is that constitutes the rightness or wrongness of those principles. the good or evil of those habits. -मैनुअल ऑफ इथिक्स, पृ. 2.

नीतिकल्पतरु, नीतिरंग, नीतिदीपिका, नीतिप्रदीप, नीतिमंजरी, नीतिमयूख, नीतिरत्न, नीतिरत्नाकर, नीतिवाक्यामृतम्, नीतिविलास, नीतिविवेक, नीतिसार, नीतिसारसंग्रह, चाणक्यनीति, हितोपदेश, पंचतन्त्र इत्यादि ग्रन्थों में नीतिशास्त्रकारों ने अपने-अपने ढंग से नीति की परिभाषाएँ की हैं। धर्म के समान नीति शब्द भी साहित्य-जगत् में विस्तृत अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। कामन्दक के नीतिसार, शुक्रनीति और नीतिवाक्यामृत में हमें नीति शब्द का प्रयोग राजनीति के अर्थ में दिखाई पड़ता है।[1]

चाणक्य के नाम से प्रख्यात कौटिल्य के अर्थशास्त्र[2] चाणक्यनीति[3] तथा चाणक्यसूत्र तीन महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ मिलते हैं। चाणक्य के अनुसार 'नीति' का प्रयोग सामान्य लोकव्यवहार का वाचक है। कुछ राजनीतिपरक श्लोक भी दिये हुए हैं। इन ग्रन्थों की रचना लोक की हित-कामना की दृष्टि से हुई है।[4] शुक्रनीति में[5] यद्यपि नीति शब्द 'राजनीति' का द्योतक है लेकिन साधारण व्यवहार का भी बोधक है। भर्तृहरि का नीतिशतक सामान्य नीति का ग्रन्थ है।

---

1. कामन्दक ने दण्डनीति का लक्षण दिया है-नयनान्नीतिरुच्यते। शुक्राचार्य ने नीति की परिभाषा इस प्रकार की है-
   सर्वोपजीवकं लोकस्थितिकृन्नीतिशास्त्रकम्।
   धर्मार्थकाममूलं हि स्मृतं मोक्षप्रदं यतः।। (1-5)-शुक्रनीति
2. "नयानयो दण्डनीत्या" अर्थात् राजा को दण्डनीति से उचित-अनुचित व्यवहार की शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये। "नयानयौ"-उचित-अनुचित व्यवहाराः- (सम्पादक शामशास्त्री, कौटिलीयार्थशास्त्रम्, मैसूर; 1924 अधिकरण-1 अध्याय-2).
   "नयानयौ"-एक्सपीडिएक्ट एण्ड इनएक्सपीडिएण्ट। (कौटिल्य अर्थशास्त्रम् का शामशास्त्रीकृत अंग्रेजी अनुवाद, 1929, मैसूर-पृ. 6).
3. (1) "राजतंत्रायत्तं नीतिशास्त्रम्" तथा "नीतिशास्त्रानुगो राजा"-राजनीति वाचक.
   (2) "नीतिज्ञो देशकालौ परीक्षेत्" सामान्य नीति का वाचक. (कौटिल्य अर्थशास्त्रम् के परिशिष्ट में चाणक्य सूत्र क्रमशः 43,48,112).
4. "लोकानां हितकाम्यया"-(चाणक्य नीतिदर्पण। प्र. गोवर्धन पुस्तकालय, मथुरा, प्रथम संस्करण, अध्याय। पद्य 3).
5. (1) अतः सदा नीतिशास्त्रमभ्यसेद्यत्नतो नृपः। (राजनीति का बोधक).
   (2) अथ साधारणं नीतिशास्त्रं सर्वेषु चोच्यते (सामान्य नीति का बोधक)- अनुवादव मिहिरचन्द्र, शुक्रनीतिः। वेंकटेश्वर प्रैस, मुम्बई 1982 वि. 2.6,3.1

इसमें 'नय' एवं 'नीति' शब्द क्रमशः स्वविवेक, व्यवहार तथा लोकोचित व्यवहार के अर्थ में आये हैं।[1]

पंचतन्त्र और हितोपदेश ग्रन्थ भी उनके लेखकों द्वारा नीतिशास्त्र के रूप में माने गये हैं।[2] इन ग्रन्थों की रचना अविवेकी और उन्मार्गमार्गी राजकुमारों के लिये की गयी थी तथापि ये सामान्य नीति से परिपूर्ण हैं। के.पी.जायसवाल ने 'हिन्दू पॉलिटी' में लिखा है, सोमदेव रचित "नीतिवाक्यामृत" में भी नीति एवं राजनीति का मिश्रण है।[3] चौदहवीं से अठारहवीं शती तक के समय रचित ग्रन्थ 'राजनीतिरत्नाकर' तथा 'राजनीतिमयूख' नामक ग्रन्थों के नाम से उनका विषय स्पष्ट है। नीतिविषयक ग्रन्थों के अवलोकन से हमें ज्ञात होता हैं कि नीति शब्द का प्रयोग राजनीति तथा सामान्य लोकव्यवहार दोनों अर्थों में हुआ है।

कोश ग्रन्थों में भी नीति के लगभग तीस अर्थ बतलाये गये हैं। अमरकोश में 'नय' तथा 'नीति' शब्द एक ही अर्थ को स्पष्ट करते हैं। 'नय' में अच् प्रत्यय लगकर 'नी' को गुण तथा 'ए' को 'अय्' आदेश होकर 'नय' शब्द बनता है। 'भावेस्त्रियांक्तिन्' सूत्र से 'नी' धातु में 'क्तिन्' प्रत्यय लगकर 'न्' तथा 'क्' का लोप हो जाता है।, इस प्रकार 'नीति' शब्द की निप्पत्ति होती है। संस्कृत-शब्दार्थ-कौस्तुभकार श्री झा तथा चतुर्वेदी ने इस आधार पर इह तथा परलोक में सिद्धि प्राप्त करने के साधनों को नीति माना है।[4]

---

6. (1) प्रीतिः साधुजने नयो नृपजने विद्वज्जनेष्वार्जवम्।-(सं.-डी.डी. कोसाम्बी, शतकत्रयम् भारतीय विद्या भवन, बम्बई, 1946 पृ. 11 पद्य 18, संस्कृत टीका, नयोनीतिः)

   (2) निन्दन्तु नीतिनिपुणः यदि वा स्तुवन्तु वही, पृ. 44, पद्य 75, संस्कृत टीका-"नीतिनिपुणाः नयविशारदाः"

1. अधीते य इदं नीतिशास्त्रं श्रृणोतिच।
   न पराभवमवाप्नोति शक्रादपि कदाचन।।
   -(पंचतन्त्र, पण्डित पुस्तकालय, काशी, 1952 ई., पृ. 6.10) (हितोपदेश, निर्णयसागर मुद्रणालय, बम्बई 1949 ई. प्रस्ताविका पृ. सं. 11).
2. इट इज ए मिक्सचर ऑफ इथिक्स एण्ड पॉलिटिक्स-(हिन्दू पॉलिटी, बंगलौर-1955 ई. पृ. सं. 8.)
3. नीयन्ते संलभ्यन्ते उपायादयः ऐहिकामुष्मिकार्था वा अनया। -(संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ द्वितीय संस्करण, पृ. 611).

मेदिनीकोशकार को भी यही अर्थ अभीष्ट है।[1]

विभिन्न कोशों में नीति के अर्थ निम्नलिखित बतलाये गये हैं-

क. शुक्रादिकृत राजविद्या, राजनीति, दण्डनीति, धर्म, दर्शन।[2]

ख. दान, भेंट, चढावा, सम्बन्ध, सहारा।[3]

ग. अपना चाल-चलन किसी व्यक्ति के जीवनयापन का ढंग।[4]

घ. वह रीति जिस पर चलने से कल्याण तो हो पर दूसरे की हानि न हो, जनता या समाज के हित के लिये निश्चित आचार-विचार और अच्छा व्यवहार।[5]

ङ हिम्मत, युक्ति, उपाय।[6]

च. चतुराई भरी चाल और कार्यसिद्धि या क्रियात्मक व्यवहार।[7]

छ. शील-भव्यता, उपयुक्तता, समीचीनता, औचित्य, शिष्टता, सदाचार।[8]

ज. पद्धति, रीति, ढंग, प्रणाली, योजना।[9]

झ. उच्च व्यावहारिक आचार का नियम-निर्देश, प्रबन्ध, पथ-प्रदर्शन।[10]

अंग्रेजी भाषा के पॉलिसी, कण्डक्ट, डायरेक्शन, डेकोरम, गाइडैंस, प्लान, मैनेजमेण्ट, स्कीम, पॉलिटिकल, साइन्स, मॉरल, फिलॉसफी, राइट कोर्स ऑफ

---

1. नीयन्ते संलभ्यन्ते उपायादयः ऐहिकामुष्मिकार्था वाऽस्यामनया वा नी+अधिकरणे अच् नयः। नी+भावे क्तिन् (प्रापणे)-इति मेदिनी,
2. वाचस्पत्यम् ,खण्ड-5,पृ. 4127
3. संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ, पृ. 344
4. आप्टे की संस्कृत-अंग्रेजी डिक्शनरी, पृ. 934
5. प्राभाणिक हिन्दी कोष, रामचन्द्र वर्मा, पृ.-711
6. राष्ट्रभाषा कोश, प्रयाग, 1992, पृ. 856.
7. भार्गव हिन्दी कोश, पृ. 617
8. संस्कृत-गुजराती नीति कोश, पृ. 256
9. संस्कृत-गुजराती नीति कोश, पृ. 256
10. ए प्रैक्टिकल संस्कृत डिक्शनरी, ए. ए मैक्डॉनल.

एक्शन, वर्डली विज्डम, मॉरेलिटि आदि शब्द आचार अथवा नीति के ही पर्यायवाची शब्द हैं।[1]

नीति की परिभाषाएँ

श्री रामनाथ सुमनजी ने 'नीति धर्म - दर्शन की भूमिका में अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा है कि यही प्रेरणा है कि "सब अन्त में एक है" कर्म सुलभ होने पर नीति, भाव सुलभ होने पर धर्म और ज्ञान सुलभ होने पर दर्शन के रूप में अवतरित होती है।[2] इसी पुस्तक में अन्यत्र भी वे इसी प्रकार लिखते हैं कि विविध देशों, कालों, वर्गों, समाजों के लिये बनाये गये आचरण के नियम जो जीवन की मूल प्रेरणा, मूल धारा को आगे बढ़ाने में सहायक होते हैं, नीति हैं।[3]

गंगाधर भट्ट ने भी प्राचीन ग्रन्थों का विश्लेषण और विवेचन करते हुए नीति का स्वरूप इस ढंग से निर्धारित किया है-" मानव समाज को श्लाघनीय एवं सुव्यवस्थित पथ पर अग्रसर करने तथा उसके प्रत्येक व्यक्ति को धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष की सम्यक् एवं सुगमता से उपलब्धि कराने हेतु विधि अथवा निषेधात्मक, वैयक्तिक एवं सामाजिक नियमों का विधान, जो देश, काल एवं पात्र को लक्ष्य में रखकर बनाया जाता है, वही नीति है।"[4]

राजबली पाण्डेय का नीतिशास्त्र के सन्दर्भ में विचार है कि " आज कल की सरल परिभाषा में नीति वह शास्त्र है जो शुद्ध तथा अशुद्ध, सत्य तथा असत्य, उचित तथा अनुचित अथवा शुभ एवं अशुभ के आधार पर मानव चरित्र का विवेचन करता है। संस्कृत का धर्ममूल शब्द इस परिभाषा के निकट है यद्यपि इसमें अदृष्ट एवं अपूर्व दो रहस्यवादी तत्त्व सम्मिलित हैं। 'मोक्षप्रद' शब्द तो नीति का आध्यात्मिक अर्थात् उच्चतम आदर्श प्रस्तुत करता है।[5]

---

1. मोनियर विलियम्स, आप्टे, बाहरी तथा केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय के शब्दकोशों के आधार पर.
2. धर्मः, दर्शनः, नीति-भूमिका, साधना सुमन, इलाहाबाद (1968, पृ. 19 द्वितीय पंक्ति).
3. उपर्युक्त, पृष्ठ -19, पंक्ति-15.
4. संस्कृत काव्य में नीति तत्त्व-बाफना प्रकाशन, पृ. 14.
5. भारतीय नीति का विकास-प्रास्ताविक, पृष्ठ 1 (बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् पटना)।

भीखनलाल आत्रेय के अनुसार नीति शब्द का अर्थ है ले जाने का तरीका अर्थात् जीवन को लक्ष्य की ओर किन-किन नियमों का पालन करने से ले जाया जा सकता है। संस्कृत के 'नी' धातु से जिसका अर्थ ले चलना है, यह शब्द बना है।[1]

पाश्चात्य विद्वानों को भी स्वीकार्य है कि 'एथिक्स' में कुछ ही स्थलों पर व्यावहारिक प्रश्नों को सुलझाने का यत्न हुआ है अन्यथा शेष समस्त चिन्तन 'समय बोनम' (सर्वोत्तम शुभ) की व्याख्या करना प्रतीत होता है।[2]

जिन कोशकारों अथवा लेखकों ने केवल पश्चिमी आधार पर नीतिशास्त्र की परिभाषा दी है अथवा व्याख्याएँ की हैं उनके कदम डगमगा गये हैं।[3]

भारतीय आचारशास्त्रवेत्ताओं और पाश्चात्य विचारकों द्वारा प्रतिपादित नीति के अर्थ और परिभाषाओं के अवलोकन से हमें ज्ञात होता है कि नीति के अन्तर्गत उन सभी तथ्यों को समावेशित किया जा सकता है जो मानव जीवन को परम लक्ष्य अर्थात् मोक्ष अथवा परमानन्द की प्राप्ति कराने में सहायक हों, धर्म, अर्थ और काम त्रिविध पुरुषार्थों के सम्यक् व्यवहार में उपयोगी हो एवं किसी व्यक्ति को ऐच्छिक क्रियाओं के प्रयोग में शुभाशुभ और उचित-अनुचित का विचार करने में सहायक सिद्ध हों। इस प्रकार श्रेष्ठ आचरण के नियम सत्य अहिंसा आदि सद्गुण, सदाचार तथा इनके विपरीत अर्थ के बोधक अनाचार के अन्तर्गत आने वाले दुर्गुण असत्य, हिंसा, क्रोधराहित्य ही मानव को कल्याणकारी मार्ग पर ले जाते हैं।

आचार क्या है?

धर्म, नीति एवं आचार के अर्थ एवं परिभाषा ज्ञान के द्वारा हमें आचार का स्वरूप समझने में विशेष सुविधा होती है। अतः एक वाक्य में हम कह सकते हैं कि शिष्ट व्यक्तियों द्वारा अनुमोदित एवं बहुमान्य रीति-रिवाजों को आचार कहते हैं। स्मृति या विधिसम्बन्धी संस्कृत ग्रन्थों में आचार का महत्त्व

1. भारतीय नीति शास्त्र का इतिहास, पृष्ठ 9, पंक्ति 8.
2. कम्पटन्स पिक्चर्ड एनसाइक्लोपीडिया, भाग-4 पृ. 4001
3. महाराष्ट्रीय ज्ञान कोश, भाग-16, पृष्ठ 314.

भली-भांति दर्शाया गया है। मनुस्मृति में यह बताया गया है कि आचार आत्मा की अनुभूतिजन्य विधि है एवं द्विजों को इसका पालन अवश्य करना चाहिये। धार्मिक स्रोतों में श्रुति एवं स्मृति के पश्चात् आचार का तीसरा स्थान है कुछ विद्वान तो इसको प्रथम स्थान प्रदान करते हैं, क्योंकि उनके विचार में धर्म आचार से ही उत्पन्न होता है-"आचारप्रभवो धर्मः"।[1]

इसी प्रकार संग्राहक धर्म को तीन भागों में बाँटा गया है। 1. आचार, 2. व्यवहार और 3. प्रायश्चित्त। याज्ञवल्क्य ने आचार के अन्तर्गत निम्नांकित विषयों को सम्मिलित किया है-

1. संस्कार,
2. वेदपाठी ब्रह्मचारियों के चारित्रिक नियम,
3. विवाह एवं पत्नी के कर्तव्य,
4. चार वर्ण और वर्णसंकर,
5. ब्राह्मण गृहपति के कर्तव्य,
6. विद्यार्थीजीवन समाप्ति के पश्चात् कुछ पालनीय नियम,
7. विधिसम्मत भोजन और निषिद्ध भोजन के नियम,
8. वस्तुओं की धार्मिक पवित्रता,
9. श्राद्ध,
10. गणपति की पूजा,
11. गृहशान्ति के नियम, तथा
12. राजा के कर्तव्य

स्मृतियों में आचार के तीन विभाग किये गये-1. देशाचार 2. जात्याचार और 3. कुलाचार।

1. देशाचार-देश-विशेष में जो आचार प्रचलित होते थे उनको देशाचार कहते थे जैसे दक्षिण में मातुल-कन्या से विवाह।

---

1. मनुस्मृति-1.109

2. जात्याचार- जाति-विशेष में जो आचार प्रचलित होते थे उन्हें जात्याचार कहा जाता है जैसे कुछ जातियों में सगोत्र-विवाह होना।

3. कुलाचार- इसी प्रकार कुल-विशेष में प्रचलित आचार को कुलाचार कहा जाता है।

धर्मशास्त्र में इस बात का राजा को आदेश दिया गया है कि वह आचारों को मान्यता प्रदान करे। ऐसा न करने से प्रजा क्षुब्ध होती है।

आचार एवं आचार्य

हिन्दू संस्कृति में मौखिक व्याख्यान या बड़े जनसमूह के सामने प्रचार करने की प्रथा न थी। यहाँ पर जितने आचार्य हुए हैं, सबने स्वयं के व्यक्तिगत कर्तव्य-पालन द्वारा लोगों पर प्रभाव डालते हुए आदर्श आचरण या चरित्र पर बहुत जोर दिया। समाज का सुधार भी केवल चरित्र के सुधार से ही सम्भव है। विचारों के प्रचार मात्र से आचार संगठित नहीं हो सकता इसी कारण आचार का आदर्श उपस्थित करने वाले शिक्षक आचार्य कहलाते थे। उपदेश का कोई महत्त्व ही नहीं था। अतः इनकी परिभाषा है-

आचिनोति हि शास्त्रार्थान् आचरते स्थापयत्यपि।
स्वयं आचरते यस्तु आचार्यः स उच्यते।।

अर्थात् जो शास्त्र के अर्थों का चयन करते हैं, और उनका आचार के रूप में क्रियान्वयन करता है तथा स्वयं भी उनका आचरण करता है वह आचार्य कहा जाता है।

आचार (सप्त)

कुछ तन्त्र ग्रन्थों में वेद, वैष्णव, शैव, दक्षिण, वाम, सिद्धान्त और कुल ये सात आचार बतलाये गये हैं। ये सात प्रकार के आचार तीन यानों (देवयान, पितृयान और महायान) के अन्तर्गत आते हैं। महाराष्ट्र के वैदिकों में वेदाचार शंकरस्वामी के अनुयायी दाक्षिणात्य शैवों में दक्षिणाचार, रामानुज और इतर वैष्णवों में वैष्णवाचार, वीरशैवों में वीराचार और शैवाचार तथा केरल, गौड,

नेपाल और कामरूप के शाक्तों में क्रमशः वीराचार, वामाचार, सिद्धान्ताचार एवं कौलाचार चार प्रकार के आचार देखे जाते हैं।

भारतीय चिन्तन में आचार की दृष्टि से प्रत्ययों का विश्लेषण

भारतीय साहित्य में आचार-चिन्तन की एक सुदीर्घ परम्परा है किन्तु कुछ पाश्चात्य विचारकों ने भारतीय दर्शन को धार्मिक-ग्रन्थों के रूप में अंकित किया है क्योंकि उन्हें विभिन्न दार्शनिक-ग्रन्थों में तर्क एवं चिन्तन का अभाव तथा विश्वास-भक्ति आदि का प्राधान्य दिखाई देता है। परन्तु वास्तविकता तो यह है कि भारतीय दर्शन की उत्पत्ति जीवन की समस्याओं से घिरी हुई है इसीलिये वे केवल बौद्धिक व्यायाम न होकर जीवन की गतिविधियों पर भी प्रकाश डालते हैं। इसके अतिरिक्त तार्किक एवं बौद्धिक विवेचना भी विभिन्न दर्शनों में हुई है जो न्याय या तर्क के नाम से प्रसिद्ध है।

मनुष्य केवल शरीर ही नहीं है अपितु आत्मा भी है और आत्मा की सन्तुष्टिहेतु मानव की इच्छा असीम और अलौकिक सत्ता तक पहुँचने की होती है। यही कारण है कि भारतीय दर्शन में परलोक को अधिक महत्त्व दिया गया है। वस्तुतः पारलौकिकता और नैतिकता में कोई विरोध नहीं है अपितु परलौकिक सत्ता के अभाव में मानव के आचार का भी कोई मूल्य न रह जायेगा। परलोक की सिद्धि के साधन इसी लोक के कर्म माने गये हैं। भारतीय दर्शनों में आचार-तत्त्व की स्थिति के लिये पूर्व मान्यताएँ इस प्रकार हैं-

पूर्वमान्यताएँ

पाश्चात्य नीतिशास्त्री 'काण्ट' ने नीतितत्त्वों की विचारणा के लिये तीन पूर्व मान्यताओं का प्रतिपादन किया है- अ. आत्मा की अमरता, आ. संकल्प-स्वातन्त्र्य, और इ. ईश्वर का अस्तित्व। ईश्वर के अस्तित्व का प्रश्न भी संकल्प-स्वातन्त्र्य के अन्तर्गत समाविष्ट किया जा सकता है। कर्मफलदाता के रूप में ईश्वर की स्वीकृति का तर्क अधिक प्रबल प्रतीत नहीं होता है। जगत् संचालन के लिये भी ईश्वर की स्वीकृति का अपना अलग सन्दर्भ है अस्तु वहाँ कुछ पूर्व मान्यताओं पर विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है।

अ. आत्मा की अमरता

नीति के विचारणा में आत्मा की अमरता के सिद्धान्त का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण योगदान है। यह प्रश्न कर्त्ता-कर्म और कर्मफल-भोक्ता से सम्बन्धित है। नीतिशास्त्र कर्मों के गुण-अवगुण का विचार करते हैं और यह मानकर चलते हैं कि उसका फल किसी को अवश्य मिलेगा। यदि यह निश्चित ही न हो पाये कि उसका कोई निश्चित कर्ता है या यह निश्चय हो कि उसका कर्ता कोई तथा फलभोक्ता कोई और है या उसका कर्ता फलप्राप्ति के काल तक स्थित ही नहीं रहता तो कर्म-कर्तव्य का सिद्धान्त स्वयं ही ढह जाता है और फिर यथेष्टाचरण को प्रोत्साहन मिलता है। मनुष्य की एक स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है कि वर्तमान की अपेक्षा वह भविष्य का अधिक ध्यान रखता है। अतः भावी और अनन्त जीवन की सम्भावनाएँ उसे निश्चय ही अच्छे कर्म करने और बुरे कर्म से बचने के लिये प्रोत्साहित करती हैं। इस प्रकार नैतिक अवधारणा के लिये आत्मा की अमरता का सिद्धान्त एक अपरिहार्य पृष्ठभूमि बन जाता है। केवल चार्वाक दर्शन को छोड़कर शेष सभी भारतीय दर्शनों ने आत्मा की अमरता का प्रतिपादन किया है। क्षणिकवादी बौद्ध-चिन्तन भी धारावाहिक नित्यता का प्रतिपादन करता है। वहाँ भी पुनर्जन्म का सबल समर्थन किया गया है।

आ. संकल्प-स्वातन्त्र्य

आचार्य पाणिनि ने 'स्वतन्त्रः कर्ता' कहकर क्रिया के निष्पादन में स्वतन्त्र कारक को ही प्रतिपादित किया है। सामान्य लोकव्यवहार में दूसरे की प्रेरणा से भी कर्म प्रेरणा से भी कर्म सम्पादिता को कर्ता कहा गया है। किसी व्यक्ति को कर्ता मान लेने पर भी यदि उसने दूसरे की आज्ञा या विवशता पर कार्य किया है, उसे फल का भोक्ता नहीं मान सकते। सैनिक युद्ध के कर्ता होते हैं; किन्तु उसका फल जय या पराजय का भाजन शासन या राष्ट्र होता है। अतः कर्मफल भोक्ता की दृष्टि से यह प्रश्न अत्यन्त महत्त्व का है। कर्ता को क्रिया के सम्पादन में कहाँ तक स्वतन्त्रता रही है? चयन का माध्यम, साधन या सामर्थ्य कर्ता की प्रकृति में होना चाहिये, बाहर से आरोपित नहीं। इस प्रकार संकल्प-स्वातन्त्र्य

प्रतिपादित है। ईश्वर को स्वीकार करने वाले जीव भी कर्मक्षेत्र में ईश्वर का हस्तक्षेप नहीं मानते हैं और जीवों के कर्मानुसार ही ईश्वर को फलदाता स्वीकार करने वाले जीव भी कर्मक्षेत्र में ईश्वर का हस्तक्षेप नहीं मानते हैं और जीवों के कर्मानुसार ही ईश्वर को फलदाता स्वीकार करते हैं। जहाँ तक जड़ जगत् का प्रश्न है, चेतन सत्ता को उससे उच्चतर स्तर प्रदान किया गया है और उसका हस्तक्षेप तो नगण्य ही है। यदि कहीं अवश कर्म का प्रतिपादन किया भी गया तो वहाँ भी प्रेरक तत्त्व कर्ता की प्रकृति में निहित माने गये हैं। काम-क्रोध आदि की भी जो प्रबलता क्रिया-सम्पादन में प्रतिपादित की गई है उससे संकल्प-स्वातन्त्र्य पर विपरीत प्रभाव नहीं पड़ता क्योंकि ये तत्त्व कर्ता की प्रकृति में निहित हैं और कर्ता को पूरी क्षमता या अवसर उपलब्ध है कि इस पर नियन्त्रण कर सकें।

जगत्सत्यत्व

जगत् की सत्यता का नैतिक चेतना के सन्दर्भ में अत्यधिक महत्त्व है और उससे सामाजिक चेतना का अपरिहार्य सम्बन्ध है। जगत्-मिथ्या का अर्थ अलोक या शून्य नहीं अपितु अनिर्वचनीय है। अतिनिषेधवादी भारतीय- दर्शन भी जगत् का अभाव नहीं मानते अपितु सापेक्ष सभ्यता का प्रतिपादन करते हैं। इस स्थिति में न तो जगत् का कोई महत्त्व ही कम होता है और न यह कहा जा सकता है कि इससे नैतिक्र चेतना पर कोई विपरीत प्रभाव पड़ता है। इस प्रकार की तात्त्विक और यथार्थ स्थिति ही नैतिकता का निर्माण करती है।

आचारिक-तत्त्व-विश्लेषण

दैनिक व्यवहार में अच्छा-बुरा, पाप-पुण्य, धर्म-अधर्म, शुभाशुभ आदि शब्दों का प्रयोग होता है। किसी कर्म या फल की गुणवत्ता का प्रकाशन भी इन्हीं शब्दों के माध्यम से किया जाता है। अतः आचार के निर्धारण में इन प्रत्ययों का विशेष महत्त्व है। पाश्चात्य नीतिशास्त्रियों ने शास्त्रीय विवेचन द्वारा इन प्रत्ययों का अर्थ सन्दर्भित करने या उनको परिभाषित और विश्लेषित करने का प्रयास किया है। भारतीय आचार-चिन्तन में भी ऐसे शब्दों का प्रयोग हुआ है और हमारे ज्ञान के लिये उनका अर्थ-बोध निश्चित या प्रकाशित करना आवश्यक प्रतीत होता है।

उचित-अनुचित

ये शब्द वस्तुतः कर्मपद्धति या प्रकिया के सन्दर्भ में अपना महत्त्व रखते हैं और इनका अर्थ नियमानुकूल या नियम प्रतिकूल किया जा सकता है। समाज या व्यक्ति के लिये जो नियम स्वीकृत कर लिये जाते हैं यदि कोई कार्य इसके अनुरूप किया जाता है तो वह उचित अन्यथा अनुचित कहलाता है। उदाहरण के लिये किसी आदरणीय व्यक्ति को नमन करना एक सामाजिक नियम है। यदि कोई व्यक्ति जिसके लिये यह करना आवश्यक है, वह कार्य नहीं करता है तो कहा जायेगा कि उसने अनुचित किया और वैसा करने पर उचित।

सत्-असत्

'अस्ति इति सत्' अर्थात् जिसकी सत्ता है, जिसकी विद्यमानता है, वह सत् है और उसी सत् के भाव को सत्य कहा जाता है। यास्क ने सत्य का अर्थ 'सत्प्रभाव वाला' किया है।[1] महाभारत में भी कहा गया है कि 'सत्य ही धर्म, सत्य ही योग और अनन्त ब्रह्म है। सत्य सर्वोच्च यज्ञ है क्योंकि सभी वस्तुएँ सत्य पर आश्रित हैं।'[2] वेदों में भी कहा गया है कि पृथ्वी सत्य पर ही टिकी है।[3] अमरकोश के अनुसार सत् का अर्थ है-सत्य, साधु, विद्यमान, प्रशस्त और अभ्यर्हित।[4] यहाँ अभ्यर्हित का सम्बन्ध मानव जीवन से हैं क्योंकि सम्मान या पूजा का सम्बन्ध व्यक्ति से ही होता है, जो गुणवान् हो। प्रशस्त का तात्पर्य ही अभ्यर्हित के समान ही है। अतः हम कह सकते हैं कि नैतिक गुणों से सम्पन्न व्यक्ति या वस्तु सत्य कहलाता है। इसके विपरीत दोषों से युक्त एवं गुणों से रिक्त व्यक्ति या वस्तु असत् कहे गये हैं।

धर्म-अधर्म

धर्म का अभिप्राय मनुष्य के कर्मों से उत्पन्न वे गुण-विशेष हैं जो मानव

1. 'सत्यं कस्मात्-सत्सु लायते सत्प्रभवं भवतीति वा'-निरुक्त 3/13.
2. सत्यं धर्मस्तपो योगः सत्यं ब्रह्म सनातनम्। सत्यं यज्ञः परः प्रोक्तः सत्ये सर्वं प्रतिष्ठितम्।।-अनुशासन पर्व-महाभारत.
3. ऋ. सं. -10.85.1, अथर्व. 14.1.1
4. सत्ये साधौ विद्यमाने प्रशस्तेऽभ्यर्हिते च सत्।।-अमरकोश 3.3.83

के इष्ट,सुख या मोक्ष का साधन बनते हैं। इसके अतिरिक्त इस गुण-विशेष या संस्कार-विशेष के साधन कर्म दो प्रकार के हो जाते हैं। साधनरूप धर्म और साध्यरूप धर्म। इसके अतिरिक्त बिना पारलौकिक महत्त्व के कर्तव्य-कर्मों को भी धर्म कहते हैं। व्यक्ति और समाज के अनुसार धर्म के विविध स्वरूप दृष्टिगोचर होते हैं। इसके विपरीत गुण अधर्म हैं। तिलक ने अपने गीता रहस्य में[1] धर्म की अत्यन्त संक्षिप्त और सारगर्भित व्याख्या प्रस्तुत करते हुए कहा है कि सामान्यतः व्यवहार 'धर्म' शब्द का उपयोग केवल "पारलौकिक कल्याण का मार्ग" अर्थ में किया जाता है। श्री अरविन्द ने भी धर्म के विषय में कहा है कि "धर्म मनुष्य का आदि-अन्त नहीं है। धर्म के क्षेत्र से परे चेतना का एक बृहत्तर स्तर है, जिसमें आरोहण कर आध्यात्मिक स्वातन्त्र्य प्राप्त करना चरमोत्कर्ष है।"[2]

पाप और पुण्य दोनों प्रकार के कर्म मानवों द्वारा किये जाने वाले स्वीकार किये गये है। पाप कर्म दुष्कर हैं और पुण्य कर्म सत्कर्म हैं। अथर्ववेद के ग्यारहवें काण्ड में वर्णन मिलता है कि "जब इस संसार के रचयिता ने नेत्र, कान आदि छिद्रों को बनाया तब त्वष्टा के द्वारा बहुत से छेद वाले मनुष्य देह को घर बनाकर प्राण, अपान और इन्द्रिय ने प्रवेश किया। स्वप्न, निद्रा, निर्ऋति, पाप इस पुरुष की देह में घुस गये और आयु हरण करने वाली जरा, चक्षु, मन, खालित्य, पालित्य आदि मन के अभिमानी देवता भी उसमें प्रविष्ट हो गये"[3]

मूलतः कर्मों के दोषमूलक संस्कार पाप और गुणमूलक संस्कार पुण्य कहलाते हैं। इस प्रकार कर्मों का आशय या संस्कार के अर्थ में पाप-पुण्य, धर्माधर्म के समानार्थी हैं। कभी-कभी पाप-पुण्य के साधन कर्म भी पाप-पुण्य कहलाते हैं। पाप-पुण्य का केवल पारलौकिक महत्त्व है जबकि समाज या व्यक्ति के सन्दर्भ में केवल लौकिक महत्त्व के कर्तव्य कर्म ही धर्म कहे गये हैं।

शुभाशुभ

अमरसिंह कृत 'अमरकोश' में शुभ के अनेक पर्याय दिये गये हैं-श्रेयस्,

1. गीता रहस्य-तिलक, पृष्ठ-65.
2. भारतीय संस्कृति के आधार-श्री अरविन्द, पृ. 132.
3. अथर्ववेद,11.8.18-19

शिव, भद्र, कल्याण, मंगल–कुशल, क्षेम आदि।[1] अभिधर्मकोश में आचार्य वसुबन्धु ने सुखवेद्य और अदु:खासुखावेद्य को सुख कहा है अर्थात् जिससे सुख की वेदना (अनुभूति) हो वह शुभ है। और जिससे दु:ख या सुख दोनों की अनुभूति न हो, वह भी शुभ है। इसके विपरीत दु:ख की वेदना वाला अशुभ कहा गया है।[2] इस प्रकार शुभ–अशुभ का सम्बन्ध कर्मफल की अनुभूति से है।

आधुनिक सन्दर्भ में शुभाशुभ का विश्लेषण करते हुए आचार्य राजबली पाण्डेय ने कहा है कि शुभ और अशुभ का सम्बन्ध जीवन के मूल्यों से है।[3] अन्यत्र भी नीतिशास्त्र विवेचन में शुभाशुभ मूल्यात्मक प्रत्यय माने गये है।[4] इस प्रकार जीवन के कर्म के आदर्श शुभ कहे गये हैं। परिस्थिति भेद से आदर्श शुभ कई प्रकार के हो सकते हैं। एक व्यक्ति का शुभ अन्य होगा, समाज का अन्य और राष्ट्र का अन्य। इसके अतिरिक्त जनसामान्य तो कर्म को ही शुभाशुभ के रूप में जानता है। कहा भी है कि शुभाशुभ का फल अवश्य भोगना पड़ता है।[5]

शुभ के भी कई स्तर हैं। जीवन के लिये जो एक या अनेक आदर्श निर्धारित किये गये हैं वे शुभ हैं। इसी प्रकार सामाजिक व्यवस्था के लिये जो विभिन्न मूल्य निर्धारित किये जाते हैं, वे भी शुभ हैं। शुभ दो प्रकार के माने गये हैं–साधन–शुभ और साध्य–शुभ। व्यक्ति और समाज के पृथक्–पृथक् साध्य हैं। इस जीवन के अतिरिक्त भी कोई साध्य शुभ और साधन शुभ है। इस प्रकार का परम साध्य या परम आदर्श परमशुभ कहलाता है यथा–मोक्ष।

आचार्य वसुबधु कहते हैं कि पदार्थों का कुशलाकुशलत्व चार प्रकार से

---

1. शिव: श्रेयसं शिवं भद्रं कल्याणमंगलं शुभम्।
   भावुकं भविकं भव्यं कुशलक्षेममस्त्रियाम्।।
   –अमरकोश–1/4/24.25
2. सुखवेद्यं शुभं ध्यानादातृतीयादत: परम्।
   अदु:खासुखवेद्यं तु दु:खवेद्यमिहाशुभम्।।– अभिधर्मकोश–4.47
3. भारतीय नीति का विकास–पृ.1
4. भारतीय नीतिशास्त्र (पृ. 24–29)
5. अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं शुभाशुभम्।

जानना चाहिये- 1. परमार्थतः, 2. स्वभावतः, 3. सम्प्रयोगों से, और 4. समुत्थान से। परमार्थ शुभ मोक्ष है क्योंकि वहाँ अक्षेम का लेश भी नहीं होता। वह परमक्षेमरूप होने के कारण परमार्थ रूप से कुशल है यथा आरोग्य। इस स्वभावतः शुभादि से पदार्थ सम्प्रयोग से शुभ कहलाते हैं क्योंकि उनसे सम्प्रयुक्त हुए बिना इसमें कुशलता नहीं आ सकती। लोक में इस सम्बन्ध में उदाहरण मिलता है-औषधि में मिला हुआ पानी। पानी स्वतः रोगों के लिये लाभप्रद न होकर औषध के कारण लाभप्रद होता है। विनय-लज्जादि स्वाभाविक शुभ हैं और इनके मेल से अन्य पदार्थ भी शुभ कहे जाते हैं यथा इन गुणों से युक्त व्यक्ति। इन सभी शुभों से उच्च मोक्षरूप परमशुभ हैं। मूलतः तीन प्रकार के शुभ हो सकते हैं-1. परमसाध्य, 2. साध्य (मुख्य एवं गौण), और 3. साधन।

इसके विपरीत प्रकृति वाले अशुभ कहे गये हैं।[1] इनके चार भेद हैं-परमार्थ अशुभ संसार हैं, अलज्जा लोभ आदि स्वभावतः अशुभ हैं। इनसे सम्प्रयुक्त पदार्थ सम्प्रयोग से अशुभ और इनसे उत्थापित जरा, मरण आदि समुत्थान से अशुभ हैं। इसके उदाहरण क्रमशः व्याधि-अपथ्यौषधि आदि हैं।

आचार का महत्त्व

'श्रेष्ठ' और 'आर्य' की जो भारतीय परिकल्पना है, उसमें अत्यन्त विभिन्न गुणों का समावेश है। हृदय में हितैषिता, परोपकारिता, प्रीति, करुणा, परार्थभावना, सहिष्णुता, उदारता, दयालुता, धीरता, चरित्र में साहस, शौर्य, तेज, स्वामिभक्ति, जितेन्द्रियता, सत्य, सम्मान, न्याय, श्रद्धा, यथास्थान, आज्ञापालन और आदर-सत्कार, साथ ही शासन और संचालन करने की शक्ति भी, एक सुन्दर विनयशीलता और फिर प्रबल स्वातन्त्र्य भावना एवं उदात्त आत्माभिमान मन में प्रज्ञा, मनीषा, विद्या, प्रेम, समस्त श्रेष्ठतम विद्या का ज्ञान, काव्य, कला और सौन्दर्य के प्रति उन्मुक्तता, कर्मों में शिक्षालब्ध योग्यता और कौशल, आभ्यंतरिक सत्ता में तीव्र धार्मिक भावना, पुण्यशीलता, ईश्वर प्रेम, 'परम' की खोज, आध्यात्मिक झुकाव, सामाजिक सम्बन्धों में पिता, पति, भाई, सम्बन्धी, मित्र शाासक या शासित, स्वामी या सेवक, पुरोहित या योद्धा या कर्मी, राजा या ऋषि, जाति या वर्ण के सदस्य के रूप में समस्त सामाजिक धर्मों का कठोर

---

1. विपर्ययेणाकुशलम् अभिधर्मकोश, 4.9

पालन, यह आदर्श प्राचीन भारत के दो सहस्राब्दियों के इतिहास में स्पष्टतः चित्रित है और हिन्दू शास्त्र का प्राण है।[1]

मानव के जीवन में आचार का महत्त्व उपर्युक्त पंक्तियों के माध्यम से स्पष्ट है। हमारे प्राचीन-अर्वाचीन संस्कृत-साहित्य में भी आचार के महत्त्व का प्रतिपादन विशद रूप से किया गया है। स्मृतियों में समान्यतया आचार-पालन एवं उसके महत्त्व को पर्याप्त बल दिया गया है मनुस्मृति के प्रथम अध्याय[2] में आचार के महत्त्व के सन्दर्भ में मनु कहते हैं कि श्रुति में कहा गया और स्मृति में प्रतिपादित आचार परमधर्म है। इसलिए आत्मवान् द्विज इसमें सदा निरत रहें। आचार से गिरा हुआ वेद के फल को प्राप्त नहीं करता, आचार से युक्त सम्पूर्ण फल को प्राप्त करने वाला होता है, इस प्रकार मुनियों ने आचार से ही धर्म की गति को देखकर सारे तप के परम मूल आचार को ही ग्रहण किया।

विष्णुस्मृति में सदाचारवान् मनुष्य को सौ वर्षों तक जीने वाला बतलाया गया है।[3] आचार से आयु, गति तथा अक्षय धन की प्राप्ति होती है, आचार अलक्षण को नष्ट करता है। सब लक्षणों से हीन होने पर भी सदाचारवान्, श्रद्धावान् तथा ईर्ष्या न करने वाला व्यक्ति सौ वर्षों तक जीवित रहता है।

पाराशर स्मृति में भी आचार को धर्म का पालक बताते हुए कहा है कि आचार से भष्ट व्यक्तियों से धर्म विमुख हो जाता है।[4]

1. भारतीय संस्कृति के आधार, श्री अरविन्द, पृ. 131.
2. आचारः परमो धर्मःश्रुत्युक्तः स्मार्त एव च।
   तस्मादस्मिन् सदा युक्तो नित्यं स्यादात्मवान् द्विजः।।
   आचारद्विच्युतो विप्रो न वेदफलमश्नुते।
   आचारेण तु संयुक्तः सम्पूर्ण फलभाग्भवेत्।।
   एचमाचारतो दृष्टवा धर्मस्य मुनयो गतिम्।
   सर्वस्य तपसो मूलमाचारं जगृहुः परम्।।-मनुस्मृति, 1.108.-11
3. आचाराल्लभते चायुराचारादीप्सितां गतिम्।
   आचारद्धनमक्षंय्यमाचाराद्धन्यलक्षणम्।।
   सर्वलक्षणहीनोऽपि यः सदाचारवान्नरः।
   श्रद्धधानोऽनसूयश्च शतं वर्षाणि जीवति।।-विष्णुस्मृति, अध्याय 71.
4. चतुर्णामपि वर्णानामाचारो धर्मपालकः।
   आचारभ्रष्टदेहानां धर्मोऽपि पराङ्मुखः।।-पाराशरस्मृति, प्रथम अध्याय.

बृहत्पाराशरस्मृति में मनुष्य के इह तथा पर दोनों लोक श्रेष्ठ बताये गये हैं-जो जितेन्द्रिय विद्वान् सदैव आचारपूर्वक व्यवहार करता है। वह परमब्रह्म को प्राप्त करता है तथा इहलोक और परलोक में वरणीय होता है।

इसी स्मृति में आगे आचार की वृक्ष के रूप में कल्पना करके आचार का महत्त्व बड़े सुन्दर ढंग से प्रतिपादित किया गया है-आचार वृक्ष की जड़ श्रुतिशास्त्र, शाखायें उनमें कहे गये कृत्य, पत्ते उन कृत्यों का नियोग तथा पुष्प यश हैं। आचार वृक्ष का फल स्वर्ग है, उसमें से सुस्वादु रस मुक्ति है अतः अनन्त फलँदायी तत्त्व आचार का ही यत्नपूर्वक आश्रय लेना चाहिये।[1]

इसी के छठे अध्याय में आचारवान व्यक्ति के पास क्या-क्या होता है इसका भी उल्लेख किया गया है-आचारवान् मनुष्य आयु, वित्त, पुत्र, सुख धर्म तथा शाश्वत ईशलोक और इसलोक में भी विद्वज्जनों द्वारा आदर प्राप्त करते हैं।[2]

शाण्डिल्यस्मृत्ति में भी आचार का अभिप्राय स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि-पंचेन्द्रिय देह, बुद्धि, मन तथा द्रव्यदेश की क्रियाओं की शुद्धि को आचार कहते हैं।[3]

---

1. आचारेण सदा विद्वान्वर्तेत यो जितेन्द्रियः।
   स ब्रह्मपरमाप्नोति वरेण्योऽमुत्र चेह च।।
   आचारमूलं श्रुतिशास्त्रवित्तं, आचारशाखाश्च तदुक्तकृत्यम्।
   आचारपर्णानि हि तन्नियोगम् आचारपुष्पाणि यशोधनानि।।
   आचारवृक्षस्य फलं हि नाकस्तस्माच्च सुस्वादुरसश्च मुक्तिः।
   तस्मादनन्तं फलदं तु तत्त्वमाचारमेवाश्रय यत्नपूर्वम्।।-बृहत्पराशस्मृति- 1.376.378,
2. आचारवन्तो मनुजा लभन्ते
   आयुश्च वित्तं च सुतांश्च सौख्यम्।
   धर्मं तथा शाश्वतमीशलोकम्
   अत्रापि विद्वज्जनपूज्यतां च।। बृहत्पराशरस्मृति 6.203
3. पंचेन्द्रियस्य देहस्य बुद्धेश्च मनसस्तथा।
   द्रव्यदेशक्रियाणां च शुद्धिराचार इष्यते।।- शाण्डिल्यस्मृति-1.11

वसिष्ठस्मृति में भी आचारहीन एवं दुराचारी व्यक्ति की निन्दा की गई है तथा सदाचारी व्यक्ति को श्री एवं धन से युक्त बताया गया है।[1]

इस प्रकार विभिन्न स्मृति-ग्रन्थों के अनुशीलन से हमें यह ज्ञात हो जाता है कि हमारे पूर्वज आचार को जीवन का मुख्य विषय तो क्या सर्वस्व ही मानते थे। मनुस्मृति के "श्रुत्युक्त" से स्पष्ट होता है कि श्रुतिप्रतिपादित आचार अर्थात् वेदों में प्रतिपादित आचार ही परमधर्म है।

आचार के महत्त्व को दर्शाते हुए डॉ. वाचस्पति गैरोला ने अपनी पुस्तक में कहा है कि चरित्र की श्रेष्ठता वैदिक संस्कृति का मूल है। इस चारित्रिक श्रेष्ठता के उपदान हैं नैतिकता, शील, सदाचार और मर्यादा। चारित्रिक श्रेष्ठता समस्त विद्याओं, शास्त्रों और धर्मों का आधार है। यह एक सामान्य राष्ट्रधर्म है जिसके परिपालन के बिना राष्ट्र का उद्धार सम्भव नहीं है। वैदिक ऋषि-महर्षियों से लेकर परवर्ती सन्त-महात्माओं ने राष्ट्र के चारित्रिक बल को सुदृढ़ बनाये रखने के लिये समय-समय पर अनेक कार्य किये। चारित्रिक श्रेष्ठता से आत्मबल प्राप्त होता है और आत्मबल के लिये नैतिकता और सदाचार का परिपालन आवश्यक है।

आचार के प्राण तो वास्तव में मनुष्य के विचार ही हैं। बुद्धि के द्वारा निर्मल किये गये विचारों का तेजोमय स्वरूप जब हमारे जीवन में परिलक्षित होता है तभी मानव आचारविषयक शुद्धता पर बल देता है। आचार शुद्धता के कारण पूर्ण शक्तिसम्पन्न होकर भले ही तुरन्त फल न प्रदान करे लेकिन जीवन को ठोस आधार प्रदान करने में आचरण की भूमिका की उपेक्षा भी नहीं की जा सकती है।

---

1. आचारः फलते धर्ममाचारः फलते धनम्।
   आचाराच्छ्रियमाप्नोति आचारो हन्त्यलक्षणाम्।।
   सर्वलक्षणहीनोऽपि यः सदाचारवान्नरः।
   श्रद्धधानोऽनसूयश्च शतं वर्षाणि जीवति।।-वसिष्ठस्मृति-7.8

तृतीय अध्याय

पौरस्त्य दार्शनिक प्रस्थानों में आचार-दर्शन

वस्तुतः प्राचीन भारतीय आचार-दर्शनों या नीतितत्त्वों का वर्णन दार्शनिक ग्रन्थों ओर धर्मशास्त्र के नाम से प्रसिद्ध स्मृतिग्रन्थों तथा सूत्र ग्रन्थों में उपलब्ध है। पुराण तथा इतिहास ग्रन्थों में भी इस प्रकार के पर्याप्त विचार प्रस्तुत किये गये हैं। शुक्राचार्य की नीतिशास्त्रीय परिभाषा में कहा गया है[1] जो सबकी आजीविका का साधन, लोक में स्थिति बनाये रखने वाला, धर्म, अर्थ और काम का मूल तथा मोक्षप्रद है, वह नीतिशास्त्र कहलाता है।

मनुष्य को केवल इसी जीवन तक अपनी सत्ता या सार्थकता नहीं समझनी चाहिये अपितु इसके बाद भी आत्मा का अस्तित्व रहता है और जीवन की भी अनन्त संभावनायें बतलायी गई हैं। यह विचार हमें समग्र भारतीयचिन्तन के आधार रूप में दृष्टिगोचर होता है।

यह सुनिश्चित है कि वैदिककाल से लेकर आज तक भारत में नैतिक चिन्तन की अबाध परम्परा चली आ रही है। यहाँ नीति का केवल शास्त्रीय या बौद्धिक विवेचन मात्र नहीं होता रहा अपितु जीवन और आचार दोनों के संदर्भों में नैतिक चिन्तन की सार्थकता रही है। आचार का संबंध धर्म और दर्शन से तो है ही, साथ ही व्यक्ति और समाज के सन्दर्भ में भी नीतिपरक विवेचना की गई है। इसके अतिरिक्त वैयक्तिक जीवन में विशेष रूप से आचार पर बल दिया गया है। विभिन्न कालों में और भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों में आचार-दर्शन का स्वरूप इस प्रकार हमें दिखायी देता है। इस काल में मुख्यतः ऋग्वेद का ही समावेश किया गया है। ऋग्वेद में 'देव' शब्द का अर्थ-ज्ञापकता, दिव्यता,

---

1. सर्वोपजीवकं लोकस्थितिकृन्नीतिशास्त्रकम्। धर्मार्थकाममूलं हि स्मृतं मोक्षप्रदं यतः।। शुक्रनीतिसार 1/5

उच्चता, परोपकारिता आदि है तथा इसे कल्याणकारी शक्तियों का अधिष्ठाता माना गया है अतः देवता शुभ, सत्य, हित आदि के धारक एवं प्रदाता और दोषों के नाशक माने गये हैं। ऋग्वेद में ऋत[1], सत्य[2], अहिंसा, मैत्री[3], अभय[4], स्वस्ति[5], विवेक बुद्धि[6], दान, यश, पापराहित्य[7] आदि आचारिक तत्त्व प्रमुख रूप से वर्णित हैं।

"ऋत" देवी जगत् का ऐसा शाश्वत एवं अटल विधान है जिसके अधीन धरती, आकाश, सूर्य चन्द्र आदि प्राकृतिक तत्त्व मर्यादित होकर अपने-अपने कर्म में संलग्न हैं। इस मानवजगत् में "ऋत" उन नैतिक मूल्यों एवं आदर्शों का अधिष्ठाता है जो जीवन के प्रेरक हैं तथा जिन पर सभ्य समाज प्रतिष्ठित है। यास्क की दृष्टि में ऋत का अर्थ है – उदक, सत्य एवं यज्ञ।[8] सायण ने "ऋत" को कर्मफल, स्तोत्र एवं गति अर्थ का वाचक स्वीकार किया है।[9] पाश्चात्य भाष्यकार ग्रिफिथ ने "ऋत" को विश्व की व्यवस्था एवं निर्देश करने वाला तत्त्व हैं। डॉ. मंगलदेवशास्त्री 'ऋत' और 'सत्य' का अभिप्राय "सारे विश्व प्रपंच में व्याप्त नैतिक आधार" लेते हैं।[10] पाश्चात्य विद्वानों की दृष्टि में 'ऋत'

---

1. ऋतस्य ही शुरूधः सन्ति पुर्वीर्ऋतस्य धीतिर्वृजिनानि हन्ति। ऋतस्य श्लोको बधिरा ततर्द कर्णा बुधानः शुचमान आयोः।। ऋतस्य दुसहा धरूणानि सन्ति पुरूणि चन्द्रा वपुषेव पूंषि।ऋतेन दीर्घमिषणन्त पृक्ष ऋतेन गाव ऋतमा विपेशुः।।ऋतं येमान ऋतमिद् वनोत्युतस्य शुष्मस्तुरया उ गव्युः।ऋताय पृथिवी बहुले गभीरे ऋताय परश्रे दुह्यते।।ऋ. सं. 4.23.8 10
2. पापासः सन्तो अनृता असत्या इदं पदमजनता गभीरम्।।ऋ. सं. 4.5.5
3. शिवा नः सख्यां भ्रात्राऽग्ने देवेषु युष्मे।ऋ. सं. 74.10.8
4. ऋ. 10.7.7
5. स्वस्ति पन्थामनु चरेम।ऋ. सं. 5.51.15
6. यक्षन्ति प्रचेतसः। मज्जन्त्यविचेतसः।ऋ. सं. 9.64.21
7. तरन्तो विश्वा दुरिता स्याम ऋ. सं. 10.3.1.1
8. ऋतमित्युदकनाम- निरूक्त 2.25, सत्यं वा यज्ञं वा-निरुक्त 4.191
9. ऋतस्य सत्यस्यावश्यंभाविनः कर्मफलस्य ऋ. सं. के 1.1.16 में ऋत शब्द पर सायण भाष्य।
10. भारतीय संस्कृति का विकास (वैदिक धारा)-डॉ. मंगलदेव शास्त्री, पृ. 330

सर्ग सिद्धान्त का वाचक है।[1] कालान्तर में ऋत को सत्य का पर्याय माना जाने लगा जबकि ऋग्वेद से यह स्पष्ट होता है ऋत और सत्य परस्पर सम्बद्ध होते हुए भी भिन्न तत्त्व हैं।[2] घाटे के अनुसार विकास की अन्तिम दशा में "ऋत" वह नैतिक विधान है जिसका पालन प्रत्येक सदाचारी के लिए आवश्यक है।[3] ऋत और सत्य पर आधारित सुव्यवस्थित संकल्पयुक्त आचरण 'व्रत' कहा गया है। देव के आदेश 'ध्यान' कहे गये हैं। धर्म वस्तु और मानव का स्वभाव है जो उसके कल्याण के लिए विविध नियमों में अभिव्यक्त होता है। मानव के सभी कर्तव्यों को यज्ञ का रूप दिया गया है। पाप और अपराध के लिए भी 'अदेव' और 'अयज्ञ' आदि अनेक शब्दों का प्रयोग ऋग्वेद में मिलता है। सामाजिक बुराइयों और अच्छाइयों के विषय में भी ऋग्वेद में पर्याप्त प्रकाश डाला गया है।

सामाजिक संगठन आदि के सम्बन्ध में प्रसिद्ध पुरुष सूक्त विराट् पुरुष के अंगों के रूप में समाज के विभिन्न वर्गों का प्रतिपादन करता है। इस प्रकार जीवन के सभी पक्षों से संबंधित गुण-दोषों का वर्णन ऋग्वेद में उपलब्ध होता है किन्तु यहाँ भावना या विश्वास पक्ष की ही प्रधानता लक्षित होती है। ऋग्वेद में दुष्कृत्य के दुष्फल के विषय में भी सम्यक् व्याख्या की गई है। द्यूतक्रीड़ा वेद की दृष्टि में दुष्कृत्य है और कृषि सत्कृत्य।[4] ऋग्वेद के दशम मण्डल में दान की महिमा का विशद वर्णन करते हुए प्रेरणा-हेतु विविध प्रकार के प्रलोभन तथा आधार दिये गये हैं।[5] इस काल में मनुष्यों को यह भलीभांति ज्ञात था कि मानव को अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए यज्ञादि श्रेष्ठ कर्म करके देवों को अवश्य प्रसन्न करना चाहिये ताकि उन्हें सुफल प्राप्त हों।[6]

---

1. वैदिक देवशास्त्र- डॉ. सूर्यकान्त, पृ.18
2. ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्, ऋते सत्यं प्रतिष्ठितम्- ऋ. सं.
3. लेक्चर्स आन ऋग्वेद-घाटे, पृ. 3,144
4. अश्वस्येव जरतो वस्न्यस्य नाद्धं विन्दामि कितवस्य भोगम्। ऋ. सं. 10.34.3
5. न भोजा मभ्रुर्न न्यर्थमीयर्नु रिष्यन्ति न व्यथन्ते ह भोजाः।
   इदं युद्विश्चं भुवनं स्वश्चैत्वसर्व दक्षिणैभ्यो ददाति।। ऋ. सं. 10210/7/8
6. नाकस्य पृष्ठ अधितिष्ठति श्रितो यः पृणाति सहदेवेषु गच्छति।
   तस्मा आपो घृतमर्षन्ति सिन्धवस्तस्मां इयं दक्षिणां पिन्वते सदा।। ऋ. सं. 1.125.5

उत्तर वैदिक कालीन आचार

उत्तर वैदिककाल के अन्तर्गत यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद तथा ब्राह्मण, आरण्यक एवं उपनिषद् सम्मिलित हैं। इस काल में कर्मकाण्ड तथा चिन्तन की समाज में प्रधानता हो गई। ब्राह्मण ग्रन्थों में मनुष्य के तीन ऋण और पाँच यज्ञ प्रतिपादित किये गये हैं जिनके माध्यम से मनुष्य विश्व के साथ अपना समुचित सम्पर्क और सामंजस्य स्थापित करता है। इसके साथ ही ब्राह्मणसाहित्य में कर्तव्य कर्म दो भागों में विभाजित किये गये हैं - 1. इष्ट और 2. पूर्त। विविध यज्ञादि इष्ट कर्म के अन्तर्गत आते हैं जिनके करने से पुण्य तो नहीं होता किन्तु न करने से पाप अवश्य होता है। लोकोपकारी कार्य दान-धर्मादि पूर्त के अन्तर्गत आते हैं।

उपनिषद्-साहित्य में भी आचारपरक दार्शनिक विवेचन उपलब्ध होता है किन्तु अल्प और सारभूत। उपनिषदों ने नैतिक आदर्श के रूप में ब्रह्म को प्रतिपादित करने का प्रयास किया है जहाँ सुख-दुःख राग-विरागादि समस्त प्रपंचों से मुक्ति मिल जाती है। इस अन्तिम आदर्श के परिप्रेक्ष्य में वैयक्तिक और सामाजिक कर्तव्यपालन की सार्थकता प्रतिपादित है। उपनिषदों में निष्काम कर्म का भी मूल बीज उपलब्ध होता है।[1]

तत्त्वज्ञान के अतिरिक्त अनेक प्रेरक निर्देश हमें उपनिषदों में प्राप्त होते हैं जैसे ईशावास्योपनिषद् में कहा गया है-

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुंजीथाः मा गृधः कस्य स्विद् धनम्।।

इसी उपनिषद में आगे ज्ञान के अनुष्ठान से अमरता की प्राप्ति (विद्ययाऽमृतमश्नुते) कार्यों के प्रति सजगता (कृतंस्मर), आत्महनन की निन्दा आदि का वर्णन किया गया है। उपनिषदों में वर्णाश्रम धर्म साधन के रूप में स्वीकृत किये गये हैं।

आज धार्मिक हिन्दू अपने दैनिक जीवन में भी जिन वेदमंत्रों या उपनिषद्-

---

1. कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेन्छतं समाः।
   एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्मलिप्यते नरे।। -वा. सं. 40.21

वाक्यों का पाठ करता है, उनमें भी नैतिक तत्त्व मूलतः उपलब्ध होते हैं। प्रसिद्ध गायत्री मंत्र में बुद्धि की सत्प्रेरणा हेतु प्रार्थना की गई है।[1] आँख-कान से भद्र सुनने-देखने तथा पुष्ट अंगों से युक्त होकर देवहित में अपनी आयु प्राप्त करने की प्रार्थना की गई है।[2]

ऐसे ही साथ-साथ चलने, भोजन करने, पेय पीने और समस्त कल्याण में रत होने की प्रार्थना या मंगल-संदेश विभिन्न मन्त्रों में समाविष्ट हैं। इसी प्रकार असत् से सन्मार्ग की ओर जाने की भी प्रार्थनायें हैं -

असतो मा सद्गमय तमसो मा ज्योतिर्गमय।
मृत्योर्माऽमृतं गमय।।

स्मृतियों में आचार

स्मृतियों के संदर्भ में रघुवंश महाकाव्य में महाकवि कालिदास ने कहा है कि ये छाया की तरह वेदों का अनुसरण करती हैं।[3] इनके साथ धर्मसूत्रों और धर्मशास्त्रों का भी समावेश किया गया है। मनुस्मृति एवं याज्ञवल्क्यस्मृति तथा सूत्रों में गौतम, आपस्तम्ब, आश्वलायन आदि सूत्रग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। इनमें वैयक्तिक विकास के विविध नियम प्रस्तावित किये गये हैं और सामाजिक जीवन की सुदृढ़ता-हेतु इन धर्मशास्त्रकारों ने बड़े विस्तार से विचार रखे हैं। इनके अतिरिक्त उनमें जन्म से मरणपर्यन्त सम्पन्न होने वाले विविध संस्कारों तथा कर्मकाण्डों की कार्यपद्धति का भी बड़े विस्तार से विचार किया है। वैयक्तिक सिद्धि के सन्दर्भ में मनु का यह कथन प्रसिद्ध है, जिसमें धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, धी, विद्या, सत्य और अक्रोध रूप में दस धर्म बतलाये गये हैं।[4]

इन्हीं स्मृतियों द्वारा वर्ण तथा आश्रय धर्म की प्रस्थापना विभिन्न रूपों में

---

1. तत्सवितुवरिण्यं भर्गो देवस्य धीमहि, धियो योनः प्रचोदयात्।
2. भद्रं कर्णेभिः श्रणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः। स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवासंस्तनूभिर्व्यशेम हिदेवहितं यदायुः।।
   ऋ. 1.89.8, साम 18.74 वा. सं 25.21, मै
3. छायेव तां स्मृतिरन्वगच्छत्-रघुवंश, 2/3
4. धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्। मनुस्मृति 6.92

की गई है और उन्हें वर्णाश्रम धर्म में रखा गया है। गुण, कर्म एवं स्वभावानुसार समाज में मनुष्य का स्थान एवं उसके कर्तव्य मनु के अनुसार वर्ण धर्म हैं।[1] वर्ण-विभाजन को मनु ने समाज-कल्याण का कारण माना है।[2] वर्णों के अनुसार चारों आश्रमों के भी विशिष्ट कर्तव्य मनु ने बतलाये हैं।[3] कभी-कभी मनुष्य के सामने ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं जब उसका सामान्य और वर्णाश्रम धर्म से काम नहीं चल पाता, इन विशेष परिस्थितियों में मनु ने आपद् धर्म के आचरण का निर्देश किया है।[4]

मनु ने आचार के प्रमाण के लिए श्रुति, स्मृति, सदाचार और अन्तःकरण के रूप में चार आधार भी स्वीकृत किये हैं।[5]

महाकाव्यों में आचार

रामायण तो आदि महाकाव्य है इसके अतिरिक्त इन दो मूलग्रन्थों के आधार पर अनेकविध साहित्य रचे हुए हैं। रामायण का आदर्श ही एक आदर्श पुरुष के अन्वेषण की जिज्ञासा से हुआ है और मर्यादा पुरुषोत्तम के रूप में भगवान् राम के चरित्र का मंगलकारी चित्रण किया गया है।[6]

महर्षि वाल्मीकि ने जहाँ वैयक्तिक गुणों का पूर्ण विश्लेषण किया है,

---

1. अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा दानं प्रतिग्रहश्चैव ब्राहमणानामकल्पयत।।
   प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च। विषयेष्वप्रसक्तिश्च च क्षत्रियस्य समादिशत्।।
   पशूनां रक्षणं दानमिज्याघ्यनमेव च। वणिक्कर्म कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च।।
   एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत् एतेषामेववर्णानां शुश्रुषामनसूयया।।
   मनु. 1.87.-91
2. लोकानां तु विवृद्ध्यर्थम् -मनु. 1.3.7
3. ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थो यतिस्तथा। एते गृहस्थप्रभवाश्चत्वारा पृथगाश्रमाः।।
   मनु. 6.87
4. मनु. 10.8.1,98.121
5. वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः। एतच्चतुर्विधं प्राहुंः साक्षात् धर्मस्यलक्षणम्।।
   मनु. 2.12
6. कोऽन्वस्मिन् साम्प्रतं लोके गुणवान् कश्चवीर्यवान्।
   धर्मज्ञश्च कृतज्ञश्च सत्यवाक्यो दृढ़व्रतः।। वाल्मीकि रामायण, 1.1.12

वहीं लोककल्याण को जीवन का अपरिहार्य अंग माना है। रामायण के आधार पर रचित 'योगवशिष्ठ' तो जीवन के संचालक तत्त्वों का ही विस्तार से विवेचन करता है। यहाँ ऋषि वशिष्ठ ने रामचंद्र जी को अनेक प्रकार की शिक्षायें दी हैं जिनमें वर्णाश्रम धर्म, योग और परमतत्त्व सम्मिलित हैं। वैयक्तिक और सामाजिक सर्वविध गतिविधियों के संचालन के मार्गदर्शन योगवाशिष्ठ का प्रयोजन प्रतीत होता है।

महाभारत भी युधिष्ठिर को धर्म और सत्य के अवतार के रूप में तथा भीष्म को व्रतपालक और धर्मोपदेशक के रूप में प्रतिष्ठापित करता है। इसके अतिरिक्त अनेक उच्च चरित्रों का तथा धर्माधर्म का विवेचन महाभारत में किया गया है।

गीता महाभारत का ही अंग है जिसका विषय नैतिक जिज्ञासा है। यह सर्वविदित है कि अर्जुन कर्तव्याकर्तव्य की विमूढ़ता को प्राप्त होकर श्रीकृष्ण से जिज्ञासा करते हैं और श्रीकृष्ण उन्हें लंबे ऊहापोह के साथ निष्काम कर्मयोग का आदेश देते हैं। जीवन के विविध क्षणों में उठने वाली शंकायें तथा मानवीय जीवन से सम्बन्धित कर्माकर्म, गुण-दोष, लाभ-हानि आदि का विशुद्ध विश्लेषण भगवद्गीता करती है। विविध पुराणों, उपपुराणों ने भी प्रसंगतः वर्णाश्रम धर्म और अध्यात्मसाधना के लिए आवश्यक सद्गुणों का विवेचन किया है।

भारत में विभिन्न दार्शनिकों ने विभिन्न दर्शनों का निर्माण किया परन्तु केवल चार्वाक् दर्शन को छोड़कर सभी दर्शनों के कुछ मान्य निर्णय ऐसे हैं जो भारतीय आचार के मूलाधार हैं। धर्म-दर्शन और आचार का अटूट संबंध है किन्तु यह कहा जा सकता है कि धार्मिक विश्वास नीति के मूलाधार हैं। जब हम सत्य के विषय में चिंतन करते हैं और उसकी सत्यता पर जब हमें विश्वास हो जाता है तो उसकी प्राप्तिहेतु हम तदनुसार आचरण भी करने लगते हैं।

चार्वाक् मत में आचारदर्शन का स्थान

भारतीय शास्त्रकारों ने 'सर्वदर्शन संग्रह' सदृश ग्रन्थों में दार्शनिक प्रस्थानों का विवरण देते समय सर्वप्रथम चार्वाक् अथवा लोकायत मत का उल्लेख किया है।

चार्वाक् मत के अनुयायी यद्यपि ईश्वर की सत्ता, वेदों के प्रामाण्य और पारलौकिक कृत्यों के प्रति अविश्वास करते दिखाई देते हैं, लेकिन सत्य-संभाषण, अपनी जीविका के शुद्ध उपार्जन, पारस्परिक सद्‌भाव, कृषि एवं व्यापारादि कार्यों के करने तथा एक-दूसरे के प्रति ईमानदारी का व्यवहार करने के प्रति उनमें भी निश्चित ही आस्था रही होगी, क्योंकि इनके प्रति उन्होंने अनास्था के स्वर मुखरित नहीं किये हैं। पशु-पालन, कृषि व्यापार, राजनीति प्रभृतिकार्य भी सफल तभी हो सकते थे, जब उनका अनुष्ठान निष्ठा एवं ईमानदारी से किया जाये। 'सर्वसिद्धान्त संग्रह' की लोकायतमत निरूपिका कारिकाओं (8-16-18) से इसका कुछ आभास मिलता है कि चार्वाकों के मध्य भी किसी न किसी रूप में नैतिकता अथवा सदाचार का अस्तित्व रहा ही होगा।

बौद्ध दर्शन में आचार

बौद्ध धर्म का उदय दु:ख की निवृत्ति के लिए हुआ था और भगवान बुद्ध ने दु:ख-निरोध के मार्ग का अनुसंधान कर जनसामान्य के लिए उसका उपदेश किया। बौद्ध-दर्शन मुख्यत: आचार-दर्शन है। बुद्ध ने स्वयं कहा है कि यदि किसी को विषैला तीर लगा हो तो उसका पहला काम है उस तीर को निकालकर घाव का उपचार करना। उन्होंने तत्कालीन समाज को कुरीतियों से ग्रसित पाया और यह अनुभव किया कि प्रत्येक व्यक्ति को दु:ख है। उनके अनुसार चार आर्य-सत्य हैं -

1. यह संसार दु:खों से परिपूर्ण है।
2. दु:ख का अन्य घटनाओं की भांति कारण है।
3. दु:ख के कारण का अंत कर देने से दु:ख का नाश हो जाता है और
4. दु:ख-निरोध का एक मार्ग भी है।

संसार में दु:ख है। सभी प्राणी उससे पीड़ित हैं। बुद्ध ने दु:ख-निरोध को निर्वाण कहा है। निर्वाण की प्राप्ति इस जीवन में भी सम्भव है। दु:खों का नाश मानव-जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य है। चतुर्थ आर्य सत्य में बुद्ध ने दु:ख-निरोध का मार्ग बतलाया है। यह मार्ग अष्टसूत्रीय मार्ग है। इसमें आठ अंग हैं इसलिए

इसे अष्टांग-मार्ग कहा जाता है। इसका पालन सभी को करना चाहिये। ये आठ अंग क्रमशः इस प्रकार हैं :-

1. सम्यक् दृष्टि - अविद्या ही जरा-मरण का कारण है। अविद्या से मिथ्या-दृष्टि उत्पन्न होती है अतः सर्वप्रथम मिथ्या को दूर करना अर्थात् सम्यक्-दृष्टि प्राप्त करना आवश्यक है।

2. सम्यक् संकल्प - केवल आर्य-सत्यों का ज्ञान ही पर्याप्त नहीं है वरन् जीवन में दृढ़ संकल्पवान् होना भी आवश्यक है।

3. सम्यक् वाणी - सत्य ज्ञान का प्रथम प्रयोग है। अपने वचन पर नियंत्रण करना भी आवश्यक है। अप्रिय मिथ्या, निन्दा एवं छल से बंधना चाहिये।

4. सम्यक् कर्म - सम्यक् संकल्प केवल वाणी में ही नहीं, कर्म में भी होना चाहिये अतः अहिंसा, अस्तेय तथा इन्द्रिय - निग्रह का अभ्यास आवश्यक है।

5. सम्यक् आजीव - जीवन - शुद्धता के लिए जीविकोपार्जन के लिए निषिद्ध मार्गों का पालन कभी न करने का दृढ़ संकल्प करना ही सम्यक् आजीव है।

6. सम्यक् व्यायाम - यह संभव है कि दृढ़ संकल्पवान् होकर भी हम कभी अपने से विचलित हो जायें। अतः हमें प्रयत्न करना चाहिये कि -

   क. पूर्व के बुरे भाव का पूर्ण नाश हो जाये,

   ख. नये बुरे भाव उत्पन्न न हों और

   ग. मन में सदा सद्विचार उत्पन्न हों।

   उपर्युक्त बातों का बारम्बार अभ्यास करना ही सम्यक् व्यायाम कहलाता है।

7. सम्यक् स्मृति - शरीर को शरीर, वेदना को वेदना, चित्त को चित्त और मानसिक दशा को मानसिक दशा के रूप में देखना चाहिये।

इन चारों के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान ही सम्यक् स्मृति है। वस्तु को यथार्थ स्वरूप में न मानने से आसक्ति बढ़ती है और उन्हें नहीं पाने से दु:ख होता है अत: जो ज्ञान हो चुका है उसका सदैव स्मरण रखना आवश्यक है।

8. सम्यक् समाधि – उपर्युक्त सात चरणों पर चल कर मनुष्य समाधि की चार अवस्थाओं में प्रवेश करता है।

प्रथम अवस्था – पहली अवस्था में चार सत्यों पर तर्क-वितर्क करके शुद्ध-विचार के कारण मनुष्य को अपूर्व आनंद का अनुभव होता है।

द्वितीय अवस्था – इसमें सभी सन्देह दूर हो जाते हैं और चार आर्य सत्यों के प्रति श्रद्धा बढ़ती है इससे शान्ति तथा चित्त में स्थिरता आती है।

तीसरी अवस्था – आनंद और शान्ति को भी मन से हटाकर उपेक्षा का भाव लाना। इस प्रयत्न से चित्त की साम्य अवस्था और उसके साथ-साथ दैहिक विश्राम का भाव भी आ जाता है।

चतुर्थ अवस्था – इसमें न आनंद न चित्त की साम्य अवस्था और न दैहिक विश्राम का भाव रहता है। यह अवस्था पूर्ण शान्ति, पूर्ण-विराम और पूर्ण संयम की है। यह अवस्था सुख-दु:ख से परे है। इसे ही निर्वाण-प्राप्ति या अर्हत पदप्राप्ति कहा जाता है। यह पूर्ण प्रज्ञापूर्ण शील और पूर्ण-समाधि की अवस्था है।

जैन-दर्शन में आचार

जैन दार्शनिकों ने भी आचार-नीति को बहुत महत्त्व दिया है। उन्होंने जीव के अनेक भेद और प्रभेद माने हैं। प्रथमत: जीव के दो भेद किये हैं – मुक्त और बद्ध। मुक्त-जीव वे हैं जो बन्धनों से मुक्त हैं। बद्ध अर्थात् वे जीव जो बन्धन में हैं। जीव और पुद्‌गल के संयोग को बन्धन कहा जाता है। बन्धन

कष्टों का कारण है और यदि बद्धजीवों को कष्टों से मुक्त होना है तो पुद्गल से वियोग होना आवश्यक है। यह तभी संभव होगा जब नये पुद्गल का आस्रव बन्द हो और जो पहले से हो, उसका नाश हो। पहले को 'संवर' और दूसरे को 'निर्जरा' कहते हैं।

ज्ञान ही अज्ञान को दूर कर सकता है अतः जैन-दार्शनिक सम्यक् ज्ञान को अधिक महत्त्व देते हैं। जैन-दर्शन के त्रिरत्न हैं -

1. सम्यक् ज्ञान
2. सम्यक् दर्शन और
3. सम्यक् चरित्र।

सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति पूर्ण ज्ञानी या मुक्त महात्माओं के उपदेशों के मनन से होती है। आदेशों का श्रद्धापूर्वक मनन करना सम्यक्-दर्शन है तथा सम्यक् ज्ञान के अनुकूल जीवन-यापन करना भी आवश्यक है। सम्यक् चरित्र के अनुसार वासना, इन्द्रिय, मन, वचन और कर्म को संयत करना पड़ता है। इसके फलस्वरूप नये कर्मों को नष्ट करने हेतु आवश्यक क्रियायें हैं -

1. पंच महाव्रत (अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह) का पालन।
2. चलने, बोलने, भिक्षादिग्रहण करने आदि में सतर्कता।
3. मन, वचन तथा कर्म में संयम का अभ्यास।
4. दस प्रकार के धर्मों का आचरण-क्षमा, मार्दव (कोमलता), आर्जव (सरलता), सत्य, शौच, संयम, तप (मानस और बाह्य), त्याग, अकिंचन और ब्रह्मचर्य।
5. जीव और संसार के यथार्थ तत्त्व के सम्बन्ध में भावना।
6. भूख-प्यास, शीतोष्ण आदि के कारण होने वाले उद्वेगों को सहन करना।
7. समता, निर्मलता, निर्लोभता और सच्चरित्रव्रत।

इनके अतिरिक्त जैन-दर्शन ने गृहस्थ के लिये नियमों का विधान किया है जिन्हें शिक्षाव्रत कहते हैं। जैन धर्म में आचार के कठोर-नियमों का प्रतिपादन और हिंसा का सर्वथा निषेध है। यह बहुचर्चित है कि हिंसा से बचने के लिए ही रात्रि-भोजन भी जैन-धर्म में निषिद्ध है।

सांख्यदर्शन में आचार

सांख्य दुःख की सार्वभौमिकता को स्वीकार करके अपने दर्शनशास्त्र का प्रारम्भ करता है[1] और यह दुःख तीन प्रकार का है।

1. आध्यात्मिक - मनुष्य के आत्मिक भौतिक स्वरूप के कारण उत्पन्न होने वाला दुःख,
2. आधिदैविक - अतिप्राकृतिक अर्थात् जो दैविक शक्ति के कारण प्राप्त हुआ हो तथा
3. आधिभौतिक - बाह्यजगत् के कारण उत्पन्न होने वाला दुःख।

वह दुःख जो शरीरसम्बन्धी अवस्थाओं अथवा मानसिकअशान्ति के कारण उत्पन्न हो प्रथम कोटि का दुःख है, द्वितीय कोटि का दुःख वह है जो मनुष्यों और पशु-पक्षियों से प्राप्त होता है और तृतीय कोटि के दुःख का अस्तित्व ग्रहों और पंचतत्वों के कारण है।[2] प्रत्येक व्यक्ति दुःख को कम करने तथा यथासम्भव छुटकारा पाने का प्रयत्न करता है किन्तु चिकित्साशास्त्र में निर्दिष्ट औषधियों और धर्मशास्त्रों में विहित उपायों से दुःख को जड़मूल से नष्ट नहीं किया जा सकता है।[3] बौद्ध एवं जैन मतों की भांति सांख्य में भी इस बात पर बल दिया गया है कि वैदिक कर्मकाण्डों में नैतिक-सिद्धान्तों के विपरीत आचरण पाया जाता है जैसे अग्निष्टोम-यज्ञ के लिए किसी पशु की हत्या के द्वारा अहिंसा के नैतिक सिद्धान्त पर व्याघात होता है। यद्यपि दुःख के बोध में बन्धन तथा क्रियाओं के रूप में भेद और अभेद चित्त या आभ्यंतर इन्द्रिय से

---

1. भारतीय दर्शन-डॉ. राधाकृष्णन् (पृ. सं. 265) सांख्य प्रवचन सूत्र 6:6 8
2. तत्त्वकौमुदी -1
3. सांख्यकारिका- 2

संबंध रखते हैं, तो भी पुरुष के सुख या दुःख केवल उसके अंदर पड़े दुःख के प्रतिबिम्ब रूप हैं।[1]

पुरुष का बंधन एक मिथ्या विचार है।[2] विज्ञान भिक्षु ने कूर्मपुराण से एक श्लोक उद्धृत किया है[3] जिसका आशय इस प्रकार है –"यदि आत्मा स्वभाव से अशुद्ध, अशुचि और विकारवान् होती तो वस्तुतः इसके लिए सैकड़ों जन्मों में भी मोक्ष संभव नहीं हो सकता।[4] बंधन का कारण काल या देश, शरीर धारण अथवा कर्म नहीं है।[5] पुरुष स्वभाव से ही नित्य या शुद्ध है ज्ञान स्वरूप तथा बन्धनरहित है।[6] ज्ञान तथा अज्ञान ही क्रमशः मोक्ष तथा बन्ध के निर्णायक होते हैं।"[7] पुरुष सदा से स्वतंत्र है। वह न इच्छा करता है, न द्वेष करता है, न शासन करता है, न आज्ञापालन करता है, न किसी को प्रवृत्त करता है और न रोकता है। नैतिक जीवन सूक्ष्म शरीर में निहित है जो प्रत्येक जन्म में पुरुष के साथ रहता है, दुःख शारीरिक जीवन का सार है।[8] – हमारी समस्त नैतिक क्रियायें अपने अन्तःस्थ पुरुष की पूर्णतर अवस्था ग्रहण करने के लिए है, नैतिक प्रक्रिया किसी नई वस्तु का विकास नहीं है बल्कि उसे खोज निकालना है जिसे हम भूल चुके हैं। अपने यथार्थ स्वरूप में लौट आने का नाम ही मोक्ष है और उस जुएं को उतार फेंकना है जिसके अधीन जीवन ने अपने को कर रखा है। यह उस भ्रांति को दूर करना है जो हमारे यथार्थ स्वरूप को हमारी दृष्टि से छिपाये हुए है। इस प्रकार का ज्ञान[9] कि मैं नहीं हूँ (नास्मि), मेरा कुछ नहीं है (न मे) और अहंभाव नहीं है (नाहम्) मोक्ष को प्राप्त करता है।[10] मोक्षप्राप्ति करने वाला ज्ञान धर्माचरण एवं योगादि से निष्पन्न होता

---

1. सांख्य प्रवचन भाष्य, 1.50.8
2. 'वाङ्मात्रम्'-सांख्य प्रवचन सूत्र वृत्ति, 1.58
3. कूर्मपुराण- 2.2.12
4. यद्यात्मा मलिनोऽस्वच्छो विकारी स्यात् स्वाभावतः।
   न हि तस्य भवेन्मुक्तिर्जन्मान्तरशतैरपि।।- सांख्य प्रवचन भाष्य, 1.7
5. सांख्य प्रवचनसूत्र, 12-16
6. सांख्य प्रवचन सूत्र-1.19
7. सांख्य प्रवचन सूत्र- 2.7
8. सांख्यकारिका, 55
9. सांख्यकारिका, 64
10. सांख्य प्रवचन भाष्य- 3.77-78

है।[1] निस्वार्थ कर्म अप्रत्यक्ष रूप से मोक्षादि का साधन है।[2] सद्-असद् विवेक के पश्चात् वैराग्य उत्पन्न होता है।[3]

नैतिक पुण्यकर्म चैतन्य की गहराई तक पहुंचने में हमारे सहायक बनते हैं जबकि दुष्कर्म इस चैतन्य को अंधकारमय बनाते हैं। दुराचरण में लिप्त रहने से आत्मा अपने को भौतिक शरीर में अधिकाधिक फंसा लेता है। सांख्यसूत्र में कहा गया है कि हम उसी दशा में विवेकमय ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं जबकि हमारी भावना-प्रधान उत्तेजनायें वश में रहें तथा हमारा अपनी बौद्धिक क्रियाओं पर नियंत्रण रहे। जब इन्द्रियाँ नियमपूर्वक काम करती हों और मन शान्ति प्राप्त कर ले तो बुद्धि पारदर्शी हो जाती है और उसमें पुरुष का विशुद्ध प्रकाश प्रतिबिम्बित होता है। बुद्धि का आभ्यंतर स्वरूप सात्विक है और अपने प्राप्त किये हुए संवेगों और प्रवृत्तियों (वासनाओं) के कारण उसका अपनी अन्त:स्थ-विशुद्ध से ह्रास हो जाता है, बाह्य पदार्थों से चित्त पर पड़े दोष चिन्ह ध्यान द्वारा दूर हो जाते हैं।[4]

सांख्य दर्शन में प्रतिपादित गुणों का सिद्धान्त[5] सदाचार की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। संसार के प्राणियों का वर्गीकरण उनके अन्दर भिन्न-भिन्न गुणों के अनुसार किया गया है। देवताओं में सत्त्व गुण, मनुष्यों में तमोगुण की प्रधानता तथा पशुजगत् में सत्त्वगुण का न्यूनतत्व दिखायी देता है वनस्पतियों में तमोगुण का प्राधान्य रहता है। वस्तुतः गुण हमारे मानसिक स्वरूप के निर्णायक होते हैं। यदि तमोगुण प्रधान हो तो वह निष्क्रियता उत्पन्न करता है। जिन मनुष्यों में रजोगुण प्रधान होता है वे साहसी, बैचेन और कर्मशील होते हैं। सत्त्वगुण के कारण विवेचनात्मक, संतुलित तथा विचारशील स्वभाव का विकास होता है। तीनों गुण भिन्न-भिन्न अनुपात में सब मनुष्यों में पाये जाते

---

1. सांख्य प्रवचन भाष्य-5.1.82.85
2. सांख्य प्रवचन भाष्य-5.1.82.85
3. तत्त्वकौमुदी-23
4. सांख्यप्रवचन सूत्र 3.30, सांख्य प्रवचन भाष्य, 3.30
5. जहाँ सांख्य में गुणों को ज्ञानरहित माना गया हैं, वहॉ वेदान्त के अनुसार वे बुद्धि के स्वरूप को प्रतिपादित करते हैं।

हैं। यद्यपि ये गुण हमारे जीवन के प्रत्येक भाव पर असर रखते हैं तो भी अपेक्षाकृत जीवन के तीन आवश्यक अवयवों पर अर्थात् मन, जीवन और शरीर पर अपना विशेष प्रभुत्व रखते हैं।

सांख्य मत में यज्ञों में किसी प्रकार के पुण्य स्वीकार नहीं किये गये हैं। इनके यहाँ शूद्रों के लिए उच्च शिक्षा का द्वार अवरुद्ध नहीं है बल्कि जो मुक्तात्मा है वही शिक्षक है। योग्य शिक्षक की प्राप्ति हमारे पूर्व जन्म के सुकृत से होती है।

सांख्य कारिकाओं में से 44 वीं कारिका स्पष्ट रू: से आचार-दर्शन के नियमों का विधान अपने ढंग से करती है। यह है-'धर्मेण गमनमूर्ध्व गमनमधस्ताद्भवत्यधर्मेण। ज्ञानेन चापवर्गो विपर्ययादिष्यते बन्धः।' इसमें आये 'धर्म' शब्द से जयमङ्गलाकार ने यम-नियमों का स्पष्ट ग्रहण किया है और वाचस्पति मिश्र ने अभ्युदय और निःश्रेयस् के साधक यज्ञ तथा दानादि के अनुष्ठान एवं अष्टांगयोग को निरूपित किया है। इसके बाद की 45 वीं कारिका में भी वैराग्यादि तत्त्वों का महत्त्व प्रतिष्ठापित दिखाई देता है - 'वैराग्यात् प्रकृतिलयः'। इसी प्रसंग में आगे आये 'राजसाद् रागात्' में 'राग' का अर्थ काम-कोधादि किया है, जिनसे छुटकारा पाना कैवल्यकामी के लिए आवश्यक है।

योग-दर्शन में आचार

महर्षि पतंजलि का योग-दर्शन सांख्य की तत्त्वज्ञान सम्बन्धी सैद्धन्तिक पृष्ठभूमि पर स्थित माना जाता है। इसमें यम और नियमों के द्वारा नैतिक साधना पर प्रकाश डाला गया है जिसके बिना योगाभ्यास करना संभव ही नहीं है। हमें अहिंसा, सत्य, अस्तेय, जितेन्द्रियता और अपरिग्रह का पालन करना चाहिये।[1] इनमें सबसे मुख्य है अहिंसा। शेष सब सद्गुण अहिंसा में ही बद्धमूल हैं। अहिंसा अर्थात् हर प्रकार से और हर समय समस्त जीवित प्राणियों के प्रति द्वेषभाव से परहेज करना।[2] यह केवल क्षति पहुँचाने का ही अभाव नहीं है

---

1. योगभाष्य 2.30
2. सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानामनभिद्रोहः- योगभाष्य 2.30

किन्तु वैर का त्याग भी है।[1] मैत्री का भाव, सहानुभूति, प्रसन्नचिन्नता और सुख-दु:खदायक, अच्छी और बुरी सब वस्तुओं के प्रति मानसिक विकारशून्यता इन सब गुणों को बढ़ाने व धारणा करने से चित्त को प्रसाद की प्राप्ति होती है। हमारे लिए ईर्ष्या-भाव से उन्मुक्त होना भी आवश्यक है तथा हमें दूसरों के दु:खों की उपेक्षा नहीं करनी चाहिये। पाप से घृणा करते हुए भी हमें पापी के प्रति भद्र व्यवहार ही करना चाहिये। 'किसी को मत मारो' - यह एक सुनिश्चित और निरपेक्ष आदेश है। सेना से भागे हुए, धर्मपरिवर्तन करने वाले तथा ब्राह्मणों की निन्दा करने वालों को मार सकते हैं। आत्मरक्षा के लिए हत्या करना भी धर्मसम्मत नहीं कहा जा सकता। यमों का पालन सार्वभौम धर्म है। इसमें जातिभेद, देशभेद, आयुभेद और अवस्थाभेद के कारण कोई अपवाद नहीं हो सकता।[2] इनको प्राप्त करने का विधान मनुष्य-मात्र के लिए किया गया है, चाहे ध्यानमय या चिन्तनमय उच्च जीवन के लिए सबको न चुना जा सके, नियमों के अन्तर्गत आभ्यंतर एवं बाह्य शुचिता, संतोष, तपस्या और ईश्वरभक्ति - ये सब आते हैं।[3] यम और नियम के अभ्यास से वैराग्य अर्थात् वासना का अभाव सुलभ हो जाता है अर्थात् इच्छा से चाहे वह सांसारिक पदार्थों के लिए हो चाहे स्वर्ग के सुखों के लिए, मुक्ति मिल ही जाती है।[4]

जब कभी हमें नैतिक आदेशों को भंग करने का प्रलोभन हो तो उस समय, योगदर्शन के आदेशानुसार हमें अनेक प्रतिपक्ष की भावना अपने अन्दर उत्पन्न करनी चाहिये।[5] मन की धारा का प्रभाव उभयपक्षों अर्थात् यह अच्छाई व बुराई दोनों दिशाओं में बहता है। जब इसकी गति मोक्ष तथा ज्ञान की दिशा में होती है तो कहा जाता है कि इसका प्रवाह अच्छाई की ओर होता है और जब यह जीवन के भंवर में फंसकर नीचे भेदज्ञान के अभाव की ओर होती है तब हम कहते हैं कि इसका प्रवाह बुराई की ओर है।[6]

1. योगभाष्य 2.35
2. योगभाष्य 2.31
3. योगभाष्य 2.32
4. योगभाष्य 1.15
5. योगभाष्य 2.33
6. योगभाष्य 1.12

कर्म की क्रियायें दो प्रकार की होती हैं - बाह्य और आभ्यंतरिक क्रियायें। इनका चारवर्गों में विभाजन किया गया है कृष्ण कर्म दुष्ट कर्म हैं जो बाह्य और आन्तरिक दो प्रकार के हैं। बाह्य कर्म जैसे दूसरों की निन्दा करना तथा आन्तरिक कर्म जैसे विश्वासं का अभाव है। शुक्ल कर्म धार्मिक क्रियायें हैं और वे आंतरिक हैं जैसे श्रद्धा-ज्ञानादि। शुक्ल-कृष्ण वे बाह्य कर्म हैं जो चाहे कितने भी अच्छे क्यों ने हों परन्तु बुराई के अंशों सें सर्वथारहित नहीं हैं। वैदिक कर्मों तक में भी अन्य प्राणियों को भी कुछ न कुछ क्षति पहुँचाना सम्मिलित है। अशुक्ल अकृष्ण अर्थात् न अच्छे न बुरे कर्म उनके हैं जिन्होंने सब कुछ त्याग दिया है।[1] उच्चतम श्रेणी की क्रियाशीलता का सम्बन्ध अन्तिम प्रकार के कर्मों से है।

पूर्वमीमांसा में आचार

टीकाकारों का कहना है कि जिसका आदेश दिया जाता है उसके अन्दर दुःख की अपेक्षा सुख उत्पन्न करने की क्षमता अधिक रहती है। इस प्रकार आचरण की पद्धतियाँ जिनका विधान किया जाता है, अभिलक्षित उद्देश्यों की ओर हमें ले जाती हैं। पारलौकिक सुख के लिए हमें लोक में आत्मत्याग का अभ्यास करना चाहिए। जिन कार्यों का परिणाम नुकसान या दुःख हो वे धर्म नहीं हैं। धर्म वे हैं जो हमें सुख की ओर ले जाते हैं।[2]

पूर्वमीमांसा द्वारा प्रतिपादित आचारपरक तथ्य ईश्वरीय ज्ञान के अनुकूल हैं।[3] मीमांसकों के अनुसार सत्कर्म वे हैं जो वेदविहित हैं। यदि स्मृतियाँ श्रुति की विरोधी हैं तो उन स्मृतियों को अमान्य ठहराना होगा।[4] यह हमें प्रतीत होता है कि स्मृतियों का निर्माण स्वार्थ की प्रेरणा से हुआ है तो ऐसी स्मृतियों को अवश्य त्याग देना चाहिये।[5] स्मृतियों से उतरकर सज्जन पुरुषों का आचरण

---

1. योग. भा., 4.7
2. आदेश विधि के अनुकूल हैं, कर्तव्य धर्म के अनुकूल हैं और अनुमति फल के अनुकूल हैं।
3. ईवरेच्छा के अनुसार तथा स्थायी सुख की कामना से मनुष्य-जाति का कल्याण करना।
4. पूर्वमीमांसा 1.33
5. पूर्वमीमांसा 1.34

अथवा प्रभा हमारे मार्गदर्शक हैं।[1] एक हिन्दू का जीवन वैदिक नियमों से शासित हैं और इसलिए हिन्दू-विधान की व्याख्या के लिए मीमांसा के नियम बहुत महत्त्वपूर्ण हैं।

मीमांसकों की दृष्टि में यदि हम सहज प्रेरणाओं के वश होकर कोई कार्य करते हैं तो हम धर्मात्मा नहीं हैं।[2] मोक्ष की प्राप्ति के लिए हमें सन्ध्या इत्यादि नित्य कर्मों का पालन करना चाहिये और उचित अवसर आने पर नैमित्तिक कर्मों का पालन करना चाहिये। यदि इन्हें हम पूर्ण नहीं करते तो हमें पाप लगता है। निषिद्ध कर्मों को त्यागकर ही हम नरक से बच सकते हैं। यदि हम अपने काम्य कर्मों से दूर रहें तो हम स्वयं को स्वार्थपरक उद्देश्यों से स्वतंत्र रख सकेंगे और यदि हम अपने प्रतिबन्धरहित कर्तव्य-कर्मों का पालन करते रहें तो हमें मोक्षलाभ होगा। जैमिनि के अनुसार, यज्ञ करने का अधिकार केवल ऊपर के तीन वर्णों अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य को ही है, क्योंकि शूद्र वेदों का अध्ययन नहीं कर सकते इसलिए वे यज्ञ करने के अधिकार से वंचित हैं।[3]

प्रभाकर के अनुयायी 'संकल्पशक्ति' का विस्तृत विश्लेषण करते हैं। 'सिद्धान्तमुक्तावली' के अनुसार ऐच्छिक कर्म-विवेचन इस क्रम से हैं - कार्यताज्ञान >चिकीर्षा >चेष्टा >क्रिया।

'कार्यता ज्ञान' अर्थात् कोई कार्य करना है इसका अभिज्ञान अर्थात् कर्तव्य का भाव, चिकीर्षा अर्थात् उसको करने की इच्छा इसमें यह ज्ञान उपलक्षित हैं, चेष्टा और क्रिया। प्रभाकर कल्याण की भावना की अपेक्षा कर्तव्य की भावना पर अधिक बल देता है। जबकि काम्य कर्मों में कल्याण की भावना विद्यमान रहती है, वैदिक यज्ञों में आदेश अपनी शाब्दिक शक्ति द्वारा कर्ता के अन्दर, उस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए कार्य करने की प्रेरणा उत्पन्न करता है जिसका संकेत आदेश में किया गया है। कुछ परवर्ती मीमांसकों की मान्यता है कि हम चाहे कितने भी यज्ञ क्यों न करें, फिर भी हो सकता है कि वे आन्तरिक भावना में कोई परिवर्तन न ला सकें। यदि पुण्य अथवा धर्म से

1. पूर्वमीमांसा 1.3.8-9
2. पूर्वमीमांसा 4.1.3
3. पूर्वमीमांसा 6.1.25-28

तात्पर्य नैतिकसुधार अथवा हृदय-परिवर्तन से है तो कर्मकाण्ड सम्बन्धी यज्ञ नहीं बल्कि स्वार्थत्याग आवश्यक है। वेद श्रद्धा, भक्ति और तपस्या का विधान करते हैं।[1] जिसका यज्ञों के साथ बहुत दूर का सम्बन्ध है। ईश्वरवादी मत, जो घोषणा करते हैं कि समस्त कार्य ईश्वर को समर्पित कर देना चाहिये, वेद की भावना के अनुकूल हैं। लौगाक्षिभास्कर के अनुसार, मोक्ष का कारण है- ईश्वरार्पण के भाव से कर्तव्य-पालन करना।[2] इस लोक में या परलोक में पुरस्कार का भाव अनासक्ति तथा आत्मत्याग की भावना को दबा देता है।

इसके अतिरिक्त मीमांसक मुख्य रूप से हमें यज्ञों के विषय में ही बतलाते हैं[3] और इस प्रकार मानवीय जीवन का मुख्य भाग अछूता छोड़ देते हैं।

पूर्वशाङ्कर वेदान्त-दर्शन

शंकराचार्य से पूर्व, वेदान्त की प्रस्थानत्रयी के प्रत्येक भाग में आचार-दर्शन का विस्तार से निरूपण दिखलाई देता है। उपनिषदों में प्राप्य आचार-दर्शन अपने मूल रूप में सम्पूर्ण विश्व के मानव-समाज का मार्गदर्शक है। 'हम अपने धन का त्यागमय उपभोग करें' (तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः), 'हम कर्म करते हुए ही शतायु हों, (कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः), तथा (न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः)' - मनुष्य की सन्तुष्टि पूर्ण तृप्ति केवल धन से ही नहीं हो सकती, प्रभृति आचार-निर्धारक तत्त्व मानव मात्र के लिए उपादेय हैं। सत्य, तपस्, श्रद्धा और ब्रह्मचर्य प्रभृति आचरणजन्य मूल्यों का इनमें विशद निरूपण है। वेदान्त से स्पष्टतया सम्बद्ध प्राचीन मैत्रायणी उपनिषद् में स्पष्ट कहा गया है -

'शुचौ देशे शुचिः सत्त्वस्थः सद्धीयानः सद्वादी सद्ध्यायी सद्याजी स्यात्' (षष्ठ प्रपाठक, 30), इसका अभिप्राय यह कि आत्मकल्याण के इच्छुक को चाहिए कि वह पवित्र स्थान पर, शुद्ध तथा सात्विकभाव से सम्पन्न होकर, सद्ग्रन्थों का अध्ययन करता हुआ सत्ययज्ञ का अनुष्ठान करे।

---

1. श्रद्धां देवा यजमाना---उपासते-ऋ 10,151,54
2. ईश्वरार्पणबुद्धया क्रियमाणस्तु निःश्रेयसहेतुः-अर्थसंग्रह
3. यागादिरेव धर्मः तल्लक्षणं वेदप्रतिपाद्य वदर्थो धर्मः-अर्थसंग्रह, पृ.-1

वेदान्त के दूसरे प्रस्थान ग्रन्थ भगवद्गीता की तो पंक्ति-पंक्ति में आचार-दर्शन का निरूपण है। निष्काम और अनासक्त कर्मों का अनुष्ठान, गीता के अनुसार तभी हो सकता है, जब मनुष्य सदाचार की ओर उन्मुख हो। नियमित आहार-विहार वाले, नपे-तुले आचरणवाले और कर्मों में युक्त चेष्टाओं तथा समय पर सोने और जगने वाले व्यक्ति की ही योगसाधना दुःखों का निवारण करती है -

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुः खहा।।

(गीता, 6.17)

अद्वैत वेदान्त में आचार

आचार्य शंकर का नीतिपरक चिन्तन उनके तत्त्वदर्शन पर ही आधारित है। मनुष्य का सर्वश्रेष्ठ हित इसमें है कि वह अपने उन बन्धनों को तोड़ दे जो उसे उस यथार्थ सत्ता से दूर रखे हुए हैं जो उसका अपना स्वरूप है। जीवात्मा का साक्षात्कार कर लेने का नाम ही मोक्ष है।[1] मुक्तात्मा कभी जन्म नहीं लेता क्योंकि वह कार्य-कारण की परिधि से दूर है।[2] जब मनुष्य सत्य का साक्षात् कर लेता है, वह परम्परागत नियमों तथा विधानों के बन्धन में नहीं रहता।[3] नैतिक प्रयत्न उच्चकोटि के कल्याण के प्रगतिशील सान्निध्य में है। पाप-पुण्य आनुभविक जगत् से सम्बन्धित हैं जहाँ जीव व्यक्तित्व का भाव रखते हैं। अविद्या का प्रभाव मनुष्य के व्यक्तित्व पर सम्पूर्ण रूप से पड़ता है अतः इससे मुक्तिहेतु न केवल सत्यज्ञान अपितु सदाचरण और ईश्वरभक्ति भी आवश्यक है। धर्म सर्वोपरि निःश्रेयस् की प्राप्ति में हमारा सहायक होता है। परिमित शक्ति वाले जीवात्मा को पूजा तथा उपासना के विषय में पूरी स्वतंत्रता दी गई है, जो अनन्त सत्ता की जिस किसी रूप में कल्पना कर सकता है क्योंकि जितनी भी आकृतियाँ हैं उसी एक परमसत्ता में न्यस्त हैं।[4]

---

1. गौडपाद, 2.10,38
2. वही, 4.75.3.30
3. वही, 2.37
4. वही, 2.29-30

मानवीय आत्मा और ईश्वर में परस्पर भेद के ऊपर निर्भर धर्म का स्वरूप सापेक्ष है और इसको साधन के रूप में महत्त्वपूर्ण होने के कारण स्वीकार किया गया है।[1] गौडपाद योगशास्त्रविहित पद्धति का साधन रूप में स्वीकार करते हैं। जब चित्त कल्पना करते-करते आत्मविषयक सत्य-ज्ञान के कारण विरत हो जाता है तो वह शून्य हो जाता है और तब चूंकि इसे किसी वस्तु का बोध ग्रहण करना शेष नहीं रहता इसलिए विश्रान्तिलाभ करता है।[2] इस अवस्था को सुषुप्ति-अवस्था के साथ नहीं मिला देना चाहिये क्योंकि यह एक ज्ञान की अवस्था है जिसका श्रेय-विषय है - 'ब्रह्म'।[3] यह भावात्मक वर्णन और द्वैतभाव से परे एक ऐसे क्षेत्र में है जहाँ कि ज्ञान आत्मा के अन्दर केन्द्रित है।[4] गौडपाद योग की कष्टसाध्यप्रक्रिया की तुलना एक ऐसे व्यक्ति के प्रयत्न से करते हैं जो घास के एक तिनके से बूंद-बूंद लेकर समुद्र को सुखाने का प्रयत्न करता है।[5] इसी प्रकार जब परमानंद की प्राप्ति न हो जाये चित्त को बीच में प्रयत्न न छोड़ना चाहिये।

रामानुज-दर्शन (विशिष्टाद्वैत) में आचार-दर्शन

रामानुज के अनुसार जीवात्माओं को अपनी इच्छानुसार कर्म करने की स्वतंत्रता प्राप्त है। जब जीवात्मा ईश्वर की अधीनता पहचानने में असमर्थ रहती है तो ईश्वर उस सत्य को पहचानने में कर्मरूप यंत्र द्वारा सहायक होता है, तथा जीवात्मा को दण्ड देता है और इस प्रकार उसे अपने पापकर्मों का स्मरण कराता है। अन्तर्यामी ईश्वर के व्यापार द्वारा जीवात्मा अपने पापमय कर्मों की पहचान करती है और ईश्वर से सहायता के लिए याचना करती है। यामुनाचार्य ने तो स्वयं को 'सहस्र पापों का पात्र' कहकर वर्णन किया है। ईश्वर की अनुकम्पा के लिए याचना की गई है। आस्तिक होने के कारण रामानुज कहते हैं कि मोक्ष ज्ञान और कर्म के द्वारा नहीं अपितु भक्ति और ईश्वर के प्रसाद के

---

4. वही, 3.1
5. वही, 3.32
6. वही, 3.33-34
7. वही, 3.35-38
8. वही, 3.40-41

द्वारा संभव है। धर्मशास्त्रों में ज्ञान से तात्पर्य ध्यान और निदिध्यासन से है।[1] निष्काम भाव से किया गया कर्म ही पिछले संचित कर्मों को दूर करने में सहायक हो सकता है। जब तक शास्त्रों में विहित कर्म को निःस्वार्थभाव से नहीं अपनाया जाता, उद्देश्य की सिद्धि नहीं हो सकती। यज्ञादि कर्मकाण्डों के परिणाम अस्थायी हैं किन्तु ईश्वरज्ञान अज्ञेय है। यदि हम ईश्वर के प्रति समर्पित भाव से प्रेरित होकर कार्य करें तो यह हमें मोक्ष की ओर लेजाने में सहायक सिद्ध होगा।[2] ज्ञान और कर्म दोनों ही भक्तिमार्ग में साधन हैं जो हमारी स्वार्थपरता को जड़मूल से उखाड़ फेंकते हैं, इच्छाशक्ति को नवीन बल और ग्रहण-शक्ति को नई दृष्टि प्रदान करके आत्मा को नये सिरे से शान्ति लाभ कराते हैं। रामानुज-दर्शन में शक्ति मनुष्य के ईश्वर के पूर्णतम ज्ञान तक मौनरूप में तथा एकाग्रसमाधिरूप में पहुँचने का नाम है, इस सन्दर्भ में हमें विवेक अथवा भोजनसंबंधी विचार भी मिलते हैं।[3] 'विमोक' अर्थात् सबसे अच्छे सम्बन्ध करके केवल ईश्वरप्राप्ति हेतु प्रबल-इच्छा, अभ्यास अर्थात् निरन्तर ईश्वर चिंतन, क्रिया अर्थात् दूसरों का भला करना।[4] 'कल्याण' अर्थात् प्राणिमात्र के प्रति शुभकामना, सत्य व्यवहार, आर्जव अर्थात् सच्चरित्रता, दया, अहिंसा, दान अथवा दाक्षिण्य, अनवसाद अर्थात् सदा प्रसन्न रहना और आशा।[5] वेदार्थ संग्रह में रामानुज ने साधनभक्ति और पराभक्ति के मध्य भेद किया है। साधन भक्ति में शरीर, मन और वाणी पर नियंत्रण, अपने कर्तव्यों का पालन, स्वाध्याय और अनासक्ति आदि का वर्णन किया गया है।

भक्ति में संकल्पशक्ति - बुद्धि के प्रशिक्षण का भी समावेश किया गया है।[6] भक्ति अपनी समस्त मानसिक शक्ति तथा हृदय के द्वारा ईश्वर से प्रेम करने का नाम है। इसका अंत अंतर्दृष्टि द्वारा ईश्वर के साक्षात्कार में जाकर होता

1. ब्रह्मसूत्र पर शांकरभाष्य, 3.4.26
2. तदर्थिताखिलाचारता-नारदभक्तिसूत्र, पृ. 19
3. हमें इन्द्रियों के विषय में लिप्त नहीं होना चाहिये-शांकरभाष्य
4. इसके पाँच प्रकार बताये गये हैं-स्वाध्याय, ईश्वरोपासना तथा पूर्वजों, मानव स्वभाव एवं पशु-सृष्टि के प्रति कर्तव्य।
5. सर्वदर्शनसंग्रह, 4
6. ज्ञानकर्मानुगृहीत भक्तियोगम् रामानुज भगवद्गीता की प्रस्तावना में 'धीप्रीतिरूपा भक्तिः मानते हैं-तत्त्वमुक्ताकलाप)'

है।[1] भक्ति परिणामरूप में मोक्ष है और अन्य उपायों में सर्वोत्तम समझी गई है क्योंकि यह अपना पुरस्कार अपने आप है।[2] हमें सर्वोपरि प्रभु की ही पूजा करनी चाहिये क्योंकि अंतिम विश्लेषण में अन्य कोई ध्यान का विषय नहीं बन सकता।[3] भागवतपुराण यह स्वीकार करता है कि ईश्वर के साथ संयोग का मार्ग प्रत्येक व्यक्ति के लिए खुला है किन्तु आत्मा जो ईश्वर से सदा अपने को भिन्न रखती है जिसकी कि वह उपासना करती है, उस व्यक्ति की अपेक्षा अधिक सुखी रहती है जिसने अपने आपको ईश्वर में विलीन कर दिया हो।[4] ईश्वर से सम्बन्धित मानवीय भावना स्वतंत्र नहीं है क्योंकि वह अपने भक्तों के अधीन है।[5] अपने भक्त संतों के धार्मिक सम्प्रदाय के बिना ईश्वर अपने विषय में कुछ अधिक सोच-विचार नहीं करता है।[6]

वैष्णव - भक्ति में अधिकतर घनिष्ठ मानवीय संबंधों का उपयोग मनुष्य तथा ईश्वर के परस्पर सम्बन्ध का वर्णन करने के लिए प्रतीक रूप में किया गया है। ईश्वर को गुरु, मित्र, पिता, माता, शिशु और प्रिया के रुप में स्वीकार किया गया है। सर्वोत्तम प्रेम में भक्ति के समान अपनी प्रिया की उपस्थिति में वर्तमान रहना, उच्चकोटि का सर्जनात्मक या रचनात्मक सुख तथा सृजनात्मक सर्जना है रचना है और उससे विरहित जीवन दुःख, निराशा तथा बन्ध्यापन है क्योंकि सच्चे प्रेम में ऐन्द्रिक आकर्षण बहुत न्यून होता है। नम्मालवार की सृष्टि भक्ति-सौन्दर्य की खान है तथा प्रभु के प्रति रूप को धारण करती है और इसलिए आलवार लोगों के लिए प्रेम की निदर्शिका भक्ति प्रकट होती है।[7] यही

1. तत्त्वमुक्ताकलाप, 1.1.11
2. फलरूपत्वात्- नारदभक्तिसूत्र, पृ. 26
3. आब्रह्मस्तम्बपर्यन्ता जगदन्तरव्यवस्थिताः,
   प्राणिनः कर्मजनितसंसारवशवर्तिनः।
   यतस्ततो न ते ध्याने ध्यानिनामुपकारकाः,
   अविद्यान्ततर्गतः सर्वेतेहि संसारगोचराः।।-रामानुजः, 1.1.6
4. भागवत-3.25,33
5. भागवत-9.4.67
6. नाहम् आत्मानम् आशास्तेमद्भक्तैः साधुभिर्विना- वही, 9.46
7. या प्रीतिरस्ति विषयेष्वविवेकभाजाम् सैवाच्युते भवति भक्तिपदाभिधेया।
   भक्तिस्तु काम इह तत्कमनीयरूपे तस्माद् गुणैरजनि कामुकवाक्यभंगी।।
   -द्राविडोपनिषद्संगति।

ठीक है कि जो लोग पति–पत्नी के प्रतीक का प्रयोग करते हैं उनमें से अनेक व्यक्ति सदाचार की दृष्टि से सर्वथा निष्पाप हैं तो भी इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि इसका दुरुपयोग नहीं हुआ।[1] किन्तु इस प्रकार के दुरुपयोग के उदाहरण साधारण नियम के अपवाद मात्र ही हैं। दक्षिण भारत में वेदान्तदेशिक ने कर्मकाण्डपरक धर्म के ऊपर बल दिया है।[2]

शैव, शाक्त तथा परवर्ती दर्शनों में आचार

सब वस्तुओं के विषय में यथार्थज्ञान ही हमें ईश्वर की ओर ले जाता है और उसका स्वाभाविक परिणाम ईश्वर के प्रति प्रेम है। ज्ञान के द्वारा ही ईश्वर के ऊपर पूर्णनिर्भरता तथा उसके प्रति प्रेम का भाव उत्पन्न होता है।[3]

अपने 'तत्त्व-विवेक' के अन्त में मध्वाचार्य कहते हैं – यह निश्चित है कि वह व्यक्ति जो यह समझ लेता है कि यह सब जीवन, जिसका अन्त है, सदा ही हरि के वश में रहता है, संसार से मुक्ति प्राप्त कर सकता है। मोक्ष–प्राप्ति के लिए स्वस्थ तथा निर्दोष नैतिक जीवन का होना आवश्यक है। धार्मिक जीवन हमें सत्य की गहराई तक पहुँचाने में सहायक होता है। वेदाध्ययन से सत्यज्ञान की प्राप्ति गुरु के माध्यम से ही संभव है।

ऐसा कहा गया है कि जिसके योग्य कोई व्यक्ति है उसके प्रत्यक्ष से ही अंतिम मोक्ष प्राप्त होता है अन्य किसी साधन से नहीं।"[4] मध्वाचार्य उन सब व्यक्तियों को अध्ययन का अधिकार देते हैं जो उसे समझ सकते हैं।"[5] यद्यपि किन्हीं अर्थों में आत्मा की अवस्थाएँ भी ब्रह्म[6] के द्वारा ही उत्पन्न होती हैं तो प्रभु–कृपा भी हमारी उसके प्रति भक्ति के अनुपात में ही प्राप्त होती है।[7] जब

1. 'भारतीय दर्शन' –प्रामि खण्ड, पृष्ठ संख्या–404,405,434,435
2. श्रुतिः स्मृतिर्ममैवाज्ञा यस्ताम् उल्लघ्य वर्तते।
   आज्ञाच्छेदी मम द्रोही मदभक्तोऽपि न वैष्णवः।।
   रहस्यसार में शास्त्रनियमनाधिकार सम्बन्धी अध्याय।
3. ब्रह्मसूत्र पर भाष्य, 3.3.49
4. महाभारत, 3.5.3
5. ब्रह्मसूत्र–भाष्य, 1.1.1
6. वहीं, 3.2.9
7. वहीं, 3.2.20–21

सर्वोच्च सत्ता हमारी भक्ति के द्वारा प्रसन्न होती है तभी वह स्वयं को प्रकट करती है।[1] सर्वोपरि सत्ता की सेवा के लिए विष्णु के चिन्हों से शरीर को गोदना, अपने पुत्रों तथा अन्यों को प्रभु के नाम देना तथा उनकी पूजा करना, वचन (सत्य-भाषण तथा पवित्रग्रन्थों का स्वाध्याय) कर्म (दान-दक्षिणा) तथा मानसिक विचार (दया और विश्वास) आवश्यक हैं। दैवीय कृपा की प्राप्ति के लिए ईश्वर की पूजा अनिवार्य तथा प्राथमिक आवश्यकता है। ज्ञानपूर्वक किये गये कर्म हमें ऊपर की ओर उन्नति करने में सहायक होते हैं। क्रियाकलाप तथा यज्ञ और तीर्थयात्राएँ करने का भी समर्थन किया गया है। पशुबलि को निषिद्ध बताया गया है और यज्ञ करने वाले पुरुषों के लिए विधान किया गया है कि वे जीवित-पशुओं के स्थान पर आटे के पशु बनाकर उनसे काम लें। भागवत के अनुसार विशुद्ध आध्यात्मिक जीवन में पुनः लौट जाना ही मोक्ष है, जिसमें समस्त अनावश्यक रूप (अन्यथारूप) दूर हो जाते हैं।[2]

भारतीय षड्दर्शन परम्परा में यद्यपि मुख्य प्रतिपाद्य तत्त्वमीमांसा और प्रमाणमीमांसा हैं किन्तु जीवन की मूलभूत समस्याओं के ऊपर केवल चार्वाक-दर्शन को छोड़कर सभी दार्शनिकों ने विचार किया है अतः जीवन के ऐहिक या पारलौकिक प्रयोजन या उद्देश्य का विचार अपरिहार्य है। इसके अतिरिक्त लौकिक और पारलौकिक उद्देश्यों की पूर्ति के साधन का प्रतिपादन भी विभिन्न दर्शनों ने किया है। यही कारण है कि प्रायः सभी दर्शन-ग्रन्थों में आचारपरक तथ्यों का विवेचन उपलब्ध है। मीमांसा-दर्शन तो मुख्यतः धर्म पर ही विचार करता है। इन दार्शनिक सम्प्रदायों में आचार-चिन्तन मुख्य रूप से व्यक्ति की परिधि में ही प्रतिफलित हुये हैं किन्तु अनेक आचार्यों ने सामाजिक जीवन पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला है।

विविध दार्शनिक विचारधाराओं में विकास की अवस्था के पश्चात् भारतीय-चिन्तन में कुछ ह्रास परिलक्षित होता है किन्तु यह कहना समीचीन होगा कि नैतिक-चिन्तन की गति पूर्णतः अवरुद्ध नहीं हुई। हमें यह भलीभांति ज्ञात है कि मध्यकालीन भारत में संतों एवं धर्मोपदेशकों का सम्पूर्ण जीवन ही

---

1. वही, 3.2.23-27
2. स्वरूपेण व्यवस्थितिः-भागवत, 1.1.17.

धर्मप्रचार और समाज-सुधार के लिए समर्पित रहा है। उन्होंने समता और एकता विषयक पाठ पढ़ाकर जहाँ सामाजिक नैतिकता को बल प्रदान किया, वहीं तप, त्याग भजनादि के रूप में वैयक्तिक उत्थानहेतु भी बहुविध प्रयास किये। आधुनिक काल में भी स्वामी दयानन्द, रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द, राजा राममोहन राय, महात्मा गांधी इत्यादि विचारकों ने समाज में सदाचार की परम्परा को पुनः प्रतिष्ठित करने हेतु अथक प्रयास किये। महामना पं. मदनमोहन मालवीय, अरविन्द घोष, विनोबाभावे आदि को भी 'जीवन में आचार' की दृष्टि बहुमान्य है। वैदिककाल से लेकर आज तक भारत में विकसित और पल्लवित होने वाली आचार-परम्परा में शास्त्रीय और बौद्धिक विवेचन के अन्तर्गत व्यक्ति और समाज दोनों ही क्षेत्र समाविष्ट किये गये हैं।

चतुर्थ अध्याय

आचार-दर्शन की पाश्चात्य परम्परा

पश्चिमी विचारक सामान्यतः प्रत्येक ज्ञान-विज्ञान का प्रारम्भ यूनानी संस्कृति से ही मानते हैं, अतः उन्होंने आचार सम्बन्धी दार्शनिक सिद्धान्तों की जन्मभूमि भी यूनान को ही स्वीकार किया है। वैसे भी ऐतिहासिक दृष्टि से पश्चिम में मिश्र तथा यूनान एवं पूर्व में भारत तथा चीन की संस्कृतियां प्राचीनतम हैं।[1] जबकि अमेरिकी विद्वान् हापकिंस ने इनका खण्डन करते हुए भारतीय नीति को ही सर्वप्राचीन माना है।[2] आचार सम्बन्धी चिन्तन और विवेचन मात्र भारत भूमि पर ही नहीं किया गया अपितु अनेक पाश्चात्य विद्वानों ने नीति अथवा आचार को मानव जीवन का एक आवश्यक अंग मानकर इस सन्दर्भ में चिन्तन-मनन करके अपने नैतिक विचारों को समय-समय पर प्रकाशित भी किया। पाश्चात्य दार्शनिकों के द्वारा यह भी अनुभव किया गया कि जगत् के अन्य चराचर जीवन अपनी प्रवृत्तियों के वशीभूत होकर कार्य करते हैं किन्तु मानव इस दृष्टि अन्यतम है कि वह प्रवृत्तियों के वश में होने पर भी कार्य करने से पूर्व शुभ-अशुभ और उचित-अनुचित विवेचन करने हेतु क्षण भर रुक जाता है। उचित अनुचित तथा शुभ-अशुभ सम्बन्धी यही विवेचन विभिन्न दार्शनिकों के मत के रूप में प्रकट हुए। कुछ विद्वान् इसे

---

1. भारतीय नीतिशास्त्र-दिवाकर पाठक, पृ. 4
2. Although the west discoverd mental India years ago and now talks quite globly with its imagined millions of Buddhists'' yet a bart from some erroneous familiarity with Indian religions there is little known in his country of for the field of Hindu-Ethics. It is terra incongnitia to Europe and America- it will a pleasure to grief to none to know that truth+fulness, generesity, kindness of heart, purity of soul forgineness and conpassion were taught in India as everday precepts long before the christianera'' Hopkins : Ethics of India. p. 9

मौलिक मानते हैं तथा कुछ अन्य प्रत्यक्ष प्राप्त प्रकृत मूल्य। किसी ने इसे नैतिक बोध स्वीकार किया है तो कुछ दार्शनिकों की दृष्टि से यह आत्मानुभूति का विषय है।

पाश्चात्य विचारकों के नीति-दर्शन सम्बन्धी सिद्धान्त क्रमशः इस प्रकार हैं-विधानवाद, प्रज्ञावाद, सुखवाद, विकासवाद, वैराग्यवाद, कर्त्तव्यवाद, पूर्णतावाद और मूल्यवाद।

विधानवादियों की दृष्टि में नीति-तत्त्व

विधानवाद के समर्थक दार्शनिकों का कथन है कि प्रत्येक मनुष्य अपने समाज से नैतिक शिक्षा प्राप्त करता है। कुल, परिवार, जाति, समाज, राष्ट्र धर्मादि नैतिक संस्थायें जिनका वह सदस्य है, उसके लिए शुभ, अशुभ, उचित और अनुचित कार्यों का विधान करती हैं। इन संस्थाओं के स्वामी अथवा मुखिया को विधायक कहा जाता है। इनका महत्त्व ईश्वरप्रेषित या आप्त पुरुष के रूप में माना गया है। इनके द्वारा निर्धारित किये गये विधान 'यह करो' 'यह न करो' रूप में विधि और निषेधमूलक होते हैं और इन नियमों से प्रत्येक सदस्य का जीवन बंधा हुआ है।

यद्यपि विधानवाद प्रारम्भ से ही नैतिक नियमों की पहचान में सहायक सिद्ध हुआ है लेकिन इसमें परम्परागत विधानों को ही महत्त्व दिया गया है जो मनुष्य के अधिकारों या अन्तरात्मा पर शासन करते हैं। अतः यह प्रगतिशीलता में बाधा उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार हमें विधानवादियों का मत दोषपूर्ण प्रतीत होता है।

प्रज्ञावादियों की दृष्टि में नीति-तत्त्व

इस सिद्धान्त के अन्तर्गत नैतिक नियमों के निर्धारक के रूप में एकमात्र प्रज्ञा को स्वीकार किया गया है। इनके मत में मानव के पास नीति-अनीति सम्बन्धी गुणों की पहचान-हेतु एक विशेष शक्ति है जो कर्मों की शुभता की पहचान करती है। नैतिक शुभ स्वतंत्र होता है एवं बुद्धि द्वारा उत्पन्न नहीं होता है। जो कर्म जैसा रहता है वह हमेशा वैसा ही रहता है। नैतिक शुभ का ज्ञान

यद्यपि अनुभवजन्य होता है किन्तु वह स्वयं के अनुभव पर आश्रित नहीं होता। इस सिद्धान्त के अनुसार नैतिक कर्म स्वतः साध्य नहीं हैं जैसा कि रैशडल[1] महोदय कहते हैं। अतः कोई कार्य उचित या अनुचित किसी अन्य वस्तु की प्राप्ति के लिए नहीं होता है।

वुडवर्थ का मत

वुडवर्थ ने बौद्धिकता पर बहुत अधिक बल देते हुए कहा है कि नैतिक निर्णय तर्क पर आधारित एवं बौद्धिक हैं। नैतिक गुण अर्थात् कार्यो का उचित या अनुचित होना स्वतः सिद्ध शाश्वत और निरपेक्ष है।

क्लार्क का मत

मनुष्य के कर्तव्य-निर्धारण के लिए क्लार्क ने चार स्वतः सिद्ध तथा स्थायी नियम बतलाये जो इस प्रकार हैं। क. मनुष्य को चाहिये कि वह ईश्वर के प्रति निष्ठा रखे। ख. मनुष्य और मनुष्य के बीच समानता का व्यवहार होना चाहिए। ग. मनुष्य को परोपकार की भावना से कार्य करना चाहिये। घ. प्रत्येक मनुष्य को अपने शरीर और मन को स्वस्थ रखना चाहिये।

बुलेस्टन का मत

इन्होंने सत्य तथा असत्य, शुभ तथा अशुभ में पारस्परिक सम्बन्ध माना है। शुभ कार्य सत्य का समर्थक है तथा अशुभ कार्य सत्य का विरोधी है। अशुभ कार्य करना सत्य का निषेध करना है। इस प्रकार बुलेस्टन ने ज्ञान को परम शुभ माना है। ज्ञान ही सद्गुण है। प्रज्ञावाद के अन्य समर्थकों शेफ्टसबरी, हचिसन, रस्किन आदि ने प्रज्ञा को सुन्दर-असुन्दर का ज्ञान प्राप्त कराने वाली इन्द्रिय माना है। अन्य नीतिशास्त्रियों जैसे एडमस्मिथ ने प्रज्ञा को सहानुभूति, बटलर ने अन्तरात्मा व मार्टिन्यू ने नैतिक संवेदना माना है।

---

1. ''By intutionism is usually understood the theory that actions are pronounced right or wrong oprior without reference to their Consequences'' -नीतिदर्शन की रूपरेखा-प्रो. रत्ना देव, पृष्ठ नं. 110

यह सिद्धान्त अव्यावहारिक है तथा नैतिक नियमों के संघर्ष की स्थिति में सामंजस्य स्थापित करने में असमर्थ है। इन्होंने आत्मा को पूर्ण आत्मा के रूप में स्वीकार नहीं किया बल्कि ज्ञान-प्राप्ति के साधन के रूप में माना है। फलस्वरूप आत्मा से उत्पन्न नैतिक नियमों में स्पष्टता नहीं पायी जाती है। इसके अतिरिक्त प्रज्ञावादियों का विचार एकांगी है क्योंकि हमारे समस्त नैतिक सिद्धान्त मात्र प्रज्ञावाद से प्राप्त नहीं होते हैं। कई परिस्थितियां ऐसी होती हैं जब हम बुद्धि का आश्रय लेते हैं। अनेक बार असत्य, अस्तेय, हिंसा आदि के सम्बन्ध में ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं कि झूठ, चोरी इत्यादि कर्म अनैतिक होने पर भी किसी प्राणी की भलाई में सहायक सिद्ध होते हैं, जैसे शिकारी को शिकार की गलत दिशा बताना। धर्मसंकट की स्थिति में विवेक हमें नैतिकता प्रदान करता है न कि सहज बोधज्ञान उत्पन्न करता है। अतः यह वाद भी पूर्णतः दोषरहित नहीं है।

सुखवादी दार्शनिकों की दृष्टि में नीति तत्त्व

इस यूनानी चिन्तन में आरंभ में केवल व्यक्तिगत सुखों को ही समस्त जीवन का आदर्श माना गया किन्तु विकारों के साथ-साथ बुद्धि का भावना पर प्राधान्य होता गया और व्यक्तिगत सुख का स्थान सामाजिक सुख ने ले लिया। बेन्थम ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "प्रिसिंपल्स ऑफ मारल्स एण्ड लेजिस्लेशन" में लिखते हैं-"प्रकृति ने मनुष्य को सुख और दुःख नामक दो सर्वशक्तिमान् शासकों के अधीन रख दिया है। हमें क्या करना चाहिये और हम क्या करेंगे, इसका निर्णय उन्हीं पर निर्भर करता है।"[1] इस कथन की द्वितीय पंक्ति नैतिक बाध्यता कीओर संकेत करती है। नैतिक सुखवाद के समर्थक जॉन स्टुअर्ट मिल का कथन है,[2] चूंकि मानव स्वभाव से ही सुख पाने की इच्छा करता है इसलिए उसका यह नैतिक कर्त्तव्य है कि वह सुखप्राप्ति की इच्छा करता रहे।

---

1. J. Bentham. Principles of Morals and Legislation, Chapter-1.
2. "Each person so far as he believes it to be attainable, desires his own happiness. Each person's happiness is a good to that person and the general happiness therefore. a good to aggregate of all persons."—Mill; Utilitarianism.

यदि सभी मनुष्य सुख की इच्छा करते हैं तो यह सुख व्यक्ति का नहीं, जाति का हो जाता है और इसलिए यह व्यक्तिगत सुख नहीं अपितु सामान्य सुख है। सभी व्यक्तियों को जिस कार्य से सुख मिले वही कार्य नैतिक दृष्टि से श्रेष्ठ हैं। कुछ अंकुश (बाह्य और आन्तरिक) के कारण मनुष्य स्वार्थी होते हुए भी परार्थी बन जाता है। सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक और प्राकृतिक दबाव बाहय अंकुश हैं एवं आन्तरिक अंकुश मनुष्य की आत्मा है जिसे मिल ने कर्तव्य के उल्लंघन से उत्पन्न दुःख की अनुभूति[1] कहा है।

विकासवादी दर्शनिकों की दृष्टि में नीति-तत्त्व

विकासवादियों के मत में जिस प्रकार जीवों के प्रारम्भिक और अन्तिम रूप को हम नहीं जान सकते उसी प्रकार नैतिकता का उच्चतम और निम्नतम रूप हमारे सामने नहीं आ सकता, हम उसकी केवल वर्तमान अवस्था को ही जान सकते हैं। मनुष्य नैतिक शक्ति अपने पूर्वजों से प्राप्त करता है। यह व्यक्ति और समाज के मध्य अन्योन्याश्रय सम्बन्ध स्थापित करता है। दोनों का विकास एक-दूसरे के विकास पर ही आश्रित है। मनुष्य के कर्मों का निकटतम लक्ष्य सामाजिक शुभ और अन्तिम लक्ष्य सुख अथवा आनन्दप्राप्ति है।

स्पेन्सर के अनुसार नीति अनैतिक दशा से उत्पन्न होती है। हम आचरण को मानव-क्रिया तक सीमित करते हैं। स्पेन्सर पशु-पक्षियों की क्रियाओं को भी आचरण के अन्तर्गत रखते हैं। उनके अनुसार जो क्रिया जीवन को बढ़ावा देती है वह शुभ है और जो इसे कम करती है वह अशुभ है। स्पेन्सर जीवन की मात्रा की ओर ही दृष्टिपात करते हैं, गुण-दोषों के प्रति नहीं। उन्होंने जीवन की गहराई को कोई महत्त्व नहीं दिया है।

उन्नीसवीं शताब्दी के इस दार्शनिक सिद्धान्त के अन्तर्गत नैतिक नियमों को प्राकृतिक नियम माना गया है, लेकिन यथार्थतः नैतिक नियम आदर्शपरक होते हैं।

वैराग्यवादी दार्शनिकों की दृष्टि में नीति-तत्त्व

वैराग्यवाद का उदय पश्चिम में भारतीय दर्शन के प्रसार-प्रचार के

1. Feeling of paind attendent of the violation of duty-Mill, Ibid.

फलस्वरूप ही हुआ। इन्होंने आत्मा या चेतना को श्रेयस् के आश्रय के रूप में स्वीकार किया है। इसकी स्थापना एण्टिसथेनीज ने 445-365 ई. पू. 'सिनिकवाद' के रूप में की। इसमें शारीरिक परिश्रम, आत्मनिर्भरता, तितिक्षा और सुख के परित्याग पर बल दिया।

वैराग्य का मार्ग अत्यन्त कठिन है, इसने अकर्मण्यता पर बल दिया है। इस मत का मूलाधार अध्यात्म है जबकि पश्चिमी दृष्टि से मनुष्य स्वभावतः आध्यात्मिक नहीं है।

निष्काम कर्म मार्ग अथवा काण्ट का नीति-तत्त्व

इमेनुअल काण्ट जर्मनी के प्रसिद्ध दार्शनिक थे। बुद्धिवाद का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण काण्ट का ही दर्शन है। सुखवाद के अनुसार सुख ही एकमात्र नैतिक सुख है। इसके विपरीत बुद्धिवाद में बुद्धि को ही सर्वोच्च सुख माना गया है। भावनाओं को नष्ट कर बुद्धि द्वारा नियमपूर्वक जीवन जीना ही नैतिक रूप से शुभ है। बुद्धिवाद का भी एक दीर्घ इतिहास है जिसे काल की दृष्टि से तीन भागों में बांटा जा सकता है-प्राचीन सम्प्रदाय जिसके समर्थक मुख्य रूप से सिनिक व स्टोइक हैं। मध्ययुगीन सम्प्रदाय का प्रतिनिधि सिद्धान्त है- ईसाई वैराग्यवाद। इसी भांति आधुनिक युग के समर्थक प्रसिद्ध नीतिशास्त्री काण्ट महोदय हैं। नैतिक ज्ञान के लिए असाधारण बुद्धि की आवश्यकता होती हैं जिसे व्यावहारिक बुद्धि कहा गया है। ये नैतिक नियम निपरेक्ष आदेश हैं अर्थात् इनके पालन में कोई लक्ष्य या शर्त निहित नहीं है। निरपेक्ष आदेश का आधार शुभ संकल्प है, शुभ संकल्प कर्त्तव्य से संबंधित हैं और फल की आशा से नितान्त अछूता है।

कर्तव्य के लिए कर्तव्य का सिद्धान्त काण्ट के दर्शन का आधार है। इनके मत में कर्म तीन प्रकार के माने गये हैं:-

1. तात्कालिक वासना या प्रवृत्ति से प्रेरित होकर किया गया कर्म,
2. स्वार्थवश अपने कर्तव्य का पालन करने के लिए किया गया कर्म, और
3. केवल कर्तव्य का पालन करने हेतु किया गया कर्म।

इनमें केवल तीसरे प्रकार के कर्म को ही काण्ट ने नैतिक दृष्टि से उचित माना है कि प्रत्येक व्यक्ति को कर्म की भावना से प्रेरित होकर कार्य करना चाहिये। मनुष्य अन्य नियमों का पालन दण्ड के भय से या पुरस्कार-प्राप्ति के लिए करता है लेकिन कर्तव्य के लिए कर्तव्य का पालन मनुष्य स्वेच्छा से करता है। मृत्यु की तरह नैतिक जीवन भी समस्त मनुष्यों को एक ही स्तर पर रखता है। कोई मनुष्य ऐसा नहीं जो मनुष्यता के अधिकार से वंचित हो, कोई मनुष्य ऐसा नहीं जो मनुष्यत्व के कर्तव्यों से ऊपर हो। मानव-जीवन में कर्तव्य और कामना के मध्य संघर्ष जारी रहता है। पशु-पक्षी कर्तव्य के स्तर तक पहुँचते नहीं और देव संघर्ष से ऊपर हैं। मनुष्य का धर्म यही है कि वह प्रत्येक अवस्था में ईश्वर को स्वीकार करे।

याकोबी, अरबन तथा रैशडल प्रभृति विद्वानों ने इस सिद्धान्त की आलोचना करते हुए कहा है कि काण्ट के नीति-नियम मनुष्य के लिए नहीं हैं अपितु मनुष्य ही नीति-नियमों के लिए हो गये हैं। इनके अनुसार दया, परोपकार, सहानुभूति आदि से किया गया कार्य प्रशंसनीय है परन्तु नैतिक नहीं। ये सामाजिकता को तिरस्कृत करके व्यक्तिवादी बन गये हैं। काण्ट ने कहा है कि हमें भावनाओं का दमन करना चाहिये क्योंकि पूर्ण शुभ और पुण्य के संयोग से आनन्द की प्राप्ति होती है परन्तु भावनाओं के समाप्त हो जाने पर आनन्द की प्राप्ति कदापि संभव नहीं है।

पूर्णतावादी दार्शनिकों की दृष्टि में नीति तत्त्व

पाश्चात्य मान्यता का प्रारम्भ 469-399 ई.पू. सुकरात और उसके शिष्य प्लेटो के वार्तालाप के रूप में हुआ। आधुनिक युग में इस वाद का समर्थन लाइबनीज, स्पिनोजा आदि बुद्धिवादियों ने किया। कालान्तर में हेगल ने इसे पुनरुत्पादित किया अतः उसमें और उसके अनुयायियों ने नैतिक सिद्धान्त को ही पूर्णतावाद नाम दिया है। इनके अनुसार मनुष्य का चरम लक्ष्य परमतत्त्व को प्राप्त करना है। इस तत्त्व की प्राप्ति पारिवारिक सामाजिक और राजनैतिक जीवन के द्वारा होती है। इसमें 'श्रेयस' प्रत्यय को पूर्णता का प्रत्यय मानकर भी सर्वथा स्पष्ट नहीं किया गया है।

सुकरात का मत

सुकरात के विचारों में नीति का प्रमुख स्थान है। उनकी मान्यतायें संक्षेप में इस प्रकार हैं-

1. जो भद्र हैं, वे सबके लिए भद्र हैं, जो अभद्र हैं वे सबके लिए अभद्र हैं।
2. वृत्त एक ही है। सत्य, भाषण, न्याय, साहस, संयम आदि एक ही वृत्त के विविध रूप हैं।
3. वास्तव में सदाचार सत्यज्ञान ही है। सदाचार भी अन्य विद्याओं की भांति पढ़ाया-सिखाया जाता है।
4. व्यक्ति का आचरण सुनिश्चित करने में कई कारण काम करते हैं। कुछ भाग माता-पिता की देन होता है, कुछ वातावरण का प्रभाव होता है। इनमें अधिक महत्त्व उसके अपने यत्न का है।
5. सुकरात ने मानव-प्रकृति में अन्य तत्त्वों की ओर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया।

सुकरात की आलोचना करते हुए अरस्तू ने कहा है कि सुकरात के जीवन में बुद्धि का शासन था, बुद्धि की उपस्थिति में आदत या उद्वेग उसे ठीक मार्ग से भटका नहीं सकते थे परन्तु साधारण मनुष्यों की अवस्था में तो बुद्धि की स्थिति इतनी प्रवण नहीं हुआ करती है। फिर भी सुकरात के पक्ष को इन उदाहरणों की सहायता से समझा जा सकता है-

1. जब कोई पुरुष रिश्वत लेता है तो वह यह नहीं जानता है कि रिश्वत लेना वास्तव में बुरा है। अन्य पुरुषों के साथ वह कहता भी है कि यह बुरा काम है, परन्तु बुद्धि के प्रयोग से उसने निश्चय नहीं किया कि यह बुरा है।
2. यदि वह जानता भी है कि रिश्वत लेना बुरा काम है तो रिश्वत लेते समय उसे इसके भला-बुरा होने के विषय में ध्यान नहीं रहता। उसे काम को नैतिकता की दृष्टि से देखने का अवकाश आवश्यकता या स्थिति में विलीन रहने के कारण नहीं मिलता है।

वह बुद्धि के आदेश की अवहेलना वास्तव में नहीं करता, बुद्धि तो यहां उपस्थित ही नहीं रहती।

3. मनुष्य को सामान्य धारणा के तौर पर ज्ञान तो है कि रिश्वत लेना बुरा है, परन्तु वह विचार करता है कि उसकी वर्तमान स्थिति ऐसी है कि उस पर सामान्य नियम लागू नहीं होता। उसकी स्त्री बीमार पड़ी है, उसके बच्चे के पास पहनने को वस्त्र नहीं है अतः वह कहता है कि नियम मनुष्यों के लिए बनते हैं-मनुष्य नियमों के लिए नहीं।

प्लेटो का मत

प्लेटो ने अपने लेखों में नीति का विवेचन मुख्य विषय के रूप में किया है। इनका मुख्य लक्ष्य था समाज की व्यवस्था को सुधारना और व्यक्ति के जीवन को उन्नत बनाना। इन दोनों का आपस में घनिष्ठ सम्बन्ध है। व्यक्ति भद्र की उत्पत्ति में अपने प्रयत्न से क्या कर सकता हे यह हमें नीति से ज्ञात होता है। नीति एवं राजनीति दोनों का प्रयोजन है मानव-कल्याण। प्राचीन यूनान में राजनीति को प्रथम स्थान दिया गया है। यूनानी मत में श्रेष्ठ पुरुष अच्छे राष्ट्र का अच्छा नागरिक है। सदाचार के निर्धारण-हेतु आवश्यक है कि हम अच्छे राष्ट्र में व्यक्ति के कर्तव्य का निश्चय कर सकें। प्लेटो ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'रिपब्लिक' में इन्हीं प्रश्नों को अपने विवेचन का विषय बनाया है।

आदर्श राष्ट्र की नींव न्याय पर आधारित होनी चाहिये क्योंकि न्याय के अभाव में सब कुछ होते हुए भी कुछ नहीं होता। वर्तमान में भी प्रथम आवश्यकता मानी जाती है सामाजिक न्याय। प्लेटो ने न्याय सम्बन्धी विचार सूत्र रूप में व्यक्त किया है- जो कुछ अपना है, उसे प्राप्त करना और उसका प्रयोग करना न्याय है।

सामाजिक जीवन का सार व्यवस्था का स्थापन है। समाज नियम स्थापित करता है और मांग करता है कि नागरिक उन नियमों पर चलें। इन नियमों में व्यक्ति को यह भी बताया गया है कि वह समाज से क्या ले सकता है और उसे क्या देना चाहिये। सामाजिक जीवन का आधार श्रम-विभाजन है। जो पुरुष-श्रम

करता है उसका फल उसकी सम्पत्ति है, उसे व्यवस्थित समाज में उस फल से वंचित नहीं किया जा सकता है। समाज में सब मनुष्य एक ही कार्य नहीं कर सकते, न ऐसा करना हितकर ही है। हम यह भी नहीं कह सकते हैं कि प्रत्येक मनुष्य एक स्वतंत्र मार्ग पर चलता है। श्रम–विभाजन का मुख्य तत्त्व यह है कि समाज में कुछ वर्ग हों जो समाज की प्रमुख आवश्यकताओं को पूरा कर सकें।

जो कुछ किसी पुरुष को दिखाई देता है, वह उसके लिए सत्य है और जो कुछ उसे रुचिकर है वह उसके लिए श्रेष्ठ है। इस प्रकार सत्य–असत्य और शुभाशुभ में कोई मौलिक भेद नहीं है। मनुष्य के क्लेशों का अन्त उसी स्थिति में हो सकता है जब दार्शनिक राजा शासन करें या शासक दार्शनिक बन जायें। संरक्षकों के लिए लम्बी और कड़ी शिक्षा की आवश्यकता है। तीस वर्ष की उम्र तक वे अन्य विद्याओं का अध्ययन करें तथा उसके पश्चात् उन्हें पाँच वर्ष तक दर्शनशास्त्र पढ़ना चाहिये।

सदाचार या वृत्त के सम्बन्ध में भी प्लेटो ने अपना दृष्टिकोण विकसित किया। अच्छा व्यक्ति ही राष्ट्र का अच्छा नागरिक है। अच्छे राष्ट्र में संरक्षक, उनके सहायक सैनिक और सम्पत्ति के उत्पादक होने चाहिये। ये वर्ग अपना काम करें और दूसरों को भी अपना कार्य करने दें। प्लेटो ने व्यक्ति को समाज की लघु प्रतिमा के रूप में देखा अतः उसकी दृष्टि में व्यक्ति और समाज के लिए समान गुण ही आवश्यक हैं। प्लेटो ने संरक्षकों का गुण बुद्धिमत्ता सैनिकों का गुण साहस तथा वैश्यों का गुण संयम बतलाया है। प्लेटो ने इन तीनों को मौलिक वृत्त बतलाया है। चौथा मौलिक वृत्त न्याय है।

अरस्तू का मत

अरस्तू ने सुकरात और प्लेटो से भिन्न मार्ग चुना। उसने अनुभव किया कि जीवन में अनेक स्थितियाँ प्रकट होती हैं और प्रत्येक स्थिति में उसे अनुकूल व्यवहार करना पड़ता है। आचरण में मध्य भाग का निश्चय व्यावहारिक बुद्धि वाला व्यक्ति ही कर सकता है। अरस्तू ज्ञान के साथ क्रिया को भी महत्त्व प्रदान करता है। उसने भद्र–अभद्र के भेद को जातिगत भेद नहीं, अपितु अधिक और न्यून का भेद स्थापित किया जो कि त्रुटिपूर्ण है।

प्लेटो ने मौलिक वृत्तों में बुद्धिमत्ता, साहस, संयम और न्याय को स्थान प्रदान किया है। अरस्तू ने अपने उदाहरणों में साहस और संयम पर अपने नियमों को क्रियान्वित किया है – बुद्धिमत्ता और न्याय को उसने लागू नहीं किया।

अरस्तू के पश्चात् सिनिक और स्टोइक विचारधाराओं में नीति तत्त्व

सिनिक विचार के अनुसार नैतिक भद्र ही मूल्यवान हैं, अन्य सारी वस्तुएं मूल्य से शून्य हैं और इसीलिए एक ही स्तर पर हैं। स्टोइक विचारकों ने भद्र और अभद्र के सम्बन्ध में मौलिक नियम को अपनाये रखा परन्तु अन्य पदार्थों में भी भेद किया, जैसे भले पुरुष के लिए स्वास्थ्य बीमारी से अच्छा है। सिनिक विचार में वृत्त केवल एक है। प्रत्येक मनुष्य नेक है या बुरा, नेकी व बुराई एक साथ नहीं हो सकती लेकिन स्टोइकों के समक्ष इस कारण अनेक कठिनाइयां उत्पन्न हुईं अतः उन्होंने विवश होकर वृत्त और पतन को कई दर्जो में स्वीकार किया। स्टोइक विचारक मनुष्यों में भले-बुरे के भेद के अतिरिक्त अन्य किसी वर्ग-भेद को महत्त्व नहीं देते थे।

टामस एक्वीनस का मत

एक्वीनस के नीतिगत विचारों में हमें ईसाइयत और अरस्तू का प्रभाव दिखाई देता है। इनके अनुसार किसी कार्य की श्रेष्टता के लिये यह आवश्यक है कि कर्ता का भाव पवित्र हो और क्रिया का फल अच्छा हो। दोनों में से एक का अभाव भी कार्य को बुरा बना देता है। इसी भांति अच्छे कर्म-हेतु भी दो शर्तें अपरिहार्य हैं-भाव अच्छा हो और फल अच्छा हो। इसके विपरीत कर्म के कुत्सित होने के लिये मात्र एक शर्त का पूरा होना ही पर्याप्त है-भाव बुरा हो या कर्मफल हानिकारक हो।

स्पिनोजा का मत

संसार में घटित होने वाली प्रत्येक घटना नियमबद्ध है-जिससे भिन्न कुछ हो ही नहीं सकता। प्रयोजन के विषय में भी कुछ भी ज्ञात नहीं, लेकिन जो कुछ भी जगत् में हो रहा है, वह प्राकृतिक नियमों के अधीन ही हो रहा है।

मनुष्य प्रकृति की मांग को पूर्ण करे और अपने अस्तित्व पर कायम रहे। इनकी दृष्टि में आत्मरक्षा से बढ़कर कोई अन्य धर्म नहीं है। जिस पुरुष में दृढ निष्ठा होती है, उसके लिये राग-द्वेष, भयादि उद्वेग अशक्त अथवा हतवीर्य हो जाते हैं। जो व्यक्ति समस्त प्राणियों को आत्मा में और आत्मा को सर्वप्राणियों में देखता है, वह किसी से घृणा नहीं करता है।

इस प्रकार संक्षेप में कहा जा सकता है कि इसमें व्यक्तित्व की पूर्णता की बात कही गयी है और इसी को सर्वोच्च नैतिक शुभ माना गया है। इसकी दृष्टि से वही कार्य नैतिक दृष्टि से उचित है जो आत्मा की पूर्णता में सहायक हो। यद्यपि पूर्णतावाद को कुछ दार्शनिकों ने सर्वोत्तम नैतिक सिद्धान्त माना है किन्तु यह सिद्धान्त भी व्यावहारिक नहीं है-मात्र आदर्शवाद का प्रस्तुतिकरण है।

मूल्यवादी दार्शनिकों की दृष्टि में नीति-तत्त्व

मूल्यवाद के मुख्य ग्रन्थ यद्यपि प्लेटो, काण्ट और फिश्ते के द्वारा प्रणीत हैं फिर भी सैद्धान्तिक रूप से इसकी स्थापना उन्नीसवीं शताब्दी में ही हुई और बीसवीं शती में यह सिद्धान्त प्रायः सर्वमान्य हो गया। आज मूल्यवाद तीन रूपों में विशेष रूप से प्रचलित हैं-1. नीत्से का व्यक्तिकेन्द्रित मूल्यवाद 2. मार्क्स का समाजकेन्द्रित मूल्यवाद, तथा 3. गांधी का सर्वोदयकेन्द्रित मूल्यवाद। इनमें गांधीजी का सर्वोदयकेन्द्रित मूल्यवाद भारतीय विचारधारा के अन्तर्गत मान्य है और शेष दोनों पाश्चात्य विचारधाराओं में परिगणित होते हैं।

1. नीत्से का व्यक्तिकेन्द्रित मूल्यवाद

इनके मत में नीति और संस्कृति दैवी प्रकृति के अनुसार आसुरी प्रकृति को सुधारने का ही दूसरा नाम है। इन्होंने सुखवाद का खण्डन करते हुए दुःख को सृजन और बलवत्ता का प्रमुख आधार माना है। इनके काल में ईश्वर और धर्म की आड़ में अनीति और अनाचार को प्रश्रय मिलने लगा था, अतः नीत्से स्वर्ग, दैन्य, दया, परोपकार, ईश्वर-शरणागति इत्यादि से समर्थित ईसाइयत के प्रबल आलोचक बन गये तथा इन्होंने मूल्यों के पुनर्मूल्यांकन की आवश्यकता अनुभव की। उनका यह भी विचार था कि केवल उचित मूल्यों को मनसा,

वाचा और कर्मणा जीवन में उतारा जाना चाहिये। साध्य एवं साधन के बारे में नीत्से ने कहा है कि जीवन नीतिशून्य है। जीवन का लक्ष्य युद्ध, संघर्ष, पराक्रम, शक्ति आदि के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है।

इनके काल में मानव-जाति के प्राकृत भेदों को अस्वीकार करके इस सिद्धान्त का प्रसार किया गया कि सभी मनुष्य बराबर हैं और जो नैतिक नियम एक पर लागू है वही दूसरे पर भी लागू किया जाये। नीत्से का व्यक्तिकेन्द्रित मूल्यवादी सिद्धान्त दर्शनशास्त्रियों के मध्य अत्यन्त समादृत है परन्तु एकांगी होने के कारण मार्क्स के समाजकेन्द्रित मूल्यवाद की ओर लोगों में अधिक आकर्षण बना रहा।

2. मार्क्स का समाजकेन्द्रित मूल्यवाद

मार्क्स ने आर्थिक क्रियाओं और सम्बन्धों को नैतिक महत्त्व देते हुए दो प्रमुख सिद्धान्तों 'मूल्य का श्रम सिद्धान्त' तथा 'अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त' की स्थापना की। प्रथम सिद्धांत के अन्तर्गत श्रम को सभी सामाजिक कार्यों और सम्बन्धों का आधार माना गया है। श्रम ही मुख्य मूल्य है। पूंजीवादी वर्ग श्रम से बचना चाहता है अतः श्रम समाप्त कर देना चाहिये। इनके द्वारा प्रतिपादित द्वितीय सिद्धान्त 'अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त' है जिसमें यह स्पष्ट किया गया है कि समाज के सभी व्यक्तियों को आवश्यक उपयोगी वस्तुएँ उपलब्ध होनी चाहिये। पूंजीवादी जो लाभ पर बेचने के लिये वस्तु खरीदकर अधिक लाभ पर बेचते हैं इस पर उनकी प्रारम्भिक खरीद राशि में बेचने पर अभिवृद्धि होने से मूल्य की अभिवृद्धि मार्क्स के विचार में अतिरिक्त मूल्य है। इस पूंजीवाद के मूल को नष्ट करना ही मार्क्स का उद्देश्य है।

मार्क्स की दृष्टि में साम्यवाद की स्थापना के लिये कोई भी साधन काम में लाया जा सकता है। इन्होंने सशस्त्र क्रान्ति का समर्थन किया है। इन्होंने संघर्ष को ही जगत् का आधार माना है। पूंजीपतियों के साथ संघर्ष करके, अस्तित्व को समाप्त कर हिंसात्मक साधनों को अपनाकर शान्ति प्राप्त की जा सकती है।

मार्क्स का मत है यदि साध्य शुभ रहा तो साधन की अशुभता भी शुभता

में परिवर्तित हो जाती है। इन्होंने समाज-सेवा, श्रम, काम, क्रोध, लोभ, मोह को नष्ट कर प्रेम और समानता की भावना को ही धर्म माना है।

मार्क्स की सर्वाधिक आलोचना के प्रमुख कारण उनके हिंसात्मक साधन ही हैं। मार्क्स का मनुष्य को केवल सामाजिक मानना भी दार्शनिकों की दृष्टि में उचित नहीं है क्योंकि समाज से ऊपर उठकर ही मनुष्य अपने व्यक्तित्व को अधिक निखार सकता है।

आधुनिककालीन अन्य पाश्चात्य दार्शनिकों की दृष्टि में नीति-तत्त्व

फ्रांसीसी दार्शनिक देकार्त के नैतिक नियम

जीवन को सुखी बनाने के लिये देकार्त महोदय ने अनेक अस्थायी नैतिक नियम स्वीकार किये हैं जो क्रमशः इस प्रकार हैं-

1. मैं अपने देश के नियमों और रिवाजों का पालन करूँगा, जिस धर्म में मैं बचपन से पला हूँ, उसमें दृढ़ विश्वास रखूँगा। अन्य बातों में मैं आधिक्य से बचूंगा और अपने वातावरण के शिष्टाचार को अपनाऊँगा।
2. मैं अपने व्यवहार में जितना दृढ़ और स्थिर हो सकता हूँ, उतना हूँगा। मैं इसमें उन पथिकों का अनुसरण करूंगा जो जंगल में मार्ग खो देते हैं। उनके लिये यही उचित है कि न तो ठहरें न इधर-उधर चलें अपितु सीधी रेखा में चलते जायें। यदि गन्तव्य तक न पहुंचेंगे तो भी जंगल से तो बाहर हो ही जायेंगे और गन्तव्य की ओर जा सकेंगे।
3. मैं यह समझ लेने का यत्न करूँगा कि हमारी चेष्टाएँ तो हमारे वश में हैं किन्तु बाहर के हालात हमारे अधीन नहीं हैं। उन हालातों पर काबू पाने की अपेक्षा अपने आप पर नियन्त्रण पाने का यत्न करूँगा। जब पूरा यत्न करने पर भी किसी वस्तु को प्राप्त न कर सकूँगा तो समझूँगा कि वर्तमान स्थिति में मेरे लिये उसको प्राप्त करना सम्भव न था।

4. मेरे लिये वही सर्वोत्तम मार्ग है जिसे मैंने अपने लिये चुना है-अर्थात् सारे जीवन को सत्य की जिज्ञासा में लगा दूँ।

यद्यपि देकार्त ने नीति के सन्दर्भ में कोई महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं किया है तथापि इनके नीति सम्बन्धी नियम उच्च कोटि के हैं।

आर्थर शापनहावर की दृष्टि में नीति-तत्त्व

शापनहावर की दृष्टि में बुद्धि की अपेक्षा प्रयत्न अधिक महत्त्वपूर्ण है। उनके सिद्धान्त में साधारण स्तर पर नीति का यही आदेश है कि जहाँ तक बन पड़े, दुःख की मात्रा को कम करने का यत्न करना चाहिये। उच्च स्तर पर, सर्वोत्तम भावना यह है कि जीवन की इच्छा ही न रहे।

मेधावी पुरुष का चिन्ह यही होता है कि उसमें इच्छाएँ बहुत निर्बल होती हैं और मनन प्रबल होता है।

अमेरिकी दार्शनिक जॉन डयुई की दृष्टि में नीति तत्त्व

जाँन डयुई (1859-1952) ने नीतिशास्त्र पर अनेक पुस्तकें लिखीं। उनमें 'मानव प्रकृति और आचरण' तथा 'दर्शन में पुनर्निर्माण' नैतिक दृष्टि से विशेष महत्त्व रखती हैं। प्राचीन दृष्टिकोण के अनुसार नीति एक ही अन्तिम उद्देश्य का प्रसार करती है। कोई इसे सुख के रूप में, कोई शिवसंकल्प के रूप में और कोई ज्ञान के रूप में देखता है। डयुई ने अनेकवाद के प्रत्यय का नीति में प्रयोग किया। इनकी दृष्टि में साधन और साध्य में कोई भेद नहीं है और न ही इन्होंने नैतिक मूल्यों के मध्य किसी भी प्रकार के ऊँच-नीच के भेद को माना है। हमारी धारणा प्रायः यही होती है-नैतिक आदर्श क्या हैं? लेकिन डयुई इसके उत्तर में मनुष्य की परिस्थितियों की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करता है। सारे मनुष्य एक स्थिति में नहीं होते और एक मनुष्य भी एक ही स्थिति में नहीं रहता। प्रत्येक मनुष्य का यह कर्तव्य है कि वह वर्तमान कठिनाई को दूर करके आगे बढ़े। यदि हमारे समक्ष इस समय शारीरिक निर्बलता कठिनाई है, तो हमारा कर्तव्य स्वास्थ्य को प्राप्त करना है और यदि हमारे पड़ोसी के लिये पारिवारिक कलह के रूप में विशेष कठिनाई है तो उसका

दायित्व उस कलह को दूर करना है। उनकाविचार था कि यह बात महत्त्वपूर्ण नहीं है कि हम कहाँ खड़े हैं। महत्त्व सिर्फ इस बात का है कि जहाँ कहीं हैं, आगे बढ़ने का यत्न करें। अच्छे पुरुष की पहचान ही यही है कि वह अधिक अच्छा बनने के यत्न में लगा रहे।

हमें यह भलीभाँति स्पष्ट हो चुका है कि विभिन्न कालों में पाश्चात्य विचारकों ने नीति सम्बन्धी अनेक सिद्धान्त स्थापित किये हैं। हमें यह भी ज्ञात है कि पश्चिमी दार्शनिकों ने भारतीय आचार-दर्शन की परम्परा को धर्म की संज्ञा प्रदान की है। अतः इनकी परस्पर तुलना करना असाध्य तो नहीं किन्तु दुरूह अवश्य है। पाश्चात्य और पौरस्त्य दोनों ही विचारधाराओं के चिन्तकों ने मानव के आचरण का मानदण्ड निर्धारित करने का यत्न किया है, साथ ही दोनों परम्पराओं में परम शुभ का विस्तार से विवेचन किया गया है। प्रज्ञावादियों ने 'प्रज्ञा' को बुद्धि का पर्याय माना है। भारत में यास्क ने तर्क और आप्त ज्ञान या प्रज्ञा और बुद्धि में अभेद कहा है।[1] सुखवाद का परिष्कृत सिद्धान्त पाश्चात्य विचारक एपीकुरस ने दिया है और वात्स्यायन ने कामसूत्र के द्वितीय अध्याय में इसका उत्कृष्ट उदाहरण दिया है। चार्वाक् भी पुनर्जन्म, आत्मा आदि पर विश्वास न करके मात्र 'ऐहिक' सुख को ही परम लक्ष्य मानते हैं।[2]

इसी भाँति अन्य पाश्चात्य आचार सिद्धान्त भी भारतीय दर्शन की परम्परा में स्पष्ट रूप से परिलक्षित होते हैं। पाश्चात्य वैराग्यवाद का सिद्धान्त हमें वैदिक उपनिषदों तथा बौद्ध और जैन दर्शनों में स्पष्टतः दृष्टिगोचर होता हैं। ज्ञान मार्ग चिद्रूप आत्मा के ज्ञान को, जैन ध्यानमार्गी जीव की कर्म से स्वतन्त्रता को, बौद्ध ध्यानमार्ग जीवन और पदार्थ की निःस्वभावता[3] को तथा योग मार्ग चित्तवृत्ति-निरोध को परमपुरुषार्थ स्वीकार करते हैं।[4]

गीता का 'निष्काम कर्म'[5] और काण्ट का 'कर्तव्य के लिये कर्तव्य' दोनों

---

1. तर्कमृषिं प्रायच्छन्-निरुक्त (त्रयोदश अध्याय)
2. 'यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्' (चार्वाकों के विषय में प्रचलित अत्यन्त लोकप्रिय आभाणक)
3. सौन्दरनन्द 5.32
4. वही 14.29
5. संन्यासः कर्मयोगश्च निः श्रेयसकरावुभौ।
   तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते।।-भगवद्गीता 5.3

ही सिद्धान्त कर्ममार्गी[1] हैं और कर्म के हेतु को महत्त्व देते हैं। प्रसिद्ध पाश्चात्य सिद्धान्त है पूर्णतावाद जिसका समर्थन हमें समस्त विश्व संस्कृति के आदिग्रन्थ वेदों में दिखाई पड़ता हैं जहाँ 'पूर्ण पुरुष' अथवा 'ब्रह्म' की प्राप्ति को मनुष्य के जीवन के परम लक्ष्य के रूप में प्रतिष्ठापित किया गया है। उपनिषदों में भी वेदों के पूर्ण पुरुष को 'आत्मा' कहकर आत्मलाभ को पूर्णतत्त्व की प्राप्ति माना गया है। इसी प्रकार गांधीजी के सर्वोदय दर्शन की तुलना पाश्चात्य मूल्यवाद सिद्धान्त से ही जा सकती है। सर्वोदय का लक्ष्य ऐसे समाज की स्थापना करना है जिसमें सभी व्यक्तियों की भाषाओं, धर्मों और साहित्य को पूर्ण विकसित होने का अवसर मिले। गांधीजी ने नैतिकता को ही सत्य माना। आचार्य विनोबा भावे द्वारा बतलाये ग्यारह सद्‌गुण इस प्रकार हैं जो गांधीजी के दृष्टि में सत्य अथवा ईश्वर के ही रूप हैं–

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, असंग्रह
शरीरश्रम, अस्वाद, सर्वत्र भयवर्जना।

सर्वधर्मी समानत्व, स्वदेशी स्पर्श भावना–एकादश ये व्रत इस विचारधारा में महत्त्वपूर्ण हैं। वस्तुतः कहा जा सकता है कि नीत्से और मार्क्स के व्यक्तिवादी और समाजवादी मूल्यवाद का समन्यवादी स्वरूप ही सर्वोदय दर्शन है।

यह सुविदित है कि मानव के नैतिक जीवन का इतिहास उतना ही प्राचीन है जितना यह विवाद का विषय है तथापि हमें ज्ञात है कि पश्चिम में मिस्र तथा यूनान और पूर्व में भारत और चीन की संस्कृति प्राचीनतम हैं। पाश्चात्य विचारकों का मत है कि नीतिशास्त्र का प्रारम्भ यूनान में हुआ लेकिन विद्वानों की दृष्टि में यह मत गलत है। सम्भवतः इस भूल के पीछे यह कारण प्रतीत होता है कि भारत में लिपिबद्ध और व्यवस्थित रूप में नैतिक विचार नहीं हो पाये थे। भारतीय आचार-दर्शन की परम्परा प्राचीनतम है यह बतलाते हुए अमेरिकी विचारक हॉपकिन्स कहते हैं–"ईसाई युग के पूर्व भारत में सत्य, उदारता, हृदय की दयालुता, आत्मा की पवित्रता, क्षमा तथा दया के आदर्श दैनिक जीवन के सिद्धान्तों के रूप में सिखाये जाते थे।"[2]

---

1. लोकमान्य तिलक ने अपने गीता-भाष्य (कर्मयोगशास्त्र) की भूमिका में काण्ट के मत की विशद तुलनात्मक विवेचना की है।
   न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्टकर्मकृत।
   कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः।।– वहीं 3.5.
2. Hopkins, E.W.- 'Ethics of India', p. 1

पंचम अध्याय

ब्राह्मण ग्रन्थों की पूर्वपीठिका में निहित आचार-दर्शन

इतना तो हमें ज्ञात ही है कि भारतीय ज्ञान-विज्ञान, कला-साहित्य, धर्म, सभ्यता, संस्कृति एवं अनेक तत्त्वों का आधार वेद ही है। जगत् में दिखायी देने वाले प्रत्येक पदार्थ का उद्‌गम स्थल वेद ही है। हर हिन्दू अपने धर्म और संस्कृति का मूल स्वरूप वेदों में ही बतलाता है। भारतीय परम्परागत वर्गीकरण के अनुसार वेदों के तीन प्रमुख भाग हैं-कर्मकाण्ड, ज्ञानकाण्ड और उपासनाकाण्ड। प्राय: हमारे जीवन के सभी अंग इन्हीं तीनों के अन्तर्गत सन्निविष्ट हैं। अत: यह अधिक समीचीन प्रतीत होता है कि जिस प्रकार अन्य ज्ञान, विज्ञान, कला, संस्कृति इत्यादि का प्रारम्भ ऋग्वेद से हुआ उसी प्रकार मनुष्य के जीवन में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण स्थान रखने वाले नैतिक विचार अथवा आचार का प्रथम उन्मेष भी ऋग्वेद में ही प्राप्त होता है। साथ ही ब्राह्मण-ग्रन्थों में आचार-दर्शन के स्वरूप को भलीभांति समझने के लिए यह अत्यधिक आवश्यकता है कि हम संहिता-ग्रन्थों में आचार की दृष्टि, आचार का उद्देश्य एवं आचार के परिणाम का अवलोकन करें। वैदिक संहिताओं में जहाँ कहीं भी हमें आचार में प्रवृत्त होने का निर्देश अथवा परामर्श दिखलायी देता है वहाँ यह भी निर्दिष्ट है कि सदाचरण का फल क्या होता है और इसके पालन से हमें क्या लाभ मिलता है।

वैदिक संहिताओं में जीवन का समग्र रूप में ग्रहण करने की परम्परा भी सौ वर्ष की पूर्णायु प्राप्त करने तथा ऐहिक सुखों को सभी इन्द्रियों द्वारा उपभोग करने की कामना की जाती थी। लोग वृद्धावस्था, रोग, अकाल-मृत्यु तथा दैविक प्रकोपों से बचने के लिए, अपने-अपने आराध्य देवों की प्रार्थना करते

दिखलायी पड़ते हैं। न केवल अपने हित के लिए वरन् परिवारीजनों के सुख और समृद्धि की प्रार्थना भी विविध मन्त्रों में की गई है। किन्तु यह अत्यन्त गौरव का विषय है कि इस सुख-समृद्धि की चकाचौंध में नैतिक-नियमों की उपेक्षा नहीं की गई है। हमें ज्ञात है कि तत्कालीन वैश्य और शूद्र-सभी वर्ण समाज के व्यापक हितों को ध्यान में रखकर अपने-अपने कर्तव्यों का पालन करते थे। समाज-व्यवस्था पूर्णरूपेण नियन्त्रित थी और समाजिक आचार और समाज-कल्याण की भावना दोनों ही स्पष्टतः दृष्टिगोचर होते हैं। वस्तुतः इस युग की महत्त्वपूर्ण विशेषता थी-ऐहिक सुख की उपलब्धि, स्वर्ग-प्राप्ति, और अमृतत्व की कामना। इनकी प्राप्तिहेतु साधनस्वरूप यज्ञादि कृत्य एवं शुद्ध आचरण बतलाये गये हैं।

संहिता ग्रन्थों के पर्यालोचन से यह प्रतीत होता है कि स्तुतिकर्ता अपने अन्दर विद्यमान अथवा अभीष्ट गुणों के द्वारा ही अपने देवताओं का वर्णन करते हैं। ऋग्वेदीय देवताओं की चारित्रिक विशेषताओं पर ध्यान देने से प्रतीत होता है कि इनके स्तोता, ऋत, सत्य, अहिंसा, मैत्री, दान, दया, ज्ञान आदि नैतिक भावनाओं से ओत-प्रोत हैं। ऋग्वेद के देवता स्वयं व्रतनिष्ठ हैं तथा प्राणिमात्र को व्रत एवं सदाचार की प्रेरणा देते हैं। अधिकांश मन्त्रों में देवताओं की स्तुतियाँ, प्रार्थना एवं विविध धार्मिक-कृत्यों का वर्णन मिलता है, अतः सभी विषयों का निरूपण 'देव' पद के अन्तर्गत ही हुआ है। इसके अतिरिक्त वेदमन्त्रों में स्वतन्त्र और स्पष्ट नीति-निर्देश भी प्राप्त होते हैं। इस दृष्टि से हमें भोलानाथ तिवारी का यह मत तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता-"ऋग्वेद में प्रायः देवताओं के प्रति लिखी गई स्तुतियाँ हैं, नीति और उपदेश से इसका कोई भी प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है।"[1] इनके मत में वेद नीति सिद्धान्तों से रहित है। इसके अलावा पाश्चात्य विद्वान् विन्टरनित्स के भी विचार को भी वे उचित मानते हैं कि ऋग्वेद और चाहे जो कुछ हो, यह उपदेशात्मक पुस्तक नहीं है।[2]

संहिताओं में यश, सत्य, मैत्री, अभय, स्वस्ति, विवेक, दान, पापराहित्य,

---

1. हिन्दी नीति काव्य-भोलानाथ तिवारी, पृष्ठ-263.
2. "..............a moralizing note..........is otherwise quite foreign to the Rigveda. The Rigveda is everthing but a text-book of morals."-A History of India Literature, Vol. 1, 1927 Page No. 115

पवित्रता आदि के सम्यक् विश्लेषण के अतिरिक्त वैयक्तिक-पारिवारिक, सामाजिक, उपासना आदि से सम्बन्धित आचारविषयक अनेक मन्त्र दिखाई देते हैं, साथ ही राष्ट्रीय भावना के भी दर्शन होते हैं। इसी प्रकार वेदों में सुखी-समृद्ध और शत्रु-रहित राष्ट्र का सिद्धान्त भी दृष्टिगत होता है। इन आचरण विषयक तत्त्वों का प्रतिपादन संहिताओं के आलोक में संक्षेप में इस प्रकार है-

ऋत

वैदिक काल में 'ऋत' की प्रतिष्ठा शाश्वत नैतिक नियम के रूप में थी। ऋत और सत्य दोनों की उत्पत्ति ऋग्वेद में तप से मानी गई है।[1] अथर्ववेद में पृथ्वी को धारण करने वाले तत्वों में सत्य के साथ ऋत का नाम परिगणित है।[2] तैत्तिरीय संहिता में ऋत का महत्त्व बताया गया है कि ऋत की पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्युलोक, दिशाओं और स्वर्गलोक में सर्वत्र विजय होती है। विश्व में सुव्यवस्था, प्रतिष्ठा, नियमन का कारणभूततत्त्व यह ऋत ही है। आचार्य बलदेव उपाध्याय ने ऋत के महत्त्व को प्रकाशित करते हुए कहा है कि इस "ऋत" की सत्ता के कारण ही विषमता के स्थान पर समता का, अशान्ति के स्थान पर शान्ति का साम्राज्य विद्यमान है। इस सुव्यवस्था का कारण क्या है? 'ऋत' अर्थात् सत्यभूत ब्रह्म।[3] ऋग्वेद के एक मन्त्र से हमें यह भी ज्ञात होता है कि कर्म और वचन दोनों के ही द्वारा ऋत एवं सत्य-पालन की प्रतिज्ञा की जाती थी।[4] द्युलोक में सूर्य भी ऋत के द्वारा स्थापित है।[5] देवों को भी ऋत को धारण करने वाला कहा गया है।[6] मरुद्गण भी ऋत के द्वारा ही सत्य को प्राप्त हुए।[7] अथर्ववेद में भी कहा गया है कि ऋत केवल इहलोक में ही विभिन्न उपलब्धियों

1. ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत।-ऋग्वेद 10/190/1.
2. सत्यं बृहद् ऋतमुग्रं दीक्षा तपोब्रह्मयज्ञः पृथिवीं धारयन्ति।- अथर्ववेद 12/1/1.
3. भारतीय धर्म और दर्शन-बलदेव उपाध्याय, पृष्ठ-44
4. ऋग्वेद 1/113/4.
5. य ऋतेन सूर्यमारोहयन् दिवि-ऋग्वेद 10/62/3.
6. मधु बाला ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः-ऋग्वेद 1/90/6; वा. सं. 13/27; तैत्तिरीय सं. 4/2/9/3; मैत्रायणी सं. 2/7/16; काण्व सं.-39/3.
7. ऋतेन सत्यं ऋतसाप आयन् -ऋ 7/56/12; मैं सं. 4/14/18; 2

का साधन नहीं है अपितु परलोक में भी सुगति प्राप्त कराता है।[1] इसलिए जीवितावस्था में सदाचारी व्यक्ति अपने आराध्य से ऋत के द्वारा दुराचरणों की निवृत्ति की प्रार्थना करते थे – हे मित्रावरुणौ, जैसे नौका द्वारा नदी पार की जाती है, उसी प्रकार आपके ऋत के पन्थ के द्वारा हम दुराचरणों से पार हो जाएं।[2]

साथ ही ऋत को अमृतत्व-प्राप्ति का साधक भी माना गया है।[3] वैदिक आर्य ऋत के महत्त्व को समझने के कारण ही यह निश्चय करता है कि 'मैं पूर्ण सफलतापूर्वक ऋत के मार्ग का अनुसरण करता हूँ।[4] और उसने अपने साथियों को भी ऋत के मार्ग पर चलने का परामर्श दिया।[5] अतः यह कहना उचित है कि प्राकृतिक जगत् का ऋत ही मानव जगत् में नैतिक आचार के रूप में सत्य कहलाता है।

सत्य

वैदिक ऋषियों के अनुसार सत्य पर ही भूमि टिकी हुई है।[6] मनुष्य का अपने जीवन में सुख-सम्पत्ति की इच्छाओं पर नियन्त्रण ऋत और सत्य के द्वारा होना चाहिए और इस नियन्त्रण में रहने के लिए अपने मन को दृढ़ बनाने के लिए प्रार्थना की गई है कि मेरे मन का विचार सत्य से युक्त हो।[7] वचन और कर्म दोनों से ही सत्य के पालन की प्रतिज्ञा एवं प्रार्थना की जाती है।[8] यजुर्वेद के ऋषि का संकल्प है कि मैं अनृत से सत्य को प्राप्त करता हूँ।[9] सत्य को

---

1. ये चित्पूर्व ऋतसाप ऋतावान् ऋतावृधः। पितृन्तपस्वतो यम तांश्चिदेवापि गच्छतात्।।-ऋग्वेद 10/154/4, अथर्ववेद 18/2/15.
2. ऋतस्य मित्रावरुणा पथा वामपो न नावा दुरिता तरेम। -ऋग्वेद 7/65/3.
3. ऋतस्य नाभिरमृतं विजायते- ऋग्वेद 9/74/4, काण्व संहिता 9/2/6.
4. ऋतस्य पन्थामन्वेभि साधुया-ऋ- 10/66/13.
5. ऋतस्य पथा प्रेत-वा. सं. 7/45; वा. सं. काण्व. 9/2/6, तै. सं. 1/4/43/1
6. सत्येनोत्तभिता भूमिः ।- ऋ. 10/85/1, अथर्व, -14/1/1
7. ....ऽऽकूतिः सत्या मनसो मे अस्तु। - ऋ. 10/128/4; अथर्व. 5/3/4; तै. सं. 4/7/14/2; काण्व सं. 40/10.
8. भास्वती नेत्री सूनृतानामचेति चित्रा वि दुरो न आवः। - ऋ. 1/113/4.
9. इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि। - वा. सं. 1/5, तै. सं. 1/5/10/3, 6/7/2, मै. सं. 4/9/24; 137/8.

वैदिक युग में विश्व का नियन्त्रक और संचालक तक माना गया है-जिस प्रकार द्युलोक, दिन-रात तथा सारा जगत् आश्रित है, जिसकी महिमा से प्रतिदिन सूर्योदय होता है और जल प्रवाहित होता है, ऐसा सत्य वचन हमारी रक्षा करे।[1] ऋग्वेद में आये सत्य के द्वारा पृथ्वी के स्तम्भन को अथर्ववेद में और भी स्पष्ट कर दिया गया है[2] कि ऋत, सत्य, दीक्षा, तप, ब्रह्म और यज्ञ पृथ्वी को धारण करते हैं। पारलौकिक आनन्द की प्राप्ति का साधन भी सत्य है। देवत्व को प्राप्त करने वाले पितरों को धर्म में स्थित और सत्यवादी कहा गया है।[3] इससे यह प्रमाणित होता है कि सत्य और धर्म अभिन्न तत्त्व हैं।

वैदिक आर्यों के देवता भी सत्य आचरण करने वाले और धर्म से युक्त थे - मेधावी और सत्यधर्मा देव अग्नि के पास आकर यज्ञ कार्य में उनकी स्तुति करो।[4]

और भी - हे अग्नि, तुम होता, अशेष बुद्धिसम्पन्न, सत्यपरायण, बहुत अधिक अद्भुत कीर्ति से युक्त हो।[5] मित्रावरुण को भी एक मन्त्र में सत्यधर्मा कहा गया है।[6] इसी प्रकार द्यावापृथिवी को सम्बोधित मन्त्र में उन्हें सत्य से युक्त होने को कहा गया है।[7] विविध स्थलों पर भी ऋषि ने अपने आराध्य को सत्यधर्मा, सत्यवचन, सत्यवान्, सत्यबल सम्पन्न आदि गुणों से विभूषित किया है।[8] एक ऋग्वैदिक सूक्त में ऋषि ने उषादेवी को सत्य-वचनों की

---

1. सा मा सत्योक्तिः परिपातु विश्वतो द्यावा च यत्र ततनन्नहानि च।
   विश्वमन्यन्नि विशते दनेजति विश्वाहापो विश्वाहोदेति सूर्यः।। -ऋ. 10/27/2.
2. सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्मयज्ञः पृथिवीं धारयन्ति।
   - अथर्व. 12/1/1; मै.सं. 4/14/11.
3. सत्यैः काव्यैः पितृभर्धर्मसद्भिः - ऋ. 10/15/9 - अथर्व. 18/3/47, मै.सं. 4/10/6.
   ये सत्यासो हविरदो हविप्पा इन्द्रेण देवैः सरथं दधानाः।
   - ऋ. 10/15/10 - अथर्व. 18/3/48.
4. कविमग्निमुपस्तुहि सत्यधर्माणध्वरे। - ऋ. 1/12/7, साम.32.
5. अग्निर्होता कविक्रतुः सत्यश्चित्रश्रवस्तमः - ऋ. 1/1/5.
6. ऋतस्य गोपावधि तिष्ठतो रथं सत्यधर्माणा परमे व्योमनि।
   यमत्र मित्रावरुणादथो युवं तस्मै वृष्टिर्मधुमत् पिन्वते दिवः।।
   - ऋ. 5/63/1, मै. सं. 4/14/12.
7. युवोर्ऋतं रोदसी सत्यमस्तु - ऋ. 1/1/5.
8. ऋ 1/3/3; ऋ. 1/29/1; 1/36/4; 1/151/8; 1/12/7; साम. 1/3/12; ऋ. 1/48/2; 1/77/1; 2/86/9 आदि.

उत्पादयित्री, सत्य वचनों से युक्त कहा है। वेदों में आराध्य में सत्यता का अवलोकन और प्रतिष्ठापन बारम्बार इसीलिए कहा गया है कि उनसे प्रेरणा प्राप्त मानव में सत्य का प्रचार-प्रसार हो, तभी तो उनकी यह दृष्टि थी -

राजा वरुण लोगों के सत्य और असत्यों को देखते हुए उनके मध्य घूमते हैं।[1]

एक स्थल पर सोम के लिए ऋषि का कथन है कि विद्वान् को यह विदित है कि सत्य और असत्य वचन परस्पर प्रतिस्पर्धा करते हैं, उनमें से जो सत्य और सरलतम है; उसी का पालन सोम करते हैं और असत्य की हिंसा करते हैं।[2]

यम-यमी संवाद सूक्त में यम यमी से कहता है कि हम सत्य वक्ता हैं, असत्य कभी नहीं बोलते।[3]

संहिताओं में जनसामान्य को भी सत्य मार्ग पर चलने[4], सत्य बोलने और तदनुकूल आचरण करने का आदेश ऋषि देते हैं।[5] मन, वाणी और कर्म की एकरूपता ही सत्य है। अथर्ववेद में ऋषि प्रतिज्ञा करता है - मैं सत्य बोलूंगा, झूठ कभी भी नहीं।[6]

अथर्ववेद में ही एक अन्य स्थान पर ऋषि कहता है कि सत्य नियमों के प्रथम उत्पादक (परमेश्वर) की उपासना करता हूँ।[7] मनुष्य के शरीर में सत्यादि के प्रविष्ट होने का उल्लेख भी अथर्ववेद में मिलता है-इस संसार के रचयिता ने जब नेत्र, कर्ण आदि छिद्रों को बनाया तब त्वष्टा के द्वारा बहुत से छिद्र वाले

---

1. यासां राजा वरुणो याति मध्ये सत्यानृते अवपश्यञ्जनानाम्।
   - ऋ. 7/49/3; अथर्व 1/33/2; तै. सं. 5/6/1/1 मै. सं. 2/13/1.
2. सुविज्ञानं चिकितुषे जनाय सच्चासच्च वचसी पस्पृधाते।
   तयोर्यत्सत्यं यतरदृजीयस्तदित् सोमोऽवतिहन्त्यासत्।।-ऋ. 7/104/12; अथर्व. 8/4/12.
3. न यत् पुरा चक्रमा कद्ध नूनमृता वदन्तो अनृतं रपेम- ऋ. 10/10/4; अथर्व. 18/1/4.
4. सत्यं वदन्तसत्य कर्मन् - ऋ. 9/113/4.
5. सत्यम् ऊचुर्नर एवा हि चक्रुः - ऋ. 4/33/6.
6. सत्यं वक्ष्यामि नानृतम् - अथर्ववेद 4/9/7.
7. उपातिष्ठे प्रथमजामृतस्य - अथर्ववेद 2/1/4.

पुरुष देह को घर बनाकर प्राण, अपान और इन्द्रिय ने प्रवेश किया।[1] चोरी, दुष्कर्म, पाप, सत्य, यज्ञ, यश, महान्, बल, क्षात्र-धर्म और ओज भी मनुष्य देह में प्रविष्ट हो गये।[2] यजुर्वेद में सत्य की प्राप्ति श्रद्धा द्वारा बताई गई है।[3] अथर्ववेद में भी निर्देश मिलता है कि - सत्य के मार्ग को भलीभांति देखो।[4] ऋग्वेद के ऋषि ने भी एक स्थल पर परामर्श दिया है कि सत्य की नौकायें शुभ कर्म करने वाले को पार लगाती हैं।[5] देवताओं की स्तुति करते समय सत्य के प्रति पूर्ण ध्यान केन्द्रित किया गया है अर्थात् स्तुति भावनापूर्ण मन से होनी चाहिये -इन्द्र की हम सत्य स्तुति करें, मिथ्या नहीं।[6] पवित्र एवं सत्य स्तुति - वाक्यों तथा श्रद्धा और पुण्य कर्मों के साथ तुम्हें अभिषुत किया गया है।[7]

यजुर्वेद में भी सत्य को प्राप्त कराने और असत्य को दूर करने की ईश्वर से प्रार्थना है।[8] वाजसनेयि संहिता में ऋषि निर्देश देता है कि हे सन्तानों! जैसे हम यथार्थ अविनाशी, अव्यभिचारी सत्पुरुषों में श्रेष्ठ सत्य मानना, सत्य बोलना, सत्य कराना आदि गुण हैं उसी प्रकार उन्हें धारण कर तुम भी सुखी रहो।[9]

'सत्य' के इस विस्तृत विवेचन के उपरान्त हम यह कह सकते हैं कि वैदिक आर्यों के जीवन में सत्य का अतिमहत्त्वपूर्ण स्थान था। उसने अपने देवताओं में सत्य आरोपित किया और उनकी सत्ययुक्तता के पीछे यह कारण दिया कि मानव-मात्र में सत्य गुण का प्रचार-प्रसार है। नैतिक धरातल में सत्य

---

1. यदा त्वष्टा व्यतृणत् पिता त्वष्टुर्य उत्तरः। गृहं कृत्वा मर्त्य देवा पुरुषमाविशन्।।
अथर्व. 11/8/18.

2. स्तेयं दृष्कृतं वृजिनं सत्यं यज्ञो बृहत्। बलं च क्षत्रमोजश्च शरीरमनुप्राविशन्।।
अथर्व. 11/8/20.

3. श्रद्धया सत्यमाप्यते - वा. सं. 19/30.
4. ऋतस्य पन्थानमनुपश्य साधु। - अथर्व. 18/4/43.
5. सत्यस्य नावः सुकृतम् अपीपरन्। ऋ. 9/73/1.
6. सत्यमिद् वा उतं वयमिन्द्रं स्तवाम नानृतम्। ऋ. 8/62/12.
7. ऋतवाकेन सत्येन श्रद्धया तपसा सुत। - ऋ. 9/113/2.
8. वा. सं. 17/62.
9. ऋतं. सत्यमृतं सत्यमग्निं पुरीष्यमङ्गिरस्वद्भरामः।
- वा. सं. 11/47; मैं. सं. 2/7/4; 6/1/6; काण्व सं. 16/4, 19/5.

सर्वश्रेष्ठ मान्य आचार सिद्धान्त है, जो धरती, आकाश, अन्तरिक्ष, इहलोक, परलोक, पितृलोक, देवलोक सभी स्थानों पर समान रूप से उपादेय है।

अहिंसा

ऋत और सत्य के अतिरिक्त अहिंसा की उदात्त भावना भी संहिताओं में दृष्टिगोचर होती है। अहिंसा के भाव से देवताओं को विभूषित किया गया है।[1] एक मन्त्र में पितरों को स्तोता और हिंसा एवं पाप आदि से रहित बताया गया है।[2] अग्नि से भी इस विषय में प्रार्थना की गई है- हे अग्नि, हमारे द्वारा प्रज्वलित होकर अपने अहिंसित और पालनक्षम तेज द्वारा हमारा पालन करो।[3] मातृरूपिणी दिशाओं के मध्य अग्नि हिंसारहित होकर बढ़े।[4] सर्वजनवाञ्छनीय अग्नि! तुम उत्पन्न होकर हिंसारहित, अजेय और एकनिष्ठ भाव से भलीभांति हमारी रक्षा करो।[5] अग्नि ! तुम हिंसाशून्य, बली देवों के दूत और स्तोता हो।[6]

वैदिक जन हमें प्रायः धन की कामना करता दिखायी देता है। वह ऐसे धन की कामना करता है जो धन किसी की हिंसा का कारण न बन पाये अपितु लोक कल्याण का साधक हो। उदाहरण के लिए पृथक-पृथक स्थलों की क्रमशः अदिति और इन्द्र से प्रार्थना की गई है-हम अदिति से पापरहित, अक्षीण, हिंसारहित, अन्नयुक्त और स्वर्गतुल्य धन के लिए प्रार्थना करते हैं।[7]

इन्द्र, हमें ऐसी विपुल समृद्धि प्राप्त हो जो कि कल्याणकारी अहिंसित तथा शत्रुओं को तारने वाली हो।[8]

यजुर्वेद में कहा गया है कि साँप मत बन और न ही व्याघ्रादिवत् हिंसक

---

1. ऋ 1/31/13; 1/33/1 आदि.
2. क. यथा चित् पूर्वे जरितार आसुरनेद्यां अनवद्या अरिष्टाः। - ऋ. 6/19/4.
   ख. असुं न ईयुरवृको ऋतज्ञास्त नोऽवन्तु पितरो हवेषु। - ऋ. 10/15/1; अथर्व. 18/1/44, वा. सं. 19/19, तै. सं. 2/6/12/3, मै. सं. 4/10/6.
3. विश्वेभिरग्ने स्वयशोभिरिद्धोऽदब्धेभिः पायुभिः पाह्यस्मान्। - ऋ. 1/95/9.
4. अहिंस्यमान उर्विया विवावृधे। - ऋ. 1/141/5.
5. अदब्धं भरदृपितेभिरिष्टेऽनिमिषद्भिः परिपाहि नोजाः। - ऋ. 1/143/8.
6. अदब्धस्य स्वधावतो दूतस्य रेभतः सदा - ऋ. 9/44/20; काण्व संहिता 40/14.
7. अनेहो दात्रमदितरनर्यं हुवे सवर्यवदवधं नमस्वत्। - ऋ. 1/185/3.
8. ऋ. 6/22/10.

बन[1], इससे स्पष्ट होता है कि वैदिक जन न तो हिंसा में आस्था रखता था और न हि हिंसा करने वाले को आदर की दृष्टि से देखता था अपितु देवों से सदा हिंसक शत्रुओं को नष्ट करने के लिए प्रार्थना किया करता था। वह यह भी प्रार्थना करता था कि देव उसे हिंसा रूप पाप से दूर रखें। यजुर्वेद के एक मन्त्र में यह प्रार्थना की गई है कि हे जगदीश्वर, हमें पुरु अर्थात् बहुत दुःख देने वाले हिंसा रूप पाप एवं हिंसक शत्रु से दूर रखें।[2]

अथर्ववेद के द्वितीय काण्ड में 19-23 तक चार सूक्तों में क्रमशः अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र और आपः देवता से उस शत्रु को नष्ट करने की प्रार्थना की गई है जो हमसे द्वेष करता है और जिससे हम द्वेष करते हैं।[3] यहाँ यह स्वतः स्पष्ट है कि सज्जन की दुष्ट से रक्षाहेतु की गई हिंसा, हिंसा मानी गयी है। इसी प्रकार यजुर्वेद में भी यज्ञकर्म करने से पूर्व हिंसक की हिंसा करने की प्रार्थना की गई है-हे देव, आप हिंसक हैं, हिंसा करने वाले की हिंसा कीजिये। जो हमारी हिंसा करता है उसकी हिंसा कीजिये, उसको भी नष्ट कीजिये जिसकी हिंसा के लिए हम प्रवृत्त हुए हैं।[4]

संहिताओं में अनेक बार शत्रु की हिंसा की, और आर्यों द्वारा स्वयं की अहिंसा की प्रार्थना की गई है। वैदिक काल में मनुष्य को ज्ञान था कि राजा को अपनी प्रिय प्रजा का यथासम्भव पालन करना चाहिये न कि हिंसा।[5] एक मन्त्र में इन्द्र से ऋषि ने विचार इस प्रकार अभिव्यक्त किये हैं-हे बलवान् इन्द्र ! तुम अमरणशील हो। मनुष्य तुम्हारे स्वर्ग नामक स्थान का सर्वदा यजन करना

---

1. मा अहिर् भूर् मा पृदाकुः। - वा. सं. 6/12; 8/23.
2. पुरुराव्णो देव रिषस्पाहि। - वा. सं. - 3/48; 8/27; 20/18; तै. सं. 1/4/45/2; 6/6/3/4; मै. सं. - 1/3/39; 4/8/5; काण्व सं. 4/13, 29/3, 38/5.
2. योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः। - अथर्व 2/19-23 के सभी मन्त्र
4. धूरसि धूर्वं, धूर्वन्तं धूर्व सं योऽस्मान् धूर्वति। तं धूर्वं यं वयं. धूर्वामः ।। वा. सं. - 1/8, तै. सं. 1/1/4/1; मै. सं. 1/1/4; 1/2/6; 3/7/8; 4/1/4; काण्व सं. - 1/4; 2/7; 31/3.
5. मा हिंसीस्तन्वा प्रजाः। - वा. सं. 12/32; तै. सं. 4/2/3/1; 5/2/2/2; मैं. सं. 2/7/ 10; 3/2/2 काण्व सं. - 16/10; 19/22

चाहते हैं। वे किसी प्राणी की हिंसा नहीं करते।[1] ऋग्वेद में भी एक मन्त्र कहा गया है कि हे अश्विनौ, मुझे सरल, अहिंसक एवं धनाभिलाषिणी बुद्धि प्राप्त कराओ।[2] इसी प्रकार एक अन्य मन्त्र में अग्नि से प्रार्थना की गई है-हिंसारहित अग्नि, तुम शोभन पुरुषों से युक्त और व्रतपालक हो। तुम्हें सैकड़ों हजारों धन प्राप्त हों।[3] वैदिक आर्यों ने समय-समय पर अपने देव को अहिंसक, हिंसारहित आदि विशेषण प्रदान किये।[4]

आर्य इतने अधिक अहिंसाप्रिय भी न थे कि उनकी दृष्टि में हिंसा का कोई महत्त्व ही न हो। सत्य तो यह है कि दुष्टों और शत्रुओं की हिंसा करने वाले तारक के रूप में उसने सदैव अपने देव को देखा और शत्रुनाश की प्रार्थना की। जहाँ उसने अपने देव को अहिंसक और हिंसारहित कहा, वहीं 'हिंसक पशु विनाशक'[5], 'हिंसकों का हन्ता'[6] आदि भी उद्घोषित करके शत्रु के नाश की कामना की। जिसकी स्वयं कोई हिंसा नहीं कर सकता वहीं दूसरों की भी रक्षा कर सकता है, इसीलिए स्तोता पहले ही अपने आराध्य को शूर, वीर, बली, अहिंसित आदि उपाधि दे देता है-

हे शत्रुओं की हिंसा करने वाले शूल सभापते हमारे शत्रुओं का सब ओर विदारण करो।[7]

अन्यत्र भी कहा गया है-

हे शूरवीर या जगदीश्वर, आप इस संसार में युद्धों में शूर विद्वानों के सहित हमारी अच्छी प्रकार से रक्षा करो हिंसा मत करो।[8]

---

1. कदा ते मर्ता अमृतस्य धामे यक्षन्तो न मिनन्ति स्वधावः। - ऋ. 6/21/3.
2. प्राची मु देवाश्विना धियं मेऽध्रांसातये कृतं वसूयम्। - ऋ. 7/67/5.
3. अनामृणः कुविदादस्य। - ऋ. 1/33/1.
4. अवृकाय - ऋ. 1/33/1.
5. अदब्धं भरदृपितेभिरिष्टेऽनिमिषदिभः परिपाहि नोजाः। - ऋ. 1/143/8.
6. अदब्धस्य स्वधावतो दूतस्य रेभतः सदा। - ऋ. 9/44/20, का. सं. 40/14.
7. वाजसनेयि सं. - 8/53.
8. मो षू ण इन्द्रात्र पृत्सु देवैरस्ति हिष्मा ते शष्मिन्न वयाः। - ऋ. 1/173/12; वा. सं. - 3/46; तै. सं. - 1/3/8/1; मै. सं. - 1/10/2; काण्व सं. - 9/4.

यज्ञ रूपी श्रेष्ठ कर्म करने वाले यजमान के शत्रुओं की अनेक मन्त्रों में अग्नि द्वारा हिंसा की गई है, सज्जनों की रक्षा के लिए असत्जनों की हिंसा, हिंसा नहीं होती क्योंकि दुर्जन सत्कर्मों के बाधक होते हैं। इसीलिए वैदिक आर्य यज्ञ से उस देव का आह्वान करता है जो पवित्र बलवाला और हिंसक शत्रुओं का विनाश करने वाला है-"मैं पवित्र बल मित्र और हिंसक रिपु विनाशक वरूण को यज्ञ में बुलाता हूं।"[1]

साथ ही अहिंसक की स्तुति को अग्नि द्वारा ध्यानपूर्वक ग्रहण करने का उल्लेख भी मिलता है-(अग्नि)तुम अहिंसक और पोषक के हेतु जो हव्य दान करता है, उस स्तुतिकर्ता के मन्त्र को तुम ध्यान से ग्रहण करते हो।[2]

अतः सत्कर्मों के अभाव को रोकने हेतू सज्जनों की अहिंसा के लिए दुर्जनों का नाश आवश्यक है। वैदिक ऋषि अपने यज्ञ में हिंसायुक्त मन्त्रों का प्रयोग करना उचित नहीं मानते क्योंकि उससे सुख नहीं मिलता जैसा कि एक मन्त्र में कहा गया है-देवगण, सुख के लिए उस हिंसा-द्वेष शून्य मन्त्र का यज्ञ में हम उच्चारण करते हैं।[3]

संहिताओं में 'रुद्र' को शत्रुओं को रुलाने वाला और हिंसा करने वाला देव माना गया है। वैदिक आर्य हिंसा अथवा वध से भयभीत होकर अपनी और अपने परिवार की हिंसा अथवा वध न करने की रुद्र से प्रार्थना करता है-"रुद्र! हममें से बूढ़े को नहीं मारना, बच्चे को नहीं मारना, सन्तानोत्पादक युवक को नहीं मारना तथा गर्भस्थ शिशु को नहीं मारना।"[4] तथा च "रुद्र हमारे पुत्र-पौत्र मनुष्य, गौ एवं अश्व को नहीं मारना। रुद्र क्रुद्ध होकर वीरों की हिंसा नहीं करना, क्योंकि हव्य लेकर हम सदा तुम्हें ही बुलाते हैं।"[5]

---

1. मित्रं हुवे पूतदक्षं वरुणं च रिशादसम्। - ऋ. 1/2/7; साम. - 847, वां सं. - 33/57.
2. यो रातहव्योऽवृकाय धायसे कीरेश्चिन्मंत्र मनसावनौषितम् - ऋ. 1/31/13.
3. तमिद्धोचेमा विद्धेषु शम्भुवं मन्त्र देवा अनेहसम्। - ऋ. 1/40/6.
4. मा नो महान्तमुत मा नो अर्भकं मा न उक्षन्तमुत मा न उक्षितुम्। मा नो वधीः पितरं मोत मातरं मा नः प्रियास्तन्वो रुद्र रीरिषः ।। - ऋ. 1/114/7; अथर्व. - 11/2/29; वा. सं. - 16/15; तै. सं. 4/5/10/20.
5. मा नस्तोके तनये मा न आयौ मा नो गोषु मा नो अश्वेषु रीरिषः। वीरान्या नो रुद्र भमितो वधीर्हविष्मन्तः सदमित्वा हवामहे।। - ऋ. 1/114/8; वा. सं. - 16/16; तै. सं. 3/4/11/2; त/5/10/3; मै. सं. 4/12/6; काण्व सं. 23/12.

ऋग्वेद का वचन है कि अग्नि, मनुष्यों या देवों की शत्रुता हमें पराभूत न करे। हमें दोनों प्रकार के शत्रुओं से बचाओ[1] तस्कर से भयभीत होकर वरुण देव से प्रार्थना की गयी है- तस्कर या वृक मुझे मारना चाहता है, हे वरुणदेव, उससे मुझे बचाओ।[2]

हमें प्रायः पाप और पापी, हिंसा एवं हिंसक दोनों से रक्षा की कामना दिखायी देती है क्योंकि पापी और हिंसक की छायामात्र भी कलुष का कारण है। यजुर्वेद के एक मन्त्र में प्रार्थना की गई है-हे जगदीश्वर, तू हमारे पिता के तुल्य है, राज्य के तुल्य पालक होकर बोध करना। तुम्हारे लिए नमस्कार करता हूँ, तुम मेरी हिंसा मत करना।[3] अपितु पापियों और हिंसकों से रक्षा करके आयु में वृद्धि कर वासदाता और कवि अग्नि, पापियों और हिंसकों के हाथों से हमें बचाकर हमारी आयु को बढ़ाओ।[4] इसी वेद के अन्य मन्त्र में प्रार्थना की गई है-मेरी रक्षा करो एवं विद्यादि गुणों से परिपूर्ण करो। हे सभाध्यक्ष आदि विद्वानों मेरी पालना करो। मेरी हिंसा न करो इसलिए तुम्हें मेरा नमस्कार हो।[5] इसी प्रकार सज्जन की ओर से एक मन्त्र में प्रार्थना है-जो हमसे अप्रीति करता है उस दुष्ट करने वाले पापी को मार डालें।[6] वह जानता है कि देव सदा कुत्सित प्रज्ञा वालों की ही हिंसा करता है।[7] एक मन्त्र में हिंसक व्यक्ति को उसी प्रकार पीस डालने की बात कही गई है जैसे अन्न को दाँतों से पीसा जाता है।[8]

इस प्रकार वैदिक मन्त्रों के अंशों और उद्धरणों के आधार पर यह सिद्ध होता है कि संहिताओं में अहिंसा की नीति की दृढ़ स्थापना की गई है। उस

---

1. मा नो अरातिरीशत देवस्य मर्त्यस्य च। पर्षि तस्या उत द्विषः।। - ऋ. 2/7/2.
2. स्तेनो वा यो दिप्सति नो वृको वा त्वं तस्माद्वरुण पाह्यस्मान्।
   - ऋ. 2/28/10, मै. सं. - 4/14/9.
3. पिता नोऽसि पिता नो बोधि नमस्तेऽस्तु मा मा हिंसीः। - बा. सं. - 37/20.
4. पुराग्ने दुरितेभ्यः पुरा मृध्रेभ्यः कवे। प्र ण आयुर्वसोतिर। - ऋ. 8/44/30.
5. पात माऽग्नयः पिपृतामाऽग्नयो गोपायत मा नमो वोऽस्तु मामाहिंसिष्ट।
   - वा. सं. - 5/34.
6. वा. सं. - 26/10; तै. सं. - 1/4/41/1.
7. वा. सं - 33/26; ऋ. - 3/34/3; अथर्व. - 20/11/3.
8. वा. सं. - 11/80.

समय व्यक्ति की अहिंसा में आस्था थी और वह हिंसा एवं हिंसकों से दूर अहिंसा और अहिंसकों से प्रीति करता था। अहिंसा के पात्र के सच्चरित्र, संयमी एवं दयालु होने का बोध हमें ज्ञात है। वैयक्तिक जीवन में अहिंसा के सुदृढ़ भाव के द्वारा ही परिवार और राष्ट्र में भी अहिंसा का आदर्श स्थापित किया जा सकता है। वैदिक अहिंसा का स्वस्थ स्वरूप यही है कि सज्जनों की रक्षा की जाए और दुष्टों की हिंसा की जाये।

मैत्री

मैत्री भाव एक आन्तरिक भाव है जो प्रत्येक सदाचारी मानव का गुण है। मित्रता का भाव हृदय में रहने से मानव के ईर्ष्या, द्वेष, द्रोहादि गुणों का निवारण होता है ऐसा हमें संहिताओं के अध्ययन से ज्ञात होता है। उस युग में भी मैत्री की दृढ़-भावना विद्यमान थी। अथर्ववेद में कहा भी गया है कि सब दिशायें मेरी मित्र हों।[1] उस व्यक्ति को मित्र या सखा नहीं माना गया है जो समय पर मित्र की सहायता नहीं करता।[2] इसीलिए वैदिक मानव देवताओं से मित्रता की कामना करता हुआ दिखायी देता है-"हम देवताओं की मित्रता प्राप्त करें।"[3] यहाँ मित्र के प्रति व्यवहार के सम्बन्ध में भी निर्देश मिलता है कि सभी मित्रों से प्रीतिपूर्वक व्यवहार करो। मित्र के प्रति किये गये अपराध को पाप माना जाता था और यज्ञ करके उन पापों को दूर करने हेतु प्रार्थना की जाती थी।[4] लोक में प्रचलित कहावत 'मूर्ख मित्र से विद्वान् शत्रु श्रेयस्कर है'-बीज रूप में हमें वैदिक युग में दिखाई देती है-"जो विद्वान् मित्र का छोड़ देता है उसकी वाणी का कोई फल नहीं है, वह जो कुछ सुनता है, व्यर्थ ही सुनता है। वह सत्कर्म के मार्ग को नहीं जान सकता।"[5] मूर्ख मित्र का मूर्खतावश अकल्याण भी कर सकता है जबकि एक सन्मित्र अपने मित्र के लिए सदा शुभ की ही

1. सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु - अथर्व. - 19/15/6.
2. न स सखा यो न ददाति सख्ये - ऋ. 10/117/4.
3. प्रणीतिर् अभ्यावर्तस्व विश्वेभिः सखिभिः सह - अथर्व. - 1/105/1.
4. यच्चकृमा कच्चिदागः सखायं वा सदमिज्जास्पतिं वा। ऋ - 1/185/8.
5. यस्तित्याज सचिविदं सखायं न तस्य वाच्यपि भागो अस्ति। यदी श्रृणोत्यलीकं श्रृणोति नहि प्रवेद सुकृतस्य पन्थाम्।। - ऋ. 10/71/6.

कामना करता है-"देवों के मार्ग सरल व कण्टकविहीन हों जिनसे हमारे मित्र लोग कन्या के पिता के पास जाते हैं।"[1] वैदिक आर्य मानव और देवों दोनों से मित्रता की कामना करता था। एक स्थल पर वह इन्द्र को सम्बोधित करता है-"हम लोग मैत्री, धन और शक्ति के लिए इन्द्र को बुलाते हैं।"[2] मित्र को आवश्यकता पड़ने पर मित्र की सहायता के लिए तत्पर रहना चाहिये, इसीलिए कहा गया है-"जिस प्रकार मित्र मित्र को दान देता है उसी प्रकार तुम भी मेरे लिए दान परायण बनो।"[3]

मैत्री अल्पकालिक होने से सुखदायिनी नहीं हो सकती अतः अपयश और अकल्याण के भय से मित्रता के चिरस्थायित्व के लिए इन्द्र से प्रार्थना की गई है। "इन्द्र हमारी मैत्री कभी न छुडाना। हृदय में हमारे सुख की आकांक्षा करके हमारी मित्रता की स्मृति करना।"[4] अग्नि से हितैषी बनने की प्रार्थना करते हुए ऋषि दृष्टान्त देता है-जैसे "मित्र मित्र के प्रति हितैषी होते हैं वैसे ही हे अग्निदेव, आप सामने आने पर प्रसन्न होकर हितैषी बनो।"[5] सज्जन की मैत्री सदा हितकारिणी होती है, इसका विधान भी किया गया है-"हे प्रसिद्ध इन्द्र और वरुणदेव, जो मनुष्य हवि लक्षण अन्नवान् होकर सख्य के लिये तुम दोनों से बन्धुत्व प्राप्त करता है, वह मनुष्य पाप नाश करता है, संग्राम में शत्रु का विनाश करता है और महती रक्षा द्वारा प्रख्यात होता है।"[6]

वेदों में सख्य और भ्रातृ-भाव को समकक्ष माना गया है तथा यह अभिलाषा व्यक्त की गई है कि "सख्य भाव कल्याण करने वाला हो न कि चित्त में अशान्ति उत्पन्न करने वाला।"[7] इस प्रकार वैदिक मानव ने मैत्री को

1. अन्वक्षरा ऋजवः सन्तु पन्था येभिः सखायो यन्ति नो वरेयम्।। - ऋ. 10/85/23; अथर्व. - 14/1/34.
2. तमित् सखित्व ईमहे। - ऋ. 1/10/6.
3. सखा सख्ये वरेण्यं। - ऋ. 1/26/3.
4. मा नो वि यौः सख्या विद्धि तस्यनः सुम्नायता मनसा तत्येमहे।।- ऋ. 2/32/2.
5. भवा नो अग्ने सुमना उपेतौ सखेव सख्ये।- ऋ. 3/18/1.
6. इन्द्रा ह यो वरुणा चक्र आपी देवौ मर्तः सख्याय प्रयस्वान्। स हन्ति वृत्रा समिथेषु शत्रूनवोभिर्वा महद्भिः स प्रशृण्वे।। - ऋ. 4/41/2.
7. शिवा न सख्या सन्तु भ्रात्राऽग्ने देवेषु युष्मे।- ऋ. 4/10/8.

आचारिक गुण मानकर मित्र के लिये सच्चा मार्गदर्शक, कल्याणकारक, सुन्दर हृदय वाला आदि गुण आवश्यक माने हैं।

अभय

मनुष्य को सत्कार्य में निर्बाध रूप से प्रवृत्त करने हेतु 'अभय' अति आवश्यक है। अथर्ववेद में प्रार्थना की गई है-"अन्तरिक्ष हमको अभयप्रद हो, आकाश-पृथिवी हमको अभय देने वाली रक्षा दें। चारों दिशायें भी हमको सब ओर से अभय प्रदान करने वाली हों।"[1] आगे यह भी कहा गया है कि "मित्रों से अभय प्राप्त हो, शत्रुओं से कभी हम भयभीत न हों।"[2] यजुर्वेद के एक मन्त्र में प्रजा और पशुओं की ओर से अभयता प्रदान करने के लिए प्रार्थना की गई है।[3] अथर्ववेद के द्वितीय काण्ड के पन्द्रहवें सूक्त में ऋषि ने अपने प्राणों को निर्भीक होने का परामर्श दिया है।[4] साथ ही अनेक देवताओं और ऋषियों से भी अभय हेतु प्रार्थना की गई है।[5] इन्द्र को सबका स्वामी बतलाते हुए यह कहा गया है कि उससे मित्रता के पश्चात् किसी प्रकार का भय नहीं रह जाता-"इन्द्र हमारे यहाँ से .. भय दूर करो।"[6]

संहिताओं के अन्तर्गत देवताओं को सत्कार्यों के लिये मनुष्य का रक्षक और अभयदाता बतलाया गया है। अभय वैदिक आर्यों का अभीप्सित गुण

1. अभयं नः करत्यन्तरिक्षमभयं द्यवापृथिवी उभे इमे।
   अभयं पश्चादभयं पुरस्तादुत्तरादधरादभयं नो अस्तु।। -अथर्ववेद-19/5/6.
2. यतो यतः समीहसे ततो नो अभयं कुरु।
   शं नः कुरु प्रजाभ्योऽभयं पुरस्तादृत्तरादधरादभयं नो अस्तु।। - अथर्ववेद - 19/5/5.
3. यतो यतः समीहसे ततो नो अभयं कुरु।
   शं नः कुरु प्रजाभ्योऽभयं नः पशुभ्यः।। - वा. सं. 36/22.
4. यथा द्यौश्च पृथिवी च न बिभीतो न रिष्यतः। एवा मे प्राण मा बिभेः।। यथाहश्च रात्री चमा बिभीतोन रिष्यतः। एवा मे प्राण मा बिभेः।। यथासूर्यश्च चन्द्रश्च च बिभीतो न रिष्यतः। एवा मे प्राण मा बिभेः।। यथाब्रह्म चक्षत्रं च न बिभीतो न रिष्यतः। एवा मे प्राण मा बिभेः।। यथा सत्यं चानृतं च न बिभीतो न रिष्यतः। एवा मे प्राण मा बिभेः।।
5. येभ्यो होत्रां प्रथमामायेजे मनुः समिद्धाग्निर्मनसा सप्त होतृभिः। त आदित्या अभयं शर्म यच्छत सुगा नः कर्त सुपथा स्वस्तये।। - ऋ. 10/63/7.
6. अपो सुम्यक्ष भियस मत्। - ऋ. 2/20/6; मै. सं. 4/14/9.

इसलिए भी बन गया क्योंकि वे निर्भय स्थिति में रहते हुए सत्कर्मों की ओर प्रवृत्त होना चाहते थे और इसलिए वे दृष्ट-अदृष्ट भय, दिशाओं के भय, शत्रुजनित भय, देव-भय, प्राकृतिक भय, दारिद्र्य भय इत्यादि से रक्षाहेतु प्रार्थना करते थे।

स्वस्ति

संहिताओं में यत्र-तत्र सर्वत्र कल्याणविषयक ऋचायें बिखरी हुईं हैं। वैदिक मानव जिस पृथिवी पर रहता है उसे भी कल्याणकारी मानता था-"हम कल्याणमयी, सुख देने वाली पृथिवी पर सदा विचरण करें।"[1] और कल्याणमय मार्ग-प्राप्ति के लिये प्रार्थना करता है-"हे पृथिवी, मनुष्यों के चलने तथा रथादि के चलने के जो मार्ग हैं, उन पर धर्मात्मा और पापात्मा दोनों ही चलते हैं। जो चोर और शत्रुओं से रहित मार्ग है वही कल्याणप्रद मार्ग हमें प्राप्त हो। उसी के द्वारा तुम सुखी रहो।"[2] एक स्थान पर ऋषि की कामना है कि भद्र से श्रेय की ओर ले जाइये।[3] वैदिक जीवन में मंगल गृह की कामना की गई है ताकि उसमें अमंगल का प्रवेश न हो और वह दुःखी न हो-"हे इन्द्र मुझे मंगलकारी गृह प्रदान करो और हिंसात्मक शक्तियों को वहाँ से दूर कर दो।"[4] मानव की चाल-ढाल इत्यादि के लिये भी प्रार्थना की गई है-मेरा चलना फिरना मंगलमय हो और मेरा दूर गमन भी कल्याणकारी हो।[5] अथर्ववेद में कल्याणमय जीवन के लिये निर्मल मन की भी प्रार्थना की गई है-"हे सवित देव! हे राजन सोम! कल्याणमय जीवन के लिए तुम दोनों हमें सुन्दर, स्वच्छ

---

1. शिवां स्योनामनु चरेम विश्वहा। - अथर्व. 12/1/17.
2. ये ते पन्थानो बहवो जनायना रथस्य वर्त्मानसश्च यातवे।
   यैः संचरन्त्युभये भद्रपापास्तं पन्थानं जयेमानमित्रमतस्करं यच्छिवंतेन नोमृऽ।। - अथर्व. - 12/1/47.
3. भद्रादभि श्रेयः प्रेहि। - तै. सं. 3/1/1/5.
4. इन्द्र त्रिधातु शरणं त्रिवरुथं स्वस्तिमत्।
   छद्यर्दिर्यच्छं मधुवद्भयश्च गह्यं च यावया दिद्युमेभ्यः।।
   - ऋ. - 6/46/9; साम. - 266; काण्वं सं. - 9/19.
5. मधुमन्मे निक्रमणं मधुमन्मे परायणम्-अथर्व. 1/34/3.
   मधुमन्मे परायणं मधुमत् पुनरायमन् - ऋ. 10/24/6.

मन वाला बनाओ।" ऋग्वेद में अग्निदेव द्वारा यजमान का कल्याण साधन वस्तुतः अग्नि का ही प्रीतिकारक कहा गया है-"हे अग्नि, तुम जो हविष्य देने वाले यजमान का कल्याण साधन करते हो, वह कल्याण है, हे अंगिरः! वास्तव में तुम्हारा ही प्रीतिसाधक है।"[1] कल्याणकारी आश्रयहेतु भी अग्निदेव से मांगलिक आश्रय की प्रार्थना की गई है-"अग्निदेव हमारे ऊपर अनुग्रह करके सदा अवहित मांगलिक और सुखकर आश्रय देकर हमारी रक्षा करो।"[2] ईश्वर के स्मरण मात्र को प्राणियों के लिये कल्याणकारक बतलाया गया है और ईश्वर से प्रार्थना के द्वारा मंगलकामना की गई है।[3]

इनके अतिरिक्त पक्षियों तक से मानवेतर प्राणियों से भी मंगलवचन बोलने की प्रार्थना की गई है-"शकुन्त! सुमंगलसूचक और प्रियवादी होकर घर की दक्षिण दिशा में बोलो ताकि चोर एवं दुष्ट व्यक्ति हमारे ऊपर प्रभुत्व न करें।"[4]

शत्रु-विजय हेतु भी मरुतों से कल्याण की कामना की गई है-"हे मरुतों! हम लोग कल्याण द्वारा पाप का परित्याग करके शत्रुओं को जीतें।"[5] वैदिक आर्य कल्याणकारी कर्म करना चाहते थे अतः एक मन्त्र में ऐसी ही अभिलाषा व्यक्त की गई है-"अपने कर्म से हम कल्याणभागी बनें।"[6] स्थान-स्थान पर न केवल स्वयं के वरन् सभी के कल्याण की कामना की गई है-"हे सविता देव, तुम हम लोगों के समस्त अमंगल का नाश करो और भद्र को हम लोगों के अभिमुख प्रेरित करो।"[7]

इस प्रकार वैदिक आर्यों के मन में समस्त समाज के नैतिक कल्याण की भावना विद्यमान थी।

---

1. भद्र नोअपि वातय मनः। – ऋः 10/20/1.
2. अप्रयुच्छन्नप्रयुच्छद्भिरग्ने शिवेभिर्नः पायुभिः पाहि शग्मैः। ऋ. 1/143/8.
3. शिवो नामासि। – वा.सं. 3/63.
4. स्वस्ति नो अस्तु। – अथर्व, 19/8/7.
5. अतीयाम निदस्तिरः स्वस्ति भिर्हित्वावद्यमरातीः। – ऋ. 5/53/14.
6. उत स्वेन क्रतुना सं वेदत श्रेयांसम्। – ऋ. 10/31/1.
7. विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव। यद्भद्रं तन्न आसुव।।
   – ऋ. 5/82/5; वा. सं. 30/3.

विवेकशीलता

मानव संसार के अन्य प्राणियों से इसलिए श्रेष्ठ है क्योंकि उनको अच्छा जीवन जीने के लिये ईश्वर ने विवेक बुद्धि प्रदान की। इसीलिए वैदिक आर्य सद्बुद्धि की कामना करते हैं और दुर्बुद्धि को दूर करनें हेतु प्रार्थना करते हैं। अधिकतर वैदिक मन्त्रों में ऋषियों ने अपने आराध्य को 'कवि' अर्थात् 'क्रान्तदर्शी' अथवा 'अशेषबुद्धिसम्पन्न' सम्बोधन दिया है।[1] सद्बुद्धि सदैव सत्कर्मों की अभिलाषा करेगी और सत्कार्य सर्वदा सुखदायी होते हैं इसीलिये ऋषि कहता है-"इन्द्र और वरुण! तुम्हारी अच्छी प्रकार सेवा करने के लिये हमारी बुद्धि अभिलाषिणी है। हमें शीघ्र सुख दो।"[2] अपनी प्रज्ञा को शुभकर्मों में प्रेरित करने के लिये वह बार बार प्रार्थना करता है क्योंकि दुर्बुद्धि मनुष्यों की प्रवृत्ति दुष्कर्मों की ओर होती है-

"जो सविता देव, सर्वोत्पादक सर्वप्रेरक है वह हमारी प्रज्ञा एवं बुद्धियों को शुभ कर्मों में प्रेरित करे।"[3]

ऋग्वेद में अनेक स्थलों पर दुर्बुद्धि दूर करने हेतु प्रार्थना की गई है-"हमारी दुर्बुद्धि दूर हो"[4]

ऋग्वेद के ही एक मन्त्र में प्रखर बुद्धि हेतु प्रार्थना की गई है-"लौहमय खड्ग की धार की भांति मेरी बुद्धि को तेज कर दो।"[5] संहिताओं में उसे बुद्धि कहा गया है जो दूसरों की रक्षा करती है और सत्-असत् की पहचान करती है।

यश

भौतिक शरीर के नष्ट होने पर भी यशरूपी शरीर मनुष्य को अनन्तकालीन अमरता प्रदान करती है। वैदिक आर्यों ने भी कामना की है-"हम सब यशस्वी

1. अग्निर्होता कविक्रतुः। ऋ. 1/1/5. कवि नो मित्रावरुणा। - ऋ. 1/2/9; साम, 8/4/9.
2. इन्द्रावरुणा, नू नु वां सिषासन्तीषु धीष्वा। अस्मभ्यं शर्म्म यच्छतम्।। - ऋ. 1/17/8.
3. तत् सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्।। - वा. सं. 3/35; 22/9, 36/3; 30/3, ऋ. 3/62/10; साम. 1462, तै. सं. - 1/5/6/4/8/4; मै. सं. - 4/10/3.
4. दुर्मतिः। अस्मदेत्वजहनुषी - ऋ. 8/67/15,
   अप दुर्मतिं जहि - वा. सं. 11/47, मै. सं. 3/7/4, काण्व सं. - 16/4; 19/5.
5. चोदय धियमयसो न धाराम् - ऋ. 6/47/10.

बनें।"[1] दरिद्रता पाप की जननी है अतः कीर्ति और दुराचार मनुष्य को दुष्कर्मों में प्रेरित करता है अतः कीर्ति लाभ हेतु रथ, अश्व, आदि धन का दान अपने देव से करने को कहता है-"उन्नत कीर्ति और सत्य के लिए हमें रथ, अश्व धनादि दान दो।"[2] वैदिक मानव ने यश से पूर्ण धन की कामना की है-"हे उषा, हम यश, वीर दास और अश्व से युक्त धन प्राप्त करें।"[3]

वैदिक मानव को यह ज्ञात था कि उसके कर्मों से ही यश-अपयश का भागी बनना होगा। अनेक बार सन्तति भी अपने माता-पिता के यश-अपयश का ध्यान रखकर कार्य या स्तुति नहीं करता था अपितु भविष्य में कहीं पुत्र कुपुत्र न हो जाए इसकी चिन्ता करके अपने आराध्य से यशस्वी पुत्र की कामना करता था-" अग्नि, तुम यशस्वी और यज्ञकर्ता पुत्र प्रदान करो।"[4] देवताओं की कृपादृष्टि से व्यक्ति ख्याति और प्रशंसा प्राप्त करता है, तभी तो ऋग्वेद में कहा गया है-"यज्ञ के नायक और राजा आदित्यों को जो हव्य प्रदान करता है उनका नित्य अनुग्रह जिसकी पुष्टि करता है, वही व्यक्ति धनवान, विख्यात, वदान्य और प्रशंसित होकर तथा रथ पर चढ़कर यज्ञस्थल में जाता है।"[5] अथर्ववेद में शत्रु द्वारा प्रशंसनीय यश की अभिलाषा की गई है-" (हे इन्द्र) हम इतने यशस्वी हों कि हमारे यश को शत्रु भी गाये।"[6] यश को मित्र के समान कार्य करने वाला कहा गया है जो सभा में प्राधान्य प्रदान करने वाला और सुख देने वाला है। व्यक्ति धर्म के मार्ग पर चलकर यश प्राप्त कर सकता है।

दान

यद्यपि दान का महत्त्व अवान्तर साहित्य में भी दिखाई देता है किन्तु मूलतः इसकी नींव संहिताओं में ही है। स्थान-स्थान पर वैदिक जन को

---

1. वयं सर्वेषु यशसः स्याम। - अथर्व.
2. प्र नो वाजानथ्योश्वअश्वबुद्धयानिषे यन्धि श्रवसे सूनृतायै। - ऋ. 1/121/14.
3. उषस्तमश्यां यशसं सुवीरं दासप्रवर्गं रयिमश्वबुध्यम्। - ऋ. 1/92/8.
4. त्वं नो अग्ने सनये धनानां यशसं कारुं कृणु ह स्तवानः- ऋ. 1/92/8.
5. यो राजभ्य ऋतानिभ्यो ददाश यं वर्धयन्ति पुष्टयश्च नित्याः। स रेवान्याति प्रथमो रथेन वसुदावा विदथेषु प्रशस्तः।। - ऋ. 2/27/12.
6. उत नः सुभगाँ अरिर्वोचेयुः - अथर्व. 20/68/6.

दानशील, दानपरायण कहकर सम्बोधित किया गया है।[1] ऋग्वेद के दशम-मण्डल में दान की महिमा का उल्लेख करते हुए अदानी की गति का उल्लेख किया गया है-"अदाता को कोई सुखी नही कर सकता।"[2]

क्षुधार्त मनुष्य के सामने होने पर अन्न न देने वाले को सुख नहीं मिल सकता[3] ऐसा भी कहा गया है। इसके विपरीत अन्न की इच्छा से किसी दुर्बल व्यक्ति के भिक्षा मांगने पर अन्नदान करने वाले को दाता कहा गया है।[4] और यह भी बताया गया है कि"दाता सदा अदाता के ऊपर रहता है।"[5] दाता की सद्गति का वर्णन एक मन्त्र में इस प्रकार किया गया है-"दाताओं की मृत्यु नहीं होती, वे देवता हो जाते हैं। वे दरिद्र नहीं होते, वे क्लेश, व्यथा एवं दुःख भी नहीं पाते, इस पृथ्वी व स्वर्ग में जो कुछ है वह सब उन्हें दक्षिणा प्रदान करते हैं।"[6] ऋग्वेद के दक्षिणासूक्त में यज्ञोपरान्त दक्षिणा के महत्त्व का वर्णन किया गया है-"जो लोग दक्षिणा देते हैं, वे स्वर्ग में उच्चासन पा जाते हैं। अश्वदाता सूर्य के साथ एकत्र होते हैं, सुवर्णदाता अमरता को प्राप्त करते हैं, वस्त्रदानी सोम के पास जाते हैं। सभी दीर्घायु होते हैं।"[7]

"जो मनुष्य यज्ञ-समाप्ति पर यज्ञानुष्ठान करके मरुतों को दान देता है उसे अन्न, धन और जन की प्राप्ति होती है।"[8] कृपण के लिए कामना की गई है-"कृपण को दुःख प्राप्त हो।"[9] एक मन्त्र में धनी होकर भी याचक को दान

1. अपृणन् मर्डितारं न विन्दते - ऋ. 10/117/1.
2. य आध्राय चकमानाय पित्वोऽन्नवान्त्सनफितायोपजग्मुषे। स्थिरं मनः कृणुते सेवते पुरोतो चित्स मर्डितारं न विन्दते।। -ऋ. सं. 10/117/2.
3. स इद्भोजो यो गृहवे ददात्यन्नकामाय चरते कृशाय। - ऋ. 10/117/3.
4. मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं बवीमि वध इत्स तस्य। नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी।। - ऋ. 10/117/6.
5. इदं यदिश्वं भुवनं स्वश्चैतत्सर्वं दक्षिणैभ्यो ददाति।। - ऋ. 10/117/8.
6. उच्चा दिवि दक्षिणावन्तो अस्थुर्ये अश्वदा सह ते सूर्येण। हिरण्यदा अमृतत्त्वं भजन्ते वासोदाः सोम प्रतिरन्त आयुः।। - ऋ. 10/107/2.
7. न भोजा ममुर्न न्यर्थमीर्युन रिष्यन्ति न व्यथन्ते ह भोजाः। इदं यद्विश्वं भुवनं स्वश्चैतत्सर्वं दक्षिणैभ्यो ददाति।। - ऋ. 10/107/8.
8. य उदृचि ये अध्वरेष्ठा मरुद्भ्यो न मानुषो ददाशत्। रेवत्स वयो दधते सुवीरम् ......।। -ऋ. 10/77/7.
9. अपृणन्तम् अभि सं यन्तु शोकाः। - ऋ. 10/125/7.

न करने वाले धनवान की धनदाता इन्द्र से ईर्ष्या वर्णित है-"इन्द्र, जो मनुष्य धनी होकर भी दान नहीं करता और तुम धनदाता से ईर्ष्या करता है उसका धन हमारे लिए ले आओ।[1] एक मन्त्र में दान के विषय में यह भी कहा गया है कि "सुन्दर दान कुटिलता से शून्य हुआ करता है।"[2]

दानशीलता की महान प्रेरणा अथर्ववेद के इस मन्त्र से मिलती है-"सौ हाथों से संचय कर, हजार हाथों में बाँट दे।[3] इस प्रकार संहिताओं में जो दानशीलता का वर्णन मिलता है वह व्यक्तिमात्र को दान के महत्त्व की शिक्षा देता है।

पापराहित्य

मानव सृष्टि के साथ ही पाप एवं पुण्य दोनों कर्मों की सृष्टि हुई। अपने पुण्य कर्मों के द्वारा मनुष्य स्वर्ग प्राप्त करता है और पाप करके नरक को भोगता है। वैदिक आर्य को यह ज्ञात था कि पाप का फल बुरा होता है और इसीलिए वह ऋग्वेद के एक मन्त्र में वरुण से प्रार्थना करता है कि "निर्ऋति या पाप देवता को विमुख करके दूर रखो। हमारे किये हुए पापों से हमें मुक्त रखो।"[4] अथर्ववेद के ग्यारहवें काण्ड के छठे सूक्त में सभी देवताओं की क्रमशः स्तुति करके पाप से मुक्त करने की प्रार्थना की गई है। वैदिक मानव दृष्ट एवं अदृष्ट सभी पापों के लिए क्षमा मांगता है-"हे युवतम अग्नि, यद्यपि तुम्हारे परिचारकों के मध्य में हम अज्ञानवश कुछ पाप करते हैं तथापि तुम पृथ्वी के निकट हमें सम्पूर्ण रूप से निष्पाप कर दो। हे अग्नि! सर्वत्र विद्यमान हमारे पापों को शिथिल करो।"[5] वह अपने किये हुए पापों का प्रायश्चित्त भी करता था।[6] भूत और भविष्य के पक्षों से बचाकर कल्याण की कामना भी की

1. यस्ते रेवां अदाशुरिः प्रममर्ष मघत्तये। तस्य नो वेद आभर। - ऋ. 8/45/15.
2. सुदात्वपरिहत। - ऋ. 8/78/8.
3. शतहस्त समाहर सहस्रहस्त संकिर - अथर्व. 3/24/5.
4. बाधस्व दूरे निर्ऋतिं पराचैः कृतंचिदेन प्र मुमुग्धस्मत्। - ऋ. 1/24/9; तै. रां. 1/4/45/1; 6/6/3/2; मै. सं. 2/3/39; काण्व सं. 4/13/29/3.
5. ऋ. 4/12/4; मै. सं. 3/16/5; का. सं. 2/15.
6. कृतं चिदेनो नमसा विवासे - ऋ. 6/51/8.

गई है-"देवों, इस समय हमें अतीत और भविष्य के पापों से बचाकर कल्याण दो।"[1]

वैदिक आर्यों को यह भी विश्वास था कि पापी मन के द्वारा उच्चरित स्तुतियों पर देवगण भी ध्यान नहीं देते हैं। "वे निष्पाप स्तुतियों को सम्मानित करते हैं।"[2] वे यह भी जानते थे कि "जो देवों को प्रसन्न रखता है उसे दुःख और पाप नहीं मिलते।"[3] सत्यरहित और सत्यवचनशून्य पापी नरक को उत्पन्न करता है।[4]

वैदिक संहिताओं में पाप और पापी दोनों को हेय दृष्टि से देखा गया है और इन दोनों से बचने के लिये देवों से प्रार्थना भी की गई है ताकि शारीरिक व मानसिक शक्ति प्राप्त करके दुराचरण से दूर रहा जा सके।

पवित्रता

मनुष्य के जीवन में बाह्य एवं आन्तरिक शुद्धता का अत्यधिक महत्त्व है क्योंकि बाह्य शुद्धता से 'पवित्रता' की भावना प्रबल होती है और 'पवित्र' विचार आचार के 'प्राण' माने गये हैं इसीलिए वेद में प्रार्थना की गई है-"देवजन मुझे पवित्र करें, बुद्धियाँ मन के साथ पवित्र करें, समस्त प्राणी पवित्र करें और हे जातवेदस् अग्नि मुझे पवित्र करो।"[5] सच्चरित्र के लिए बुद्धि के साथ मन की पवित्रता भी आवश्यक है। एक मन्त्र में सविता से प्रार्थना की गई है कि "अपने पवित्रकारी प्रकाश और शक्ति से उत्पादक द्वारा हे सविता अथवा सर्वप्रेरक आप हमें दर्शनार्थ पवित्र करें।"[6]

---

1. ते नः कृतादकृतादेनसस्पर्यद्या देवासः पिपृता स्वस्तये।।-ऋ. 10/63/8.
2. अनेहसः स्तुभ इन्द्रो दुवस्यति - ऋ. 3/51/3; मै. सं. 4/12/3.
3. ऋ. 1/125/7.
4. पापासः सन्तो अनृता असत्या इदं पदमजनता गभीरम् - ऋ. 4/5/5.
5. पुनन्तु मा देवजनाः पुनन्तु मनसा धियः। पुनन्तु विश्वा भूतानि जातवेदः पुनीहि माम्।। - वा. सं. 19/36; मै. सं. 3/11/10; का. सं. 38/2. अथर्ववेद में यह मन्त्र थोड़े अन्तर से दिया है - पुनन्तु मा देवजनाः पुनन्तु मनवो धिया। पुनन्तु विश्वा भूतानि पवमानः पुनातु मा।। - अथर्व. 6/19/1.
6. अस्मान् पुनीहि चक्षसे।। - अथर्व. 6/19/3; ऋ. 6/67/25; वा. सं. 19/43; मै. सं. 3/11/10; काण्व सं. 38/2.

संहिताओं में सोम को पवमान कहा गया है और प्रार्थना की गई है-"पवमान मुझे ज्ञान बल और जीवन के लिए पवित्र करे और अरिष्टों से रक्षार्थ शक्ति के लिये पवमान मुझे पवित्र करें।"[1] ज्ञान की पवित्रता, बल की पवित्रता और जीवन की पवित्रता के विषय में माना जाता है कि ज्ञान की पवित्रता से मनुष्य सदाचारवान् होकर अपना एवं दूसरों का कल्याण सोचने की सामर्थ्य से युक्त होता है और बल की पवित्रता से वह अपना बल दुर्बल मनुष्यों के हित में लगाता है तथा जीवन की पवित्रता से वह संसार के समक्ष आदर्श रूप में उपस्थित होता है। यजुर्वेद के एक मन्त्र में कहा भी गया है कि "हे शिष्य! विविध शिक्षाओं से मैं तुम्हारे भाषण की साधनभूत वाणी को निर्मल करता हूँ। तेरे जीवन के हेतु प्राण को निर्मल करता हूँ। तुम्हारे दर्शन के साधन नेत्र, सुनने के साधन श्रोत्र और बन्धरूपी नाभि को निर्मल करता हूँ, तुम्हारे सब प्रकार के व्यवहार को निर्मल करता हूँ।"[2]

यहीं पर एक मन्त्र में वह पितरों-पूर्वजों से पवित्रता प्राप्त करता है जिससे वह पूर्ण अर्थात् सौ वर्ष की आयु प्राप्त कर सके।[3]

सुख

संहिताओं में 'शम्' एवं 'स्वस्ति' शब्द सुख अथवा कल्याण के लिए प्रयोग किये गये हैं। मनुष्य किस प्रकार के मार्ग पर चलकर सुख प्राप्त कर सकता है, यह यजुर्वेद में बतलाया गया है-"जिस सत्कृत्य अथवा धर्म के मार्ग पर पूर्वज लोग चलकर सुखी हुए हैं उस धर्मयुक्त मार्ग पर तुम भी चलो।"[4] अनेक स्थलों पर सुखप्राप्ति-हेतु देवों से प्रार्थना भी की गई है।[5] "दिव्य गुण

---

1. पवमानः पुनातु मा क्रत्वे दक्षाय जीवसे। अधो अरिष्टतातये।।
   – अथर्व, (19/2; मै. सं. 3/11/10).
2. वाचं ते शुन्धामि प्राणं ते शुन्धामि चक्षुस्ते शुन्धामि, श्रोत्रं ते शुन्धामि, नाभिं ते शुन्धामि, मेदं ते शुन्धामि, पायुं ते शुन्धामि चरित्रांस्ते शुन्धामि।। – वा. सं. 6/14.
3. पुनन्तु मा पितरः सोम्यासः पुनन्तु मा पितामहाः पुनन्तु प्रपितामहाः पवित्रेण शतायुषा। पुनन्तु मा पितामहाः पुनन्तु प्रपितामहाः। पवित्रेण शतायुषा विश्वमायुर्व्यश्नवै।
   – वा. सं. 19/37; मै. सं. 3/11/10; काण्व सं. 38/2.
4. सुकृतस्य लोके तत्र गच्छ यत्र पूर्वे परेताः – वा. सं. 19/37; मै. सं. 2/7/16.
5. ऋ. 5/51/11-15; 10/63/3-16; 1/89/1, 2, 6; 6, 9; अथर्व. 1/31/4 तथा 19/8/7.

वाले जल हमारी अभीष्ट-सिद्धि करें और पान करने हेतु सुखदायी हों, वे हमारे कल्याण के लिए सब और से प्रवर्षशील हों।"[1] प्राकृतिक शक्तियों से भी सुख हेतु प्रार्थना की गई है कि "वायु हमारे लिए सुखकारक चले। सूर्य हमारे लिए कर्मशील होकर तपे, अत्यन्त शब्द करने वाला दिव्य गुणों से युक्त विद्युत् नामक देव हमारे लिए सुखकारी हो, बादल हमारे लिए सब ओर से वर्षा करें।"[2]

वेदों में सभी के लिए सुख की कामना की गई है।

शान्ति की कामना

वेदों में शान्ति मन्त्र बड़ा प्रसिद्ध है जिसमें सब ओर से शान्ति की कामना की गई है-"द्यौ हमारे लिए शान्तिकर हो, अन्तरिक्ष शान्किार हो, पृथ्वी शान्तिकर हो, औषधियाँ शान्तिकर हों, वनस्पतियाँ शान्तिकर हों, सभी देव शान्तिकर हों, सर्वत्र शान्ति ही शान्ति हो, वह शान्ति मुझे भी प्राप्त हो"[3] यथार्थतः शान्ति एक मानसिक दशा है, एक दृष्टिकोण है और इस प्रार्थना में ऐसा दृष्टिकोण बनाने के लिए प्रार्थना की गई है जिससे हमें सब कुछ शान्तिमय प्रतीत हो।

कर्मशीलता

वैदिक मानव ने इस लोक में कर्म करते हुए सौ वर्ष तक जीने की अभिलाषा व्यक्त की है।[4] उसे यह ज्ञात था कि ईश्वर उसी की सहायता करता है जो अपनी सहायता स्वयं करता है। और पुरुषार्थ के द्वारा लक्ष्य-प्राप्ति की

---

1. शन्नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये। शंयोरभि स्रवन्तु नः।। - वा. सं. 36/12; ऋ. 10/9/4; साम. 33; काण्व 13/15; 38/13.
2. शन्नो वातः पवता शन्नस्तपतु सूर्यः। शन्नः कनिक्रद्देवः पर्जन्योऽभिवर्षतु ।। वा. सं. 36/10.
3. द्यौः शान्तिरंन्तरिक्षं शान्तिः पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः वनस्पतयः शान्तिर्विश्वेदेवाः शान्तिब्राह्म शान्तिः सर्वं शान्तिः शान्तिरेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि। - वा. सं. 36/17; मै. सं. 4/9/7.
4. कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः - वा. सं. 40/2.

इच्छा रखता है-"देवता गण इसके अतिरिक्त अन्य की सहायता नहीं करते जो पुरुषार्थ करते-करते थक न गया हो।"[1] वह ईश्वर से सुपथगामी[2] बनने की प्रार्थना करता है ताकि वह सुकर्म कर सके। कर्मशून्य मनुष्य गढ्ढे में गिरता है[3] और इसीलिए वह इन्द्र से प्रार्थना करता है कि " "इन्द्र मुझे क्लेश न दो, श्रान्त न करें और आलसी न बनायें।[4] वह चाहता था कि जिस प्रकार हम कर्म के फल की भावना कर सकें वह वैसा ही हो।[5] अथर्ववेद में भी कर्म के प्रति निष्ठा स्पष्ट की गई है-"मेरे दाहिने हाथ में कर्मकारित्व स्थित है और बायें हाथ में विजय।"[6]

पारिवारिक आचार

संहिताओं के अध्ययन से हमें यह ज्ञात होता है कि पारिवारिक स्तर पर भी आचार या नैतिकता का ध्यान रखा जाता था। इसीलिए परिवारों के लोगों के लिए परस्पर अनुकूल आचरण करने हेतु कामना की गई है-"पुत्र अपने पिता के अनुकूल आचरण करने वाला हो और वह अपनी माता के साथ प्रीतियुक्त विचार वाला हो। पत्नी अपने पति के प्रति माधुर्ययुक्त और शान्तिदायिनी वाणी बोले।"[7] जिस प्रकार माता-पिता अपनी संतान के लिए कल्याण की कामना करते थे उसी प्रकार पुत्र भी अपने माता-पिता के कल्याण की कामना करे।[8] पिता के पुत्र के प्रति पोषण, शिक्षण आदि कर्तव्य निर्धारित किये गये हैं। माता के कर्तव्य भी पुत्र एवं पुत्री दोनों के सन्दर्भ में बतलाये गये हैं। "मधुर वचन वाले, शोभन हाथों वाले यशस्वी पिता और माता प्रत्येक

---

1. न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः। - ऋ. 4/33/11.
2. अग्ने नय सुपथा - तै. सं. 1/1/14/3; वा. सं. 40/16; ऋ. 1/189/1; का. सं. - 3/1.
3. 'कर्तमव पदात्यप्रभुः।' - ऋ. 9/73/9.
4. न मा तमन्न श्रमन्नोत तन्द्रन्न - ऋ. 9/73/9.
5. अप्रामिसत्य महावन्तदसदिन्द्र क्रत्वा यथा वशः। ऋ. - 8/61/4.
6. कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः। - अथर्व. 7/50/8.
7. अथर्व. 3/30/2.
8. स्वस्ति मात्र उत पित्रे नो अस्तु - अथर्व. 1/31/4.
9. पिता माता मधुवचाः सुहस्ता भरे भरे नो यशसन्विष्टाम्। - ऋ. 5/43/2.

युद्ध में हमारी रक्षा करें।"[9] घातक रोगों से बचाने का उत्तरदायित्व भी माता का था।[1] पुत्र अपने पिता और पुत्री अपनी माता के गृहकार्यों में सहायता करके अपने कर्त्तव्य का निर्वहन करते थे। ऋग्वेद के एक मन्त्र में अपाला को अपने पिता के खेतों में अच्छी फसल के लिए प्रार्थना करते दिखाया गया है।[2] ऋग्वेद का यम-यमी सूक्त में भाई-बहन के सम्बन्धों पर प्रकाश डाला गया है। यहाँ बहिन (यमी) भाई (यम) से विवाह-हेतु प्रार्थना करती है किन्तु भाई यह कहकर मना कर देता है कि "भगिनीगामी पापी होता है।"[3] ऋग्वेद में "द्यौ को पिता, पृथिवी को माता, सोम को भ्राता और अदिति को स्वसा कहा गया है"[4] इसी प्रकार एक अन्य ऋक् है- "भ्रातृहीन और पति से द्वेष करने वाली दुराचारिणी स्त्रियों के समान इधर-उधर घूमने वाले असत्य और अनृत करने वाले पापीजनों ने इस सामाजिक अवनति को उत्पन्न किया है।"[5]

अतः भाई का बहन के लिए अजीवन महत्त्व रहता था। सरमा-पणि संवाद के माध्यम से बहन का भाई के प्रति यह कर्तव्य बताया गया है कि अपने भाई के प्रति निष्ठावान् रहे और उसकी रहस्यमयी बातें शत्रु को न बताये।

किसी भी परिवार का मूलाधर पति-पत्नी का युग्म होता है इसीलिए विवाह के समय पति-पत्नी का हाथ पकड़कर कहता था कि "तुम्हारे सौभाग्य के लिए मैं तुम्हारा हाथ पकड़ता हूँ, मुझ पति को पाकर तुम वृद्धावस्था तक पहुँचना। भग, अर्यमा और बहुत देने वाले सविता देवों ने मुझे गृहधर्म चलाने के लिए दिया है"[6] वधू को जहाँ साम्राज्ञी बनने का अधिकार सौंपा गया है[7] वहीं उसके गृहिणी रूप में गृह को सुचारु रूप से चलाने के साथ-साथ

1. अथर्व. 14/2/24.
2. ऋ. 8/91/5, 6.
3. पापमाहुर्यः स्वसारं निगच्छात्। - ऋ. - 10/10/12.
4. द्यौर्वः पिता पृथिवी माता सोमो भ्रातादितिः स्वसा। ऋ. 1/191:6.
5. अभ्रातरो न योषणो व्यन्तः पतिरिपो न जनया दुरेवाः। पापासः सन्तो अनृता असत्या इदं परमजनता गभीरम्।। ऋ. 4/5/5.
6. गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथासः। भगो अर्यमा सविता पुरंधिर्मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः।। - ऋ. 10/85/36.
7. सम्राज्ञी श्वसुरे भव सम्राज्ञी श्वश्रवां भव। ननान्दरि सम्राज्ञी भव सम्राज्ञी अधिदेवृषु।। - ऋ. 10/85/46.

सास-ससुर आदि वृद्ध पूर्वजों की सेवा करना भी उसके कर्तव्यों में शामिल हैं।[1]

एकाकी परिवार में पति-पत्नी और उनके पुत्र-पुत्री होते थे लेकिन ऋग्वेद के दशम मण्डल में हमें परिवार की तीन पीढ़ियों के स्पष्ट सकेंत मिलते हैं।[2] साथ ही माता-पिता के अतिरिक्त विश्वपति, जाति तथा अनेक नारियों के उल्लेख से परिवार में अन्य सदस्य भी रहते होंगे ऐसा अनुमान किया जा सकता है लेकिन इनका पृथक् एवं स्पष्ट उल्लेख न होने के कारण उनके अधिकार एवं कर्तव्यों का निर्धारण नहीं किया जा सकता। अतः यह कहा जा सकता है कि तत्कालीन पारिवारिक सम्बन्ध सुदृढ़ समाज एवं सुगठित राष्ट्र के निर्माण की दिशा में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण थे।

सामाजिक आचार

मनुष्य समाज का अंग है और इसलिए उसके समाज के प्रति और समाज के उसके प्रति कुछ कर्तव्य होते हैं। वैदिक मानव अखिल समाज के अभ्युदय-हेतु प्रार्थना करता है न कि केवल व्यक्तिगत सुख-शान्ति के लिए-"हमारे ब्राह्मणों को प्रकाशित करो, क्षत्रियों को प्रकाशित करो, वैश्यों को प्रकाशित करो, शूद्रों को प्रकाशित करो और प्रकाश से मुझे प्रकाशित करो।"[3] वैदिक मानव सदैव सबको साथ लेकर उन्नति के लिए प्रयत्न करता था - "साथ चलो, साथ बोलो, सबका मन एक जैसा हो।"[4] आर्यों का सामाजिक जीवन चार प्रमुख आश्रमों में विभाजित था, ब्रह्मचर्य और गृहस्थ आश्रम का विशेष स्थान था और वैदिक उद्धरणों से ऐसा प्रतीत होता है कि वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम का विशेष स्थान था और वैदिक उद्धरणों से ऐसा प्रतीत होता है कि वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम का बहुत अधिक प्रचलन नहीं रहा होगा

---

1. ऋ. 28/1; 10/95/4.
2. ऋ. 10/85/42, 46; ऋ. 8/69/12.
3. रुचं नो धेहि ब्राह्मणेषु रुचं राजसु नस्कृधि।
   रुचं विश्येषु शूद्रेषु मयि धेहि रुचा रुचम्।।
   – वा. सं. 18/48; तै. सं. 5/7/3/6; मै. सं. 3/4/8.
4. संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्। - ऋ. 10/191/2; मै. सं. 2/2/6.

क्योंकि पुत्र-पौत्रों के साथ आनन्द मनाते हुए सौ वर्ष तक जीवित रहने की कामना की गई है।

वैदिक समाज में नारियों की अत्यन्त सम्मानजनक स्थिति थी। दुराचारिणी नारियों की यदि वेदों में निन्दा की गई है तो दुराचारी पुरुषों को भी गर्हित कहा गया है अथर्ववेद में तो विधवा स्त्री के दूसरे पति का स्पष्ट उल्लेख है - "पुरातन धर्म अथवा मर्यादा का पालन करती हुई यह स्त्री पति के लोक को चाहती हुई मृत पति के पश्चात् हे मनुष्य तेरे पास आती है। उसके लिए इस लोक में सन्तान और धन धारण करो।"[1] इस प्रकार वैदिक समाज एक आदर्श समाज था क्योंकि उनका विचार था - "न कोई बड़ा है न कोई छोटा है, ये सभी परस्पर भ्राता हैं और सौभाग्य तथा उन्नति के लिए साथ-साथ बढ़ते हैं।"[2] और न ही यहाँ पर भौतिक पलायनवादी प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं। इस काल में ऐसे व्यक्तियों के उदाहरण नहीं मिले हैं जो चरित्र की दृष्टि से उल्लू के समान हों कि कार्य करने के समय सोते रहते हों और विश्राम काल में जागरण करके अन्य व्यक्तियों के कार्य में बाधा उत्पन्न करते हों। दूसरों की हिंसा करके अपनी उदरपूर्ति करने वाले, चाटुकार एवं कामुक व्यक्तियों से ऐसे श्रेष्ठ समाज की रचना सम्भव नहीं है। गिद्ध के समान लोभी व्यक्तियों से समाज को मुक्त करने की प्रार्थना की गई है[3] कि "हमारे राष्ट्र में विद्वान् ब्राह्मण उत्पन्न हों, शूर, महारथी, शास्त्र-विद्या में पारंगत क्षत्रिय उत्पन्न हों, सर्वगुण सम्पन्न सुशील स्त्रियाँ हों, यजमान के पुत्र विजयशील योद्धा, सभ्य, समर्थ तथा सन्नद्ध हों।"[4]

राजनीतिक आचार

वैदिक आर्यों ने स्थान-स्थान पर अपने आराध्य को 'राजा' 'एक सम्राट्' इत्यादि कहा है जिससे उनकी राष्ट्र के प्रति भावना का अनुमान लगाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त राजा की उत्पत्ति, उसके स्वरूप और कर्तव्य

---

1. इयं नारी पतिलोकं वृणाना नि पद्यत उपत्वा मर्त्य प्रेतम्।
   धर्मं पुराणमनुपालयन्ती तस्यै प्रजां द्रविणं चेहधेहि।। - अथर्व-18/3/1.
2. ऋ. - 5/60/5.
3. ऋ.-7/104/22.
4. वा. सं. - 22/22.

विषयक उद्धरण भी प्राप्त होते हैं। वैदिक संहिताओं में अश्वमेध, राजसूय, सर्वमेध, सोमयाग प्रभृति अनेक ऐसे मन्त्र मिलते हैं जो अप्रत्यक्षतः राजा से सम्बन्धित हैं। युद्ध के प्रसंगों में हमें सेना, सभा, समिति इत्यादि संस्थाओं की जानकारी प्राप्त होती है। सरमापणि संवाद सूक्त में गुप्तचर व्यवस्था पर प्रकाश पड़ता है। वास्तव में सामाजिक शत्रुओं से युद्ध करने हेतु ही आर्यों के सामाजिक जीवन ने राजनीतिक रूप ग्रहण किया। ऋग्वेद के एक मन्त्र में कहा गया है कि "हे इन्द्रदेव, राक्षसों का समूल नाश कर हमारी रक्षा कीजिये। ब्रह्मद्वेषियों का नाश हेति अस्त्र द्वारा कर दीजिये।"[1] इसी प्रकार ब्रह्मद्वेषी अपव्रत धारण करने वाले लोगों का नाश कीजिए।[2] अतः उन्हें युद्ध में विजय हेतु एक नेता की आवश्यकता हुई और उन्होंने उसे 'राजा' की संज्ञा प्रदान की। ऋग्वेद में एक स्थान पर कहा भी गया है कि अपने शत्रुओं से युद्ध करके उन पर विजय प्राप्त करने के कारण आर्यों ने इन्द्र को अपना राजा बनाया था।[3] हमें इन्द्र के राजा के रूप में गुणों का वर्णन मिलता है - "शीघ्रकारी, तीक्ष्ण, तेजस्वी, भयंकर, वृषभ के समान घमासान मचा देने वाला, समरभूमि में वीरों को विचलित कर देने वाला, शत्रु सेना में हाहाकार मचा देने वाला, नित्य पराक्रमशील, ऐश्वर्यशाली, वीर राजा अकेला ही सैकड़ों सैनिकों पर विजय प्राप्त करता है।"[4] वाजसनेयि संहिता में एक स्थल पर इन्द्र को राक्षसों के वध के लिया राजा नियुक्त किया गया है।[5] इनके अतिरिक्त राजा के लिये तेजस्विता, दानादि गुण भी बताये गये हैं जिनके द्वारा वह अपने अधीन रहने वाले प्राणियों को दान कर्मशीलता, तेजस्विता के द्वारा अनृत, हिंसा, भ्रष्टाचार इत्यादि दोषों को दूर करके ऋत, सत्य, अहिंसा और सदाचार के मार्ग पर ले जाये, इन गुणों की सहायता से

---

1. आ कीवतः सललूकं चकर्थ ब्रह्मद्विषे तपुषि हेतिमस्य' - ऋ. 3/30/17.
2. त्वं हि शूरः सनिता चोदयो मनुषोरथम्। सहावान् दस्युमव्रतमोषः पात्रं न शोचिषा।।
   - ऋ. 1/175/3; साम. 1434.
3. त्वमीशिषे सुतानामिन्द्र त्वमसुतानाम् त्वं राजा जनानाम्।।
   - ऋ. 8/64/3; साम. 20/93/3.
4. आशुः शिशनो वृषो न भीमो घनाघनः क्षोभणचर्षणीनाम्। संक्रन्दनोऽनिमिष एकवीरः शतं सेना अजयत्साकमिन्द्रः।। - वां सं. 17/33; ऋ. 10/103/1; अथर्व. 19/13/2.
5. जुहोमि हतं रक्षः स्वाहा रक्षसां त्वा वधाय - वा. सं. 9/38.

मनुष्य को इह लोक और परलोक दोनों में सुख की प्राप्ति होती है। वेदों में ही एक स्थान पर राजा को पंचदेवयुक्त[1] एवं एक अन्य स्थल पर दशदेवयुक्त[2] बनाने की प्रक्रिया का भी विधान किया गया है। इससे प्रतीत होता है कि राजा में दैवीय गुणों की स्थापना मन्त्रों द्वारा की जाती थी। इस प्रकार ये गुण राजा को आदर्श राजा बनाने के लिए ही गिनाये गये हैं।

वेद में कहा गया है कि राजा ब्रह्मचर्य और तपस्या के द्वारा राष्ट्र की रक्षा करता है।[3] राजा का राज्याभिषेक करते समय उसके कर्तव्यों का भी स्मरण कराया जाता था और कर्तव्य पालन करने वाला राजा पदच्युत हो जाता रहा होगा अथवा शत्रु द्वारा विजित पदभ्रष्ट हो जाता रहा होगा क्योंकि अथर्ववेद में राजा के पुनः प्रतिष्ठित होने का विधान किया गया है।[4]

वेदों में राजा को 'धृतव्रत' (व्रतों को धारण करने वाला) कहा गया है और 'व्रत' का तात्पर्य 'कर्तव्यों' से है।[5] प्रजा के प्रति राजा के कर्तव्य बतलाते हुए कहा गया है – "हे अग्रनेता, तुम विद्या और ज्ञान से प्रकाशमान मंगलकारी कार्यों द्वारा सत्कार के साधनों द्वारा, महान् तेज द्वारा प्रकाशित होकर सुखों का सम्पादन करो और पालनयोग्य प्राणियों की हिंसा मत करो।"[6]

राजा दुराचारी मनुष्यों की हिंसा करने का अधिकारी है। इसके बिना प्रजा के लिये सुख एवं कल्याण की अभिलाषा करना व्यर्थ है। वेदों में शत्रुओं के विनाश को उचित माना गया है। युद्धभूमि को यज्ञभूमि कहा गया है और रणभूमि में वीरगति प्राप्त करने वाले योद्धा को सहस्र दक्षिणायुक्त यज्ञ करने वाले यजमान के समान ही पुण्यफल प्राप्त करने वाला बतलाया गया है।

---

1. वा. सं. 10/28.
2. वा.सं. 10/30.
3. ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति – अथर्व. 11/5/17.
4. आ त्वांगन् राष्ट्रं सह वर्चसोदिहि प्राङ् दिशां पतिरेकराट् त्वं विराज। सर्वास्त्वा राजन् प्रदिशो ह्वयन्तूपसद्यो नमस्यो भवेह।। – अथर्व. 3/4/1.
5. आविर्मर्या आवित्तो अग्निर्ग्रहपतिराक्ति इन्द्रो
   वृद्धश्रवा आवित्तौ मित्रावरुणौ धृतव्रताक्तिः पूषा विश्ववेदाः।
   आवित्ते द्यावापृथिवी विश्वशम्भुवाविवात्ता दितिरुरुशर्म्मा।।–वा.सं. 10/9.
6. "माहिल्सीस्तन्वा प्रजाः" वा.सं. 32/12.

वैदिक काल में सभा के सदस्यों को 'सभासद्' कहा गया है और उनके सभा में भाषण देने का भी उल्लेख मिलता है[1] और सभा के सदस्यों को सत्य एवं न्यायपूर्ण वचन बोलने चाहिये[2] यह भी कहा गया है। दूत के आचार का भी निर्धारण करते हुए कहा गया है कि उसे तन्द्रारहित[3], श्रेष्ठ एवं बलवान होना चाहिये।[4] उनकी कार्यकुशलता के विषय में कहा गया है कि वे इस प्रकार चलते और लोगों का कार्य देखते हैं कि दूसरों को उनका आभास ही नहीं होता है।[5]

एक अन्य मन्त्र के अन्तर्गत राष्ट्र की सभी प्रकार की उन्नति की आकांक्षा की गई है।[6] अतः इसे उस युग का राष्ट्रगीत कहा जा सकता है।

संहिताओं में प्राप्त राजनीतिक विचारों की दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि राजा और प्रजा आचार का पालन करके ही सुख और समृद्धि को स्थापित कर सकते हैं।

उपासनासम्बन्धी आचार

मनुष्य के भीतर एक ऐसी भावना रहती है जो उसे संकीर्ण विचारों से ऊपर उठाकर सर्वव्यापक जगदात्मा के साथ सम्बन्ध स्थापित करने हेतु प्रेरित करती है। इस भावना से प्रेरित होकर व्यक्ति सम्पूर्ण विश्व को एक सूत्र में बांधने वाली शक्ति में विश्वास करने लगता है और यही शक्ति जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय का कारण है। वैदिक आर्यों ने भी इसी सत्ता को

---

1. अथर्व. 19/55/5, 7
2. अथर्व. 7/13/3.
3. ऋ. 10/7/5.
4. देवामस्त्वा वरुणो मित्रो अर्यमा सं दूतं प्रत्नमिन्धते।
   विश्वं सो अग्ने जयति त्वया धनं यस्ते ददाश मर्त्यः।। – ऋ. 1/36/4.
5. अस्य स्पशो न निमिषन्ति भूर्णयः–ऋ. 9/73/4; काण्व सं. 38/4.
6. "आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामा राष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायतां दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायतां निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो नः ओषधयः पच्यतां योगक्षेमो न कल्पताम्।" – वा.सं. 22/22, तै.सं. 7/5/18/1; मै. सं. 3/12/6.

प्रसन्न रखने हेतु प्रयास किया और मोक्ष-प्राप्ति की दिशा में सतत् प्रयत्नशील थे। मोक्ष की प्राप्ति के लिये न तो उन्होंने भगवा वस्त्र धारण किया और न ही संन्यास ग्रहण करके तपस्या की। उन्होंने परिवार एवं समाज के मध्य भौतिक सुखों का त्यागपूर्वक उपभोग करते हुए ईश-स्मरण और साधनामय जीवन के द्वारा ही मोक्ष-प्राप्ति हेतु प्रयास किये।

उन्होंने अपने कार्यों को ईश्वर की कृपा माना और वे कार्य की पूर्ति हेतु ईश्वर से सहायता की अपेक्षा भी करते थे। उन्हें यह भी ज्ञात था कि श्रेष्ठ आचरण और प्राणियों के प्रति सद्व्यवहार ही ईश्वर की सच्ची उपासना है। वैदिक मन्त्रों में स्तुति और प्रार्थना की बहुलता दिखलाई देती है और प्रत्येक सूक्त किसी न किसी देवता से सम्बद्ध है। अतः यह कहा जा सकता है कि वैदिक आर्यों की उपासना तीन रूपों में प्रचलित थी - 1. याज्ञिक क्रियाएँ, 2. स्तुति एवं 3. प्रार्थना।

1. याज्ञिक क्रियाएँ

वेदों में यज्ञ को ही सर्वस्व माना गया है और यज्ञ को 'अध्वर' कहा गया है। विद्वानों ने इसका अभिप्राय 'हिंसारहित यज्ञकर्म' माना है।[1] यज्ञ में हवि प्रदान करके वे अपनी समस्त अभिलाषाएँ पूर्ण करने में विश्वास करते थे। उनका उद्देश्य ही था सत्यनिष्ठा से यज्ञ करना। अनेक स्थलों पर हमें ऐसे मन्त्र मिलते हैं जिनमें यज्ञकर्ता के द्वारा यागकर्म करते समय देवताओं के नैतिक

---

1. स्कन्द से लेकर दयानन्द तक सभी भारतीय विद्वान् 'अध्वर' को यज्ञ का विशेषण मानते हैं और इसका अर्थ 'हिंसारहित' किया है। यद्यपि सभी के द्वारा व्यक्त हिंसा के भाव में अन्तर है। वेंकट और स्कन्द के अनुसार इसका भाव है कि जिस यज्ञ की राक्षसों द्वारा हिंसा या क्षति नहीं होती और दयानन्द का भाव है जिस यज्ञ में हिंसा, अधर्म आदि का दोष नहीं है - स्कन्द वेंकट भाष्य - तत्र पशवाद्यो हिंस्यते तेषामप्यनुग्रहमेव शिष्याः स्मरन्ति - ऋ. 1/1/4. सायण भाष्य - 'न ह्यग्निना सर्वतः पालितं यज्ञं राक्षसादयो हिंसितुंप्रभवन्ति' - ऋ. 1/1/4.
   दयानंद 'हिंसा धर्मादिदोषरहितम्' - ऋ. 1/1/4.
   निरुक्तकार ने अध्वर की निरुक्ति इस प्रकार बतलायी है - 'ध्वरतिहिंसाकर्म तत्प्रतिषेधः' - निरुक्त 1/8.

स्वरूप का भी ध्यान किया गया है, उदाहरण के लिये - "गौ, अश्व और सत्यवचन से युक्त दीप्तिमती उषा आज यहाँ हमारे लिए धनयुक्त हो, वैसे तुम प्रकाशित करो।"[1]

यज्ञ को ऋत का साक्षात स्वरूप माना गया है। यज्ञ करना मानो सत्य को प्रतिष्ठापित करना है और यज्ञ न करना मानो सत्य को नष्ट करना है - इस प्रकार का उल्लेख भी वैदिक काल में किया गया है - एक स्थान पर यह भी कहा गया है कि यज्ञादि श्रेष्ठकर्म सच्ची कामनाओं से युक्त होकर करने चाहिये - "यज्ञादि श्रेष्ठ कर्म करने वाला उपासक धर्मयुक्त अभिलाषाएँ करे, अकुटिल, असत्य अथवा अधार्मिक नहीं, तभी वह यह कहने का अधिकारी हो सकता है कि वह जो कामना करे वह पूर्ण ही हो जाये।"[2] यजमान श्रद्धाभक्ति से सम्पन्न होकर ही यज्ञकर्म में प्रवृत्त होता था और श्रद्धारहित होकर किया गया कर्म सर्वथा निष्फल हो जाता था। यज्ञकार्य की सम्यक् सम्पन्नता के लिये मन, वाणी और शरीर की पवित्रता पर भी बल दिया गया है। सम्भवतः यज्ञ के लिये प्रातः काल का समय उचित माना गया है और यज्ञ के उपरान्त दी जाने वाली दक्षिणा को शुभ कर्म की संज्ञा प्रदान की गई है।

2. आराध्य देव की स्तुति

प्रायः वैदिक आर्य अपने आराध्य देव की स्तुति करते थे। यहाँ पर स्तुति का अभिप्राय है - जिस पदार्थ में जैसे गुण या दोष हैं उनका उसी प्रकार वर्णन करना। यह स्तुति ईश्वर या अन्य किसी भी पदार्थ की की जा सकती है। जब ईश्वर की न्याय, सत्य, दयालु, अहिंसक आदि गुणों के द्वारा स्तुति की जाती है तो उसकी ईश्वर के प्रति श्रद्धा एवं भक्ति प्रकट होती है। यहाँ पर ऐसा प्रतीत होता है कि मानव को ये गुण अभीष्ट हैं और इन गुणों के द्वारा वह अपना इष्ट प्राप्त करना चाहता है। मानव इन गुणों को प्राप्त करने के प्रयास में संलग्न हो जाता है।

1. उपो अद्येह गोमत्यश्वावति विभावरि।
   रेखदस्मे व्युच्छ सूनृतावति - ऋ. 1/92/14; साम. 20/108/21.
2. यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्त्वयमामुष्यम् - वा. सं. 10/20; मै. सं. 4/14/1; ऋ. 10/121/1; अथर्व. 7/80/3; तै.सं. 1/8/14/2.

संहिताओं में चित्त की एकाग्रता को सच्चे उपासक का गुण बतलाया गया है। स्तुतिकर्ता के वैशिष्ट्य के रूप में नित्य नवीन प्रकार की स्तुति करना भी कहा गया है। सत्य, श्रद्धा एवं पवित्रता का पालन करना प्रत्येक उपासक के लिए आवश्यक था। एक स्थान पर ऋग्वेद में द्यु और पृथिवी देवता के लिये प्रकृष्टतम और प्रीतिकर स्तोत्र की बात कही गई है -

"शोभन बुद्धि वाला मैं द्यु देवता और पृथिवी देवता के लिये प्रीतिकर प्रकृष्टतम स्तोत्र सभी ओर से सुनने के लिये बोलता हूँ।"[1]

स्तुति के द्वारा उपासक को किन-किन फलों की प्राप्ति हो सकती थी इसका विवरण हमें अग्नि को सम्बोधित एक मन्त्र में मिलता है - "हे अग्नि, क्योंकि हम तुम्हारी स्तुति करते हैं, अतः तुम हमें सारे दुर्गम पापों से मुक्त करो; हमारा नगर अतीव प्रशस्त हो, हमारी भूमि प्रशस्त हो, हमारे पुत्रों और पौत्रों को सुख प्रदान करो।"[2] वैदिक आर्यों की स्तुति स्वार्थपरक नहीं होती थी अपितु ईश्वर के विराट् रूप को जानने के कारण सुख-समृद्धि हेतु स्तुति की गई है। वैदिक आर्यों का प्रिय, श्रेष्ठ कार्य यज्ञ था और यज्ञ का प्रमुख देव अग्नि था अतः अग्निदेव की स्तुति करना उनके लिये परमावश्यक था। इन्द्र को सम्बोधित एक मन्त्र में यह भी विश्वास व्यक्त किया गया है कि इन्द्र शत्रुओं के बल के संहारक हैं। संग्राम में वे सबसे स्तुत होते हैं और वे निष्पाप स्तुतियों को सम्मानित करते हैं।[3]

वेदों में स्तुति को स्तोता का सर्वविध कल्याण करने वाली कहा गया है।

1. प्रार्थना एवं नमस्कार

मानव जब किसी उद्देश्य की प्राप्ति अथवा पूर्ति में अपने को असमर्थ

---

1. दिवे तदवोचं पृथिव्या अभिश्रावाय प्रथमं सुमेधाः।। ऋ. 1/185/10.
2. अग्ने त्वं पारया नव्यो अस्मान्त्स्वस्तिभिरति दुर्गाणि विश्वा।
   पूश्च पृथिवी बहुला न उर्वी भवा तोकाय तनयाय शं योः।।
   - ऋ. 1/189/2; तै. सं. 1/1/14/4; मै.सं. 4/10/1.
3. आकरे वर्सोजरिता पनस्यतेऽनेहसः स्तुभ इन्द्रो दुवस्पतिः
   - ऋ. 3/51/3; मै. सं. 4/12; 184/1.

पाता है तो उसे सर्वशक्तिमान् सत्ता के सम्मुख, जिसको वह समर्थ मानता है स्वयं को आत्मनिवेदन के लिये प्रस्तुत कर देता है। ऐसा करते समय उसका यह विश्वास होता है कि प्रार्थना के द्वारा द्रवीभूत होकर यह सर्वशक्तिमान् ईश्वर मुझे अभीष्ट प्राप्त कराने में सहायक सिद्ध होगा और मुझे अवश्य लाभ होगा। वैदिक आर्य भी अपने उद्देश्यों की पूर्ति-हेतु इसी सर्वशक्ति-समर्थ से युक्त ईश्वर की ओर ही आशान्वित होकर आत्मनिवेदन के लिये प्रस्तुत होते थे। वेदों में धन, पुत्र, यश, पशु आदि विभिन्न प्रकार की वस्तुओं की प्राप्ति की कामना करते हुए अनेक बार प्रार्थना की गई है। यद्यपि उन्हें ज्ञात था कि प्रार्थना मात्र के द्वारा इन वस्तुओं को प्राप्त नहीं किया जा सकता। लेकिन उनका विश्वास था कि इनकी प्राप्ति के लिये परिश्रम, बल इत्यादि आवश्यक है और इनकी भी प्राप्ति के लिये वह ईश्वर से अनेक स्थलों पर प्रार्थना करता दिखाई देता है।

वैदिक आर्य सदाचारी, विनम्र एवं नमस्कार के महत्त्व को जानने वाले थे इसीलिये यजुर्वेद में संसार के प्रत्येक पदार्थ के प्रति नमस्कार प्रदर्शित किया गया है।[1] एक ऋषि का नमस्कार के विषय में कथन है-"नमस्कार सबसे बड़ी वस्तु है, इसलिए मैं नमस्कार करना चाहता हूँ। नमस्कार ही स्वर्ग और पृथिवी को धारण करता है, इसलिए मैं देवों को नमस्कार करता हूँ। देवता लोग नमस्कार के वशीभूत हैं, इसलिए मैं नमस्कार द्वारा किये हुए पापों का प्रायश्चित्त करता हूँ।"[2] वेद मन्त्रों में प्राणियों के शुभचिन्तक देवों को नमस्कार किया गया है। अथर्ववेद के एक मन्त्र में नमस्करणीय देवों को नमस्कार करने का विधान किया गया है।[3]

अतः यह भी स्पष्ट है कि प्रार्थना में प्रणति का होना आवश्यक और फलदायी है।

---

1. बा.सं. 16/17-48 मन्त्र; तै.सं. /5/1-9 अनुवाक नमः के हैं.
2. नम इदुग्रं नाम आ विवासे नमो दाधार पृथिवीमुत द्याम्।
   नमो देवेभ्यो नम ईश एषां कृतं चिदेनो नमसा विवासे।। - ऋ. - 6/51/8.
3. मनसा होमैर्हरसा घृतेन शर्वायास्त्र उत राज्ञे भादाय।
   नमस्येऽभ्यो नम एभ्यः कृणोम्यन्यत्रास्मदघविषा नयन्तु।। -अथर्व. 6/93/2.

वैदिक संहिताओं के काल में लोगों का जीवन उपासनामय था। ईश्वर के प्रति विनम्र होकर अनुग्रह को प्राप्त करके अपने जीवन की क्रियाओं को संचालित करके तत्कालीन मानव मोक्ष भी प्राप्त करता था।

वैदिक संहिताओं में अनेक स्थानों पर आचारसम्बन्धी नियमों का स्पष्ट उल्लेख न होने पर भी देवताओं की स्तुति एवं प्रार्थना के अन्तर्गत अनेक आचारिक अवधारणाओं का समावेश किया गया है। अनाचार के परिहार-हेतु भी अनेक बार आचरण की महिमा का गौरव-गान सुनाई पड़ता है। इनके अध्ययन के द्वारा व्यक्ति के निजी, पारिवारिक, सामाजिक, राजनीतिक एवं धार्मिक जीवन में कर्तव्याकर्तव्य का निर्धारण किया जा सकता है। वैदिक काल के आचार-व्यवहार सम्बन्धी विधान मनुष्य के वैयक्तिक जीवन को ठोस आधार प्रदान करते हैं और दूसरी ओर सुदृढ़ परिवार और परिवार के द्वारा सुदृढ़ समाज के निर्माण में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन करते हैं। वैदिक आर्य का जीवन छल-प्रपंच-आडम्बर से पूर्णतया मुक्त था, वह अपने घर में रहता हुआ पुत्र-पौत्र-अतिथि इत्यादि को गृह की शोभा मानता था। उसने घर की स्त्री को ही घर माना है। प्रत्येक व्यक्ति अशिव से दूर रहे ऐसी कामना की गई है, सर्वदा कल्याण का मार्ग अपनाने की इच्छा प्रकट की गई है। अपने आराध्य देव से निष्काम भाव से कर्म करते हुए सौ और सौ से अधिक वर्षों तक जीवन जीने की भावना प्रकट की गई है।

षष्ठ अध्याय

ऋग्वेदीय ऐतरेयादि ब्राह्मण ग्रन्थों में निरूपित आचार-चेतना

ब्राह्मण ग्रन्थों के अनुशीलन से ऐसा ज्ञात होता है कि इनके अन्तर्गत सांस्कृतिक तत्त्व पुष्कल परिमाण में निहित हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों का चिन्तन जीवन को आनन्दमय और उन्नति की ओर अग्रसर करने में सक्षम प्रतीत होता है। श्रद्धा, विश्वास, तप इत्यादि के बारम्बार विवेचन से हमें यह अनुभव होने लगा है कि ब्राह्मण ग्रन्थों के काल में लोगों की आकांक्षा उत्कृष्ट और शुभ जीवन जीने की रही होगी। तभी तो ब्राह्मण साहित्य में एक नहीं अनेक बार प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से अभ्युदय-हेतु कामना की गई है। उनका दृष्टिकोण उच्च से उच्चतर और उससे भी उच्चतम जीवन की ओर अग्रसर दिखलायी देता है। ब्राह्मण ग्रन्थों में स्थल-स्थल पर जगत् की प्राकृतिक व्यवस्था (ऋत) एवं संसार की नैतिक व्यवस्था (सत्य) का भी संरक्षण एवं पोषण किया गया है एवं इनकी प्रवृत्ति जगत् के भद्र-कल्याण के लिये प्रेरित दिखलाई देती है। पाप कर्मों को भस्म करने हेतु भी रोचक जानकारी प्राप्त होती है, साथ ही मनुष्य के अन्तस में उत्साह एवं जीवन के प्रति उमंग संचरित करने वाले विविध सन्दर्भ प्राप्त होते हैं। कहीं पर वैयक्तिक आचार की दृष्टि से कर्म, पुरुषार्थ, पवित्रता, सहिष्णुता इत्यादि को स्थान प्रदान किया गया है तो कहीं पर पारिवारिक, सामाजिक एवं राजनीतिक दृष्टि से श्रेष्ठ आचार का प्रतिपादन किया गया है। इनमें आशा, उत्साह, आस्तिकता, मित्रता, स्वामिभक्ति आदि का अवलम्बन तो ग्रहण किया गया है लेकिन दैन्य, क्लैब्य एवं पलायन के लिये कोई स्थान प्रतीत नहीं होता है। विभिन्न प्रतिपादित यज्ञ-कृत्यों में आचार की दृष्टि से वैविध्यपूर्ण उपयोगी तथ्यों का समावेश भी किया गया है। अतः यह कहा जा

सकता है कि आचार-व्यवहार की दृष्टि से ब्राह्मण ग्रन्थों की उपादेयता असंदिग्ध है।

ऋग्वेद के ब्राह्मणों में ऐतरेय को प्रमुख स्थान प्रदान किया गया है। परम्परया ऐतरेय ब्राह्मण के प्रवचनकर्ता ऋषि महिदास ऐतरेय हैं। षड्गुरुशिष्य ने महिदास को किसी यज्ञवल्क नामक ब्राह्मण की इतरा नाम्नी भार्या का पुत्र बतलाया है।[1] षड्गुरुशिष्य के द्वारा ऐतरेय-आरण्यक के भाष्य में इसी नाम की व्युत्पत्ति बताई गई है।[2] सायण के द्वारा भाष्य के प्रारम्भ में दिये गये विवरण से भी यही ज्ञात होता है कि किसी महर्षि की अनेक पत्नियों में से एक का नाम 'इतरा' था। महिदास उसी के पुत्र थे। पिता की उपेक्षा से खिन्न होकर महिदास ने अपने कुलदेवता भूमि की उपासना की, जिसकी कृपा से उन्होंने ऐतरेय ब्राह्मण और ऐतरेयाण्यक दोनों का साक्षात्कार किया। भट्टभास्कर का कथन है कि ऐतरेय के पिता का नाम ही ऋषि 'इतर' था।[3]

स्कन्दपुराण में एक आख्यान मिलता है, उसके अनुसार ऐतरेय के पिता हारीत ऋषि के वंश में उत्पन्न ऋषि माण्डूकि थे।[4] शांखायन गृह्यसूत्र में भी इनके नाम का 'ऐतरेय' और 'महैतरेय' रूपों में उल्लेख है।[5]

कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने अवेस्ता में 'ऋत्विक्' के अर्थ में प्रयुक्त 'अथ्रेय' शब्द से 'ऐतरेय' का साम्य स्थापित करने का प्रयास भी किया है। इस साम्य के सिद्ध हो जाने पर 'ऐतरेय' का काल भारोपीय कालिक माना जा सकता है। पाश्चात्य विद्वान् हॉग, खोंदा आदि यह मानते हैं कि सम्पूर्ण ऐतरेय ब्राह्मण किसी एक व्यक्ति अथवा काल की रचना नहीं है। अधिक से अधिक

---

1. महिदासैतरेयर्षिसन्दृष्टं ब्राह्मणं तु यत्।.........
   आसीद् विप्रो यज्ञवल्को द्विभार्यस्तस्य द्वितीयामितरेति चाहुः - ऐ. ब्रा. सुखप्रदावृत्ति
2. इतराख्यास्य माताभृत् स्त्रीभ्यो ढक्यैतरेयगीः। - ऐ.ब्रा., सुखप्रदावृत्ति
3. इतरस्य ऋषेरपत्यमैतरेयः। शुभ्रादिभ्यश्यच ढक्।
4. अस्मिनेव मम स्थाने हारीतस्यान्वयेऽभवत्।
   माण्डूकिरिति विप्राग्र्यो वेदवेदाङ्परागः।।
   तस्यासीदितरानाम भार्या साध्वी गुणैर्युता।
   तस्यामुत्पद्यतसुतस्त्वैतरेय इति स्मृतः।। - स्क. पु. - 1.2.42.26-30
5. शांखायन गृह्यसू· 4.10.3

महिदास को ऐतरेय ब्राह्मण के वर्तमान पाठ का सम्पादक भर माना जा सकता है।[1]

महर्षि पाणिनि ने ऐतरेय ब्राह्मण के चालीस अध्यायों का संकेत रूप में उल्लेख किया है और ऋग्वेद के दूसरे कौषीतकि ब्राह्मण के तीस अध्यायात्मक स्वरूप से भी वे परिचित थे।[2]

ऋग्वेद की प्रसिद्धि होतृवेद के रूप में है इसलिये ऐतरेय ब्राह्मण में हौत्र पक्ष का विशेष प्रतिपादन किया गया है लेकिन स्थान-स्थान पर हमें मनुष्य के आचरण-व्यवहार के नियामक ज्ञान की प्राप्ति भी होती है।

ऋग्वेद का द्वितीय उपलब्ध ब्राह्मण-ग्रन्थ शांखायन अथवा सांख्यायन है, जिसका दूसरा नाम कौषीतकि भी है। यह ऋग्वेद की बाष्कल शाखा से सम्बन्धित है, परम्परा के अनुसार, इसके प्रवचन का श्रेय 'शांखायन' अथवा 'कौषीतक' को दिया गया है। शांखायन ब्राह्मण में कुल तीस अध्याय हैं।[3] ऐतरेय ब्राह्मण की विषय-वस्तु के साथ इसकी समानता सप्तम अध्याय से प्रारम्भ होती है यद्यपि ऐतरेय के अन्तिम दस अध्यायों में निरूपित विषय-वस्तु शांखायन में स्वरूपतः नहीं मिलती है। ऐतरेय ब्राह्मण के सदृश शांखायन ब्राह्मण में भी मानवीय आचार के नियामक और निदेशक तत्त्व प्रभूत मात्रा में उपलब्ध होते हैं।

ऋग्वेदीय ब्राह्मण-ग्रन्थों में निरूपित आचारिक-तत्त्वों का विस्तृत निरूपण इस प्रकार है -

सत्य एवं ऋत की महत्ता

सत्य का प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान है जिसकी प्राप्ति के लिये उसे केवल सजग रहना पड़ता है। यह मनुष्य को कहीं बाहर से प्राप्त नहीं होता है। इसीलिये देवताओं को सत्य से युक्त बताया गया है।[4] ब्रह्मवादियों

---

1. जे. खोन्दा, हि. इण्डि.लि.वे.लि. भाग - 1 पृष्ठ 344
2. पाणिनि कृत अष्टाध्यायी - 5.1.62
3. त्रिंशच्चत्वारिंशतो ब्राह्मणे -अष्टा० 5.1.62
4. ऐ. ब्रा. 1.1.6

ने भी यह कहा है कि कौन मनुष्य सभी सत्य वाक्य बोलने में समर्थ है और ऐसा कहकर मनुष्यों को अनृत से युक्त बतलाया है।[1]

प्रथम अध्याय के षष्ठ खण्ड में यह भी कहा गया है कि दीक्षित यजमान को सत्य ही बोलना चाहिये –

'ऋतं वाव दीक्षा सत्यं दीक्षा तस्माद् दीक्षितेन सत्यमेव वदितव्यम्।

इसी प्रकार अन्य वचन भी मिलते हैं–

– विदुषा सत्यमेव वदितव्यम्[2]

– अवत्येन सत्यमनृतं हिनस्ति[3]

शांखायन ब्राह्मण में भी सत्य-सम्भाषण की आवश्यकता का प्रतिपादन किया गया है। उदाहरण के लिये–

रात्र्या उ शीर्षन् सत्यं वदति। स यदि हवा अपि तत ऊर्ध्वं मृषा वदति। सत्यं हैवास्योदितं भवति।[4]

सत्यमतो ह वा अमृतमयः।[5]

ऐतरेय ब्राह्मण में मनुष्यों के लिये यह भी निर्देश किया गया है कि उन्हें विचक्षण से युक्त वाक्य का कथन करना चाहिये। यहाँ पर चक्षु इन्द्रिय को विचक्षण कहा गया है क्योंकि मनुष्य इसी इन्द्रिय के द्वारा सत्य तत्त्व को देखता है।[6]

प्रत्यक्ष प्रमाण का साधन चक्षु इन्द्रिय को माना गया है क्योंकि यह सभी मनुष्यों के बीच निहित सत्य है। एक स्थल पर 'ऋतजा' को स्पष्ट करते हुए

---

1. अथो खल्वाहुः कोऽर्हति मनुष्यः सर्वं सत्यं वदितुं, सत्यसंहिता वै देवा अनृतसंहिता मनुष्या इति।। – ऐ.ब्रा. 1.1.6
2. ऐ.ब्रा. 5.2.9
3. ऐ.ब्रा. 4.1.1
4. कौ.ब्रा. 2.8
5. कौ.ब्रा. 2.8
6. एतद्वै मनुष्येषु सत्यं निहितं यच्चक्षुः।। –ऐ.ब्रा. 1.1.6

कहा गया है कि जो सत्य वैदिक मन्त्र से उत्पन्न हो उसे ही ऋतजा ऐतरेय ब्राह्मण में कहा गया है।[1]

सायण ने ऋत शब्द को स्पष्ट करते हुए 'सत्य का वाचक' बतलाया है।[2] इसीलिये ऋत और सत्य दोनों के विषय में ऐतरेय ब्राह्मण में कहा गया है - ऋतम् इत्येषवै सत्यम्।[3]

सत्य बोलने से गो सहस्र की प्राप्ति होती है। ऐतरेय ब्राह्मण में इसका भी विधान मिलता है-'हे भगवन् रुद्र! तुम्हारी ही सभी वस्तुएँ हैं-ऐसा मेरे पिता ने कहा है। तब उन (रुद्र) ने कहा - हे नाभानेदिष्ट, उस सभी (यज्ञ भूमि में अवशिष्ट गो सहस्र) को मैं तुम्हें ही देता हूँ क्योंकि तुमने सत्य कहा है।'[4]

जीवन में सत्य एवं असत्य दोनों का प्रभाव मनुष्य के आचरण-व्यवहार पर भी दिखलाई देता है इसीलिये ऐतरेय ब्राह्मण में सत्य पुरुष उसे माना गया है जो अग्निहोत्र का अनुष्ठान करता है - "यदि अग्निहोत्र का वह अनुष्ठान नहीं करता है तो वह सत्य पुरुष नहीं है।"[5]

आगे और भी विस्तार से कहा गया है - "असत्य पुरुष कौन है? जो पुरुष देवताओं की पूजा न करे, जो पितरों की भी पूजा न करे और जो (अतिथि रूप में) मनुष्य की भी पूजा न करे।"[6]

वाणी का गौरव

व्यक्ति की पहचान वाणी से होती है क्योंकि वह प्राणिमात्र की अधिष्ठात्री है। जीवन में प्रगति के पथ पर आगे बढ़ते हुए व्यक्ति के लिये वाणी परम् उपादेय सिद्ध होती है। शांखायन ब्राह्मणकार ने कहा भी है -

---

1. ऋतजा इत्येषु वै सत्यजाः -ऐ.ब्रा. 4.3.6
2. ऋतशब्दः सत्यवाची सायण भाष्य -ऐ.ब्रा.
3. ऋतम् इत्येष वै सत्यम् -ऐ.ब्रा. 4.3.6
4. तव ह वाव किल भगव इदमिति मे पिताऽऽहेति
   सोऽब्रवीत् तदहं तुभ्यमेव ददामि य एव सत्यमवादीरिति -ऐ.ब्रा. 5.2.9
5. यदि ना हरेदनद्धा पुरुषः -ऐ.ब्रा. 7.2.8
6. कोऽनद्धा पुरुष इति, न देवान्न पितॄन् मनुष्यानीति-ऐ.ब्रा. 7.2.8

अधो वाग्वै सर्पराज्ञी। वाग्धि सर्पतो राज्ञी।[1]

यहाँ पर 'सर्प' शब्द का व्यवहार प्राणिमात्र के लिये किया गया है।

कौषीतकि ब्राह्मण में वाणी के संस्कार की दिशा उत्तर या पश्चिमोत्तर बतलायी गई है।[2]

काशिकावृत्ति में वामन जयादित्य ने भी भाषा-ज्ञान की दृष्टि से उत्तर दिशा की सार्थकता बतलायी है।[3]

अहंकार से युक्त वाणी को राक्षसी वाणी कहा गया है

ऐतरेय ब्राह्मण में एक स्थल पर यह कहा गया है कि धन या विद्या के अभिमान में तिरस्कार-हेतु जो वाणी बोली जाती है अथवा उन्मत्त होकर बुद्धि से रहित जो वाणी बोली जाती है वह राक्षसी वाणी है।[4] राक्षसी वाणी को बोलने वाले के लिये कहा गया है कि जो इस लोक में राक्षसी वाणी बोलता है, राक्षसी वाणी का उत्पादक होता है।[5]

ऐतरेय ब्राह्मण की चतुर्थ पञ्चिका के प्रथम अध्याय के प्रथम खण्ड में षोडशी की अपेक्षा अनुष्टुप् में दो वर्णों की वृद्धि का कारण बतलाते हुए कहा गया है कि षोडशी की अपेक्षा अनुष्टुप् में दो अक्षर अधिक बढ़ जाते हैं जिन्हें वाणी रूप वाक् देवता के दो स्तन सच और झूठ के रूप में वर्णित किया गया है। इसको जो व्यक्ति जानता है, सत्य वाणी उसका पालन करती है और अनृत वाक् उसे हानि नहीं पहुँचाती है।[6]

देवविरोधिनी वाणी असुरों द्वारा प्रयोग की जाती है यह विधान भी ऐतरेय ब्राह्मण में किया गया है।[7]

---

1. कौ.ब्रा. 27.4
2. उदीच्यां दिशि प्रज्ञाततर वागुद्यते। उदञ्च उ एव यन्ति वाचं शिक्षितुम्। यो वा तद् आगच्छति तस्य वा शुश्रूषन्त इति ह स्माह। एषा हि वाचो दिक् प्रज्ञाता। -कौ.ब्रा. 7.6
3. प्रागुदञ्चौ विभजते हंसः क्षीरोदके यथा।
   विदुषां शब्दसिध्यर्थं सा नः पातु शरावती।। - का. वृ. 1.1.75
4. यां वै दृप्तो वदति, यामुन्मत्तः सा वै राक्षसी -ऐ.ब्रा. 2.1.7
5. योऽयं राक्षसीं वाचं वदति सः। -ऐ.ब्रा. 2.1.7
6. अवत्येनं सत्यं नैनमनृतं हिनस्ति य एवं वेद।। -ऐ.ब्रा. 4.1.1
7. असुर्या ह वा इतरा गिरः -ऐ.ब्रा. 3.5.5

वाणी वज्र है

इसी ऐतरेय ब्राह्मण में षोडशी शंसन की प्रशंसा करते हुए कहा गया है कि जो षोडशी को उक्थों के ऊपर रखकर शंसन करता है, उससे षोडशी रूप वज्र से (उक्थ रूप) पशुओं को घेर लेता है। इसलिए पशु षोडशी रूप वज्र से ही घेरे जाकर मनुष्यों के पास लौट आते हैं। इसलिए अश्व या पशु या पुरुष या गौ अथवा हाथी कोई भी हो, वह स्वयं ही नियमित होकर लौट आते हैं जब इन्हें वाणी से आबद्ध करके पुकारा जाता है। वाक् वज्र रूप षोडशी का दर्शन करते हुए भी षोडशी रूप वज्र से ही यह नियमित होता है क्योंकि वाणी वज्र है और षोडशी वाक् है।[1]

वाणी ही सुतर्मा नाव है

वाणी रूपी नाव के द्वारा पापों को पार किया जा सकता है, यह स्पष्ट करते हुए ऐतरेय ब्राह्मणकार का कथन है कि जिस वाक्‌रूपी नावों से समस्त पापों को हम पार कर लें वैसी अच्छी प्रकार से तरने योग्य वाक्‌रूपी नाव पर हम चढ़ें। वाणी रूपी उस नाव पर चढ़कर उस नाव से स्वर्ग को सम्यक् रूप से पार किया जाता है।[2]

वाणी पर संयम रखना चाहिये

ऐतरेय ब्राह्मण में एक स्थल पर प्रसंग आया है कि सोम खरीदने के बाद वाग्देवी गन्धर्वों के पास रहती है अतः सोम खरीदने के बाद और अग्नि-प्रणयन के पहले मन्त्र मन में बोलना चाहिये क्योंकि अग्नि-प्रणयन अर्थात् अग्नि को उत्तरवेदि में ले जाने के बाद वह पुनः वापस आ जाती है।[3] यहाँ यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है कि वाणी पर नियन्त्रण आवश्यक है।

---

1. तस्मादश्वो वा पुरुषो वा गौर्वा हस्तीवा परिगत एव स्वयमात्मनेऽत एव वाचाऽभिषिद्ध उपावर्तते- ऐ.ब्रा. 4.1.1
2. ययाऽति विश्वा दुरिता तरेम सुतमणिमधि नावं रुहेमेति यज्ञो वै सुतर्मा नौः कृष्णाजिनं वै सुतर्मा नौर्वाग्वै नौर्वाचमेव तदारुह्य तया स्वर्गं लोकमभिसंतरति-ऐ.ब्रा. 1.3.2
3. तस्मादुपांशु वाचा चरितव्यं सोमे राजनिक्रीते गन्धर्वेषु हि तर्हि वाग्भवति साऽग्नावेव प्रणीयमाने पुनरागच्छति-ऐ.ब्रा. 1.5.1.27

प्रजा और वाणी दोनों को प्रसन्न रखना चाहिये

ऐतरेय ब्राह्मण की द्वितीय पञ्चिका के प्रथम अध्याय के चतुर्थ खण्ड में प्रजा और वाणी दोनों को प्रसन्न रखने के लिये आप्रीसूक्तगत नराशंस आदि द्वितीय याज्यामन्त्र को पढ़कर यजन करने का विधान किया गया है क्योंकि प्रजा ही नर है और वाणी शंसन का हेतुभूत है।[1]

मन और वाणी परस्पर सम्बन्धित हैं

ऐतरेय ब्राह्मण में एक स्थान पर वाणी और मन का सम्बन्ध बतलाते हुए कहा गया है कि मैत्रावरुण यज्ञ पुरुष का मन है और होता यज्ञ पुरुष की वाणी है। वस्तुतः लोक में मन से ही प्रेरित होकर वाणी शब्द का उच्चारण करती है। जो अन्यमनस्क होकर वाणी बोलता है उसकी वाणी आसुरी होती है और वह देवताओं को प्रिय नहीं होती है। अतः जो मैत्रावरुण उपप्रैष का प्रतिपादन करता है वह मन से ही उस वाणी को प्रेरित करता है और उस मन से प्रेरित वाणी के द्वारा देवताओं के लिये हव्य का सम्पादन करता है।[2]

तपस एवं वाक्संयम

ऐतरेय ब्राह्मण में एक प्रसंग यह मिलता है कि इस संसार की उत्पत्ति के प्रारम्भिक काल में एकमात्र प्रजापति ही थे। उन्होंने कामना की कि मैं प्रजा उत्पन्न करूँ और बहुत हो जाऊँ। ऐसा सोचकर उन्होंने तपस्या की। उस तप में उन्होंने अपनो वाणी को संयमित किया। ऐसा करके उन्होंने एक वर्ष पश्चात् बारह बार वाणी का उच्चारण किया। वह उच्चारित वाणी ही बारह पदों से युक्त होकर निविद् बनी। इस निविद् को ही प्रजापति ने उच्चरित किया और उसी निविद की सामर्थ्य से सभी भूतों की उत्पत्ति हुई।[3]

---

1. नराशंसं यजति, प्रजा वै नरो, वाक्शंसः, प्रजां चैव तद्वाचं च प्रीणाति, प्रजां च वाचं च यजमाने दधाति।। –ऐ.ब्रा. 2.1.4
2. मनो वै यज्ञस्य मैत्रावरुणो, वागयज्ञस्य होता, मनसा वा इषिता वाग्वदति, यां ह्यन्यमना वाचं वदत्यसुर्या वै सा वागदेवजुष्टा तद्यन्मैत्रावरुण उपप्रैषं प्रतिपद्यते मनसैव तद्वाचमीरयति तन्मनसेरितया वाचा देवेभ्यो हव्यं संपादयति –ऐ.ब्रा. 2.1.65
3. प्रजापतिर्वा इदमेक एवाग्र आस, सोऽकामयत प्रजायेय भूयान् स्यामिति, स तपोऽतप्यत्, स वाचमयच्छत्, स संवत्सरस्य परस्ताद् व्याहरद् द्वादश कृत्वो द्वादश पदा वा एषा निविदेतां वावं तां निविद् व्याहरद् तां सर्वाणि भूतान्यन्वसृज्यन्त –ऐ.ब्रा. 2.5.1.

मित्रता एवं स्वामिभक्ति की प्रशंसा

ऐतरेय ब्राह्मण में वृत्र-वध को उत्सुक इन्द्र का वर्णन करते हुए कहा है कि वृत्र-वध को उद्यत इन्द्र ने सब देवताओं से कहा – 'मेरे अनुकूल ही अवस्थित होओ और मुझको पुकारो।' उन्होंने कहा – 'ठीक है' उसको सभी मारने दौड़े। वह समझ गया कि ये मुझे मारने ही चले आ रहे हैं। उन्होंने सोचा कि 'मैं इन्हें डरा दूँ' और उनके प्रति फुफकार मारी। उसकी फुफकार से डरकर सभी देव भाग खड़े हुए किन्तु मरुतों ने इन इन्द्र का पीछा न छोड़ा। वे इन्द्र के प्रति इस प्रकार की वाणी बोलते हुए समीप खड़े रहे कि 'भगवन्, मारो मारो अपनी वीरता दिखाओ।'[1] इस प्रकार यहाँ मरुतों की मित्रता और इन्द्र के प्रति उनकी स्वामिभक्ति प्रदर्शित की गई है।

इसी ब्राह्मण में अष्टम पञ्चिका के द्वितीय अध्याय के पञ्चम खण्ड में एक साथ मद्यपान मित्रता का लक्षण बताया गया है–

"(कांस्यपात्रगत सुरा का क्षत्रिय स्वयं) पान करके जिस धनदाता को अपना मित्र माने उस (पुरुष) के लिए इस (अवशिष्ट सुरा) को देना चाहिये; क्योंकि वह (एकपात्रगत द्रव्य का पान) मित्रता का उपलक्षक है (क्योंकि मित्रों का परस्पर साथ में भोजन करना देखा जाता है) अतः उस (दान) से पान के अन्त में वह मित्र में ही इस सुरा को प्रतिष्ठित करता है। इस प्रकार करते हुए वह स्वयं भी मित्रता में प्रतिष्ठित होता है।"[2]

परस्पर द्रोह की समाप्ति

ऐतरेय ब्राह्मण में ही एक स्थल पर यह निर्दिष्ट किया गया है कि परस्पर द्रोह की समाप्ति के लिये देवताओं ने शपथ ली अतः ब्रह्मवादियों का ऐसा

1. इन्द्रो वै वृत्रं हनिष्यन् सर्वा अब्रवीत्; अनु मोपतिष्ठध्वमुप मा ह्वयध्वमिति, तथेति, तं हनिष्यन् त आद्रवन्, सोऽवेन् मां वै हनिष्यन् त आद्रवन्ति, हन्तेमान् भीषया इति तानभिप्राश्चासीत् तस्य श्वसथादीषमाणा विश्वे देवा आद्रवन्, मरुतो है नं नाजहुः प्रहर भगवो जहि वीरयस्वेत्येवैनमेतां वाचं वदन्त उपातिष्ठन्त।। –ऐ.ब्रा. 3.2.9
2. पीत्वा यं रातिं मन्येत, तस्मा एनां प्रयच्छेत्, तद्धि मित्रस्य रूपं, मित्र एवैनां तदन्ततः प्रतिष्ठापयति; तथा हि मित्रे प्रतितिष्ठति।। –ऐ.ब्रा. 8.2.5

मानना है कि 'सतानूनप्त्री' अर्थात् शपथकारियों के प्रति द्रोह नहीं करना चाहिये।[1]

इसी में एक अन्य स्थल पर द्वेष करने वाले पापात्मा शत्रु की पराजय का वर्णन भी मिलता है।[2]

सहिष्णुता की प्राप्ति एवं उग्रता के परिहार की भावना

ऐतरेय ब्राह्मण में एक प्रसंग में मरुतों के पिता रुद्र से पशु इत्यादि अन्य वस्तुओं के प्रति सहिष्णु होने हेतु प्रार्थना करते हुए कहा गया है कि "हे रुद्र (मरुतों के पिता)! तुम्हारा दिया हुआ सुख हमारे पास आये। हम लोगों को सूर्यावलोकों से वियुक्त मत करो अर्थात् दृष्टियुक्त करो। (हे वीर रुद्र) तुम हमारे पशु इत्यादि वस्तुओं के प्रति सहिष्णु हो।"[3]

उत्तरवैदिक काल में शिव के रौद्रस्वरूप के रूप में रुद्र का वर्णन मिलता है। ऐतरेय ब्राह्मण में 'रुद्र' नाम की उग्रता से बचने के लिये 'रुद्रिय कहना चाहिये' - ऐसा विधान किया गया है।[4]

इन्द्र की सहिष्णुता का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है कि "पुरातन पुरुषों में सहिष्णु इन्द्र ने जिस उद्धारित रूप वस्तु को अत्यन्त प्रभूत किया, वृत्र को मारने वाले उस इन्द्र ने माहेन्द्र गृहादि अपने अभीष्ट नामों को चारों ओर पूरित किया। प्रकृष्ट बल वाले पति व बहुधनवान् इन्द्र ने देवों के अभीष्ट को जान लिया"।[5]

पवित्रता तेज एवं ब्रह्मवर्चस्

मनुष्य के जीवन में पवित्र विचार और निर्मल जीवन का अत्यधिक

---

1. तस्मादाहुर्न सतानूनतप्त्रिणे द्रोग्धव्यमिति।।-ऐ.ब्रा. 1.4.8.
2. भवत्यात्मना पराऽस्य द्विषन् पाप्मा भ्रात्व्यां भवति य एवं वेद।। -ऐ.ब्रा. 2.2.6
3. आ ते पितर्मरुतां सुम्नमेतु मा नः सूर्यस्य संदृशो युयोथाः स त्वं नो वीरो अर्वति क्षमेथाः। -ऐ.ब्रा. 3.3.10.
4. 'प्र जायेमहि रुद्रिय प्रजाभिः' -ऐ.ब्रा. 3.3.10.
5. ऐ.ब्रा. 3.2.1.

महत्त्व है, इसीलिये ब्राह्मण ग्रन्थों में भी पवित्रता की भावना निहित है। शुचिता की भावना के द्वारा मनुष्य कल्याणकारी कर्मों में प्रवृत्त होकर संसार के सामने आदर्श रूप में उपस्थित होता है। पवित्रत्व के द्वारा मनुष्य तेज और ब्रह्मवर्चस् को प्राप्त करता है। इसलिए ऐतरेय ब्राह्मणकार ने आप्रीसंज्ञक मन्त्रों को शास्त्रीय संस्कार का साधन माना है और यह बताया है कि "आप्री मन्त्र तेज हैं और ब्रह्मवर्चस् हैं। वस्तुतः उस याज्या के पाठ से होता यजमान को तेज और ब्रह्मवर्चस् दोनों से ही समृद्ध करता है।"[1]

तेज और ब्रह्मवर्चस् की प्राप्ति के लिये गायत्री मन्त्र का विधान भी किया गया है क्योंकि गायत्री मन्त्र तेज और ब्रह्मवर्चस् का साधन है।[2] अतः जो दो गायत्री मन्त्रों का प्रयोग करता है वह तेजस्वी और ब्रह्मवर्चस् से युक्त हो जाता है।[3]

यजमान के सन्दर्भ में पवित्रता को इस प्रकार स्पष्ट किया गया है कि धीमान् कर्म के निमित्तभूत अपनी बुद्धि से यजमान आदि यूप का शोधन करता है।[4]

एक स्थान पर यह भी वर्णन मिलता है कि धातृ नामक देवता के लिये द्वादश कपालों में संस्कृत पुरोडाश का ही निवर्पन करना चाहिये।[5]

एक अन्य प्रसंग में हमें शरीरविषयक शुचिता का भाव दिखलायी देता है। निष्केवल्य शस्त्र के प्रथम भाग में स्तोत्रिय तृच का शंसन करता है उस सन्दर्भ में ऐसा कहा गया है कि जो व्यक्ति मध्यम स्वर में पाठ करता है, उसके द्वारा वह अपने शरीर को संस्कृत करता है।[6]

आतिथ्य की भावना

ऐतरेय ब्राह्मण के अन्तर्गत भाष्यकार सायण का 'अतिथि' के विषय में

---

1. तेजो वै ब्रह्मवर्चसमाप्रियस्तेजसेवैनं तद् ब्रह्मवर्चसेन समर्धयति।। -ऐ.ब्रा. 2.1.4
2. तेजो वै ब्रह्मवर्चसं गायत्री -ऐ.ब्रा. 1.5
3. तेजस्वी ब्रह्मवर्चसी भवति य एवं विद्वान् गायत्र्यौ कुरुते -ऐ.ब्रा. 1.5
4. पुनन्ति धीरा अपसो मनीषेति - पुनन्त्येवैनं तत्। -ऐ.ब्रा. 2.1.2
5. धात्रे पुरोऽश द्वादशकपालं -ऐ.ब्रा. 3.4.1.
6. तं मध्यमया वाचा शंसति, आत्मानमेव तत्संस्कुरुते। -ऐ.ब्रा. 3.2.13.

कहा है कि अतिथि वह है जिसकी यात्रा का कोई विशेष नियम न हो।[1] इसी प्रसंग में सूर्य को भी अतिथि माना गया है क्योंकि सूर्य की यात्रा का भी कोई नियम नहीं है अतः सूर्य भी अतिथि है।[2] भाष्यकार ने उसे भी अतिथि की संज्ञा प्रदान की है जो भी तिथि की अपेक्षा के बिना भोजन के लिए घर पर उपस्थित हो जाये।[3]

आतिथ्या-इष्टि के सन्दर्भ में हमें यह ज्ञात होता है कि अतिथि-सत्कार का विधान भी ऋग्वेदीय ऐतरेय ब्राह्मण में किया गया है। सोम के लिए आतिश्य नामक कर्म सम्बन्धी हवि का निर्वपन करना चाहिये।[4]

आगे आतिथ्य-हवि के विषय में स्पष्ट करते हुए यह भी कहा गया है कि "सोम राजा का आगमन यजमान के घरों में होता है। इसलिए वस्तुतः उसको आतिथ्य हवि दी जाती है इसीलिए इसको आतिथ्य हवि कहते हैं।"[5]

अतिथि-सत्कार किन-किन लोगों का किया जाना चाहिये इसका भी प्रतिपादन करते हुए सोम के प्रसंग में कहा गया है - "जब सोम राजा खरीदा जाता है तो सभी गायत्री आदि छन्द और (बृहद् रथन्तर आदि साम रूप) पृष्ठ नामक स्तोत्र (के अभिमानी देव अनुचर होकर यजमान के घर) उसके पीछे-पीछे आते हैं, उन सभी का आतिथ्य किया जाता है।"[6]

यश

ऐतरेय ब्राह्मणकार ने राजा सोम का 'यश' के रूप में वर्णन किया है और यज्ञरूपी सोम के क्रय को देखकर ऋत्विजों के प्रसन्न होने का उल्लेख मिलता

---

1. न विद्यते तिथिविशेषनियमो यात्रार्थे यस्य, सोऽयम् अतिथिः -ऐ.ब्रा., पृ. 649.
2. आदित्यस्य तद्रूपत्वमपि द्रष्टव्यम् -ऐ.ब्रा., पृ. 649
3. तिथिविशेषमनपेक्ष्य भोजनार्थं कस्यचिद्गृहं प्रत्यकस्माद्यः समागतः सोऽतिथिः - ऐ.ब्रा., सायणभाष्य पृ. 94.
4. हविरातिथ्यं निरूप्यते सोमे राजन्यागते। -ऐ.ब्रा. 1.3.4.
5. सोमो वै राजा यजमानस्य गृहानागच्छति तस्मा एतद्धविरातिथ्यं निरूप्यते। तदातिथ्यस्याऽऽतिथ्यत्वम।। -ऐ.ब्रा. 1.3.4
6. सर्वाणि वावछन्दांसि च पृष्ठानि च सोमं राजानं क्रीतमन्वायन्ति। यावन्तः खलु वै राजानमनुयन्ति तेभ्यः सर्वेभ्य आतिथ्यं क्रियते। -ऐ.ब्रा. 1.3.4.

है – "सोम राजा ही यश है[1] और जो पुरुष ऋत्विज् होकर यज्ञ में धन प्राप्त करने वाले हैं अथवा जो धन प्राप्त करने वाले नहीं हैं, दर्शक मात्र हैं वे सभी इस सोम के क्रय को देखकर प्रसन्न होते हैं।"

सहकारिता

ऐतरेय ब्राह्मण में वर्णित 'तानूनप्त्र' संज्ञक कर्म सहकारिता का उपलक्षक है। इसमें यह बतलाया गया है कि उपसद् आहुतियों को जितिय नाम से पुकारते हैं क्योंकि देवताओं ने इन उपसद् आहुतियों के द्वारा शत्रुविहीन विजय को विशेष रूप से प्राप्त किया। इस ज्ञान को जानने वाले के विषय में कहा गया है कि वह शुत्रविहीन विजय को प्राप्त करता है।[2]

इस 'तानूनप्त्र' संज्ञक कर्म के विषय में यह भी ज्ञात है कि देव और असुर अलग-अलग दल बनाकर विचार करने लगे। उन्होंने कहा – हन्त! यह जो हमारे अत्यन्त प्रिय स्त्री-पुत्रादि शरीर हैं, उन्हें इस राजा वरुण के घर में बन्दी रूप में रख दें। हम लोगों में से यदि कोई इसका उल्लघंन करे और अपनी स्त्री पुत्रादि को लुब्ध करने की अर्थात् गुप्त दूत द्वारा लौटाने की इच्छा करे तो वह पुरुष उन स्त्री-पुत्रादि से न मिले।

उन्होंने ऐसा ही किया। इस प्रकार शपथ लेकर उन्होंने राजा वरुण के गृह में अपने स्त्री-पुत्रों को रख दिया।[3]

उन शरीरों को रखने का नाम ही तानूनप्त्र कर्म का तानूनप्त्रत्व अर्थात् शरीरों का रक्षण है। जो राजा वरुण के घर में अपने स्त्री-पुत्रादि शरीरों को रखा वह आज्य स्पर्शनाख्य रूप तानूनप्त्र कर्म हुआ।[4]

1. यशो वै सोमो राजा -ऐ.ब्रा. 1.3.2
2. असपत्नां विजितिं विजयते य एवं वेद -ऐ.ब्रा. 1.4.7.
3. ते तथा व्युत्क्रम्यामन्त्रयन्त तेऽब्रुवन् हन्त या एव न इमाः प्रियतमास्तन्वस्ता अस्य वरुणस्य राज्ञो गृहे संनिदधामहे ताभिरेव नः स न संगच्छातै यो न् एतदतिक्रामाद्य आनुलोभयिषादिति तथेति ते वरुणस्य राज्ञो गृहे तनूः सन्यदधत्।। -ऐ.ब्रा. 1.4.7.
4. ते यद्वरुणस्य राज्ञो गृहे तनूः संन्यदधत तत्तानूनप्त्रमभवत् तत्तानूनप्त्रस्य।।

   -ऐ.ब्रा. 1.4.7

अतः यह कहा जा सकता है कि परस्पर सहयोग की भावना जीवन की उन्नति के लिये यदि वर्तमान में अति आवश्यक है तो ब्राह्मण ग्रन्थों के काल में भी सहकारिता का भाव प्रशंसनीय रूप में विद्यमान था।

विवेकशीलता

मानव संसार के अन्य प्राणियों से श्रेष्ठ इसीलिए माना गया है क्योंकि उसके पास ईश्वरप्रदत्त विवेक बुद्धि है। इसे विवेक से युक्त प्रज्ञा के द्वारा वह श्रेष्ठ जीवन जी सकता है तथा नैतिक गुणों और सदाचारमय अपने कार्यों के द्वारा परम दुर्लभ मोक्ष को भी प्राप्त कर सकता है। अतः ब्राह्मण ग्रन्थों में हमें यह अभिलाषा देखने को मिलती है कि उसे न केवल बुद्धि वरन् सद्बुद्धि की प्राप्ति हो। दुर्बुद्धि से मुक्तिहेतु भी प्रार्थना की गई है, इसके पीछे एकमात्र यही हेतु प्रतीत होता है कि कुपथ से बचा जा सके और सुपथ पर चल कर श्रेष्ठत्व को प्राप्त किया जा सके। ऐतरेय ब्राह्मण में दूर्वा के विनाश हेतु कहा गया है-

"हमारी दुर्बुद्धि अर्थात् पाप को हम (यजमान और ऋत्विज्) से दूर करते हुए (इस पाद में) 'अमति' (का अर्थ क्षुधा अथवा पाप)है। वस्तुतः इस प्रकार वह यज्ञ और यजमान से उस दुर्बुद्धि को दूर करता है।"[1]

पशु-हिंसा का निषेध

ब्राह्मण ग्रन्थों में सत्य के महत्त्व के साथ-साथ हिंसा और वह भी पशुओं की हिंसा का स्थान-स्थान पर निषेध किया गया है। ऐतरेय ब्राह्मण में इसका एक उदाहरण इस प्रकार है-"जिस प्रकार लोक में मनुष्यों के राजा जब आते हैं अथवा अन्य महान् पुरुष जब आते हैं तो अतिथि-सत्कार के लिए एक वृषभ का अथवा एक गर्भघातक (बाँझ) वृद्धा गाय का वध करते हैं, उसी प्रकार सोम के आगमन पर जो अग्नि का मन्थन किया जाता है वह पशुवध के समान है क्योंकि अग्नि देवताओं का पशु है। जैसे बैल हव्य का वहन करता है वैसे ही अग्नि भी हव्य का हवन करता है।"[2]

---

1. आरे अस्मदमतिं बाधमानः इत्यशनाया वैपाप्माऽमतिस्तामेव तदारान्नुदते यज्ञाच्च याजमानाच्च।। -ऐ.ब्रा. 2.1.2.
2. अग्निं मन्थन्ति सोमे राजन्यागते। तद्यथैवादो मनुष्यराज आगतेऽन्यस्मिन् वाऽर्हत्युक्षाणं वा वेहतं वा क्षदन्त एवमेवास्मा एतत्क्षदन्ते यदग्निं मन्थन्त्यग्निर्हि देवानां पशुः।
-ऐ.ब्रा. 1.3.4.1.

इस प्रकार यहाँ प्रत्यक्ष रूप से पशु-हिंसा को एक निन्दनीय कृत्य के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

बलि-निन्दा

शुनः शेप आख्यान के माध्यम से यज्ञ या किसी भी धार्मिक कृत्य में नर-बलि जैसे घृणित कृत्य की भर्त्सना की गई है। सम्भव है, बहुत प्राकृतकाल में जब यज्ञ-संस्था का विधिवत् रूप में गठन न रहा होगा, नर-बलि की घटनाएँ कभी-कभी दिखायी देती रही हों लेकिन ऐतरेय ब्राह्मण में 33वें अध्याय में बलि प्रसंग को अमानवीय कृत्य के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

कर्मनिष्ठ जीवन और पुरुषार्थ-साधना का महत्त्व

ऐतरेय ब्राह्मण में अनेक ऐसे आख्यान और उपाख्यान संकलित किये गये हैं जिनमें मानव से सम्बन्धित आचारपरक तथ्यों का समावेश किया गया है। इनमें से शुनःशेप आख्यान के अन्तर्गत कर्मनिष्ठ जीवन और पुरुषार्थ साधना का महत्त्व अति काव्यात्मक ढंग से स्पष्ट किया गया है-बिना थके हुए 'श्री' नहीं मिलती, जो विचरण करता है, उसके पैर पुष्पयुक्त होते हैं, उसकी आत्मा फल को उत्पन्न करती है और प्राप्त करती है। भ्रमण के श्रम से उसकी समस्त पापराशि नष्ट हो जाती है।

जो व्यक्ति बैठ रहता है उसका भाग्य भी बैठ जाता है, जो मनुष्य सोता है, उसका भाग्य भी सुप्तावस्था में रहता है और जो व्यक्ति चलता रहता है उसका भाग्य भी आगे चलता रहता है। कलियुग का अर्थ है मनुष्य की सुप्तावस्था, जब वह जम्भाई लेता है तब वह द्वापर की स्थिति में होता है, खड़े होने पर त्रेता और कर्मरत होने पर सत्ययुग की अवस्था में आ जाता है। चलते हुए ही मनुष्य स्वादिष्ट फल को प्राप्त करता है। सूर्य के श्रम को देखो, जो कभी चलते हुए आलस नहीं करता है।[1]

1. कलिः शयानो भवति संजिहानस्तु द्वापरः।
उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति कृतं सम्पद्यते चरंश्चरैवेति।।
चरन्वै मधु विन्दति चरन्स्वादुमुदुम्बरम्।
सूर्यस्य पश्य श्रेमाणं यो न तन्द्रयते चरंश्चरैवेति।। -ऐ.ब्रा. 3.3.1

यही पर "चरैवेति" की गाथाओं के द्वारा जीवन में बिना आलस किये निरन्तर चलते रहने की प्रेरणा प्रदान की गई है।

अनुज्ञा

ऐतरेय ब्राह्मण में यह भी निर्देश मिलता है कि इस संज्ञपनीय पशु की माता अनुज्ञा करे, इसका पिता, इसका सदोहर भ्राता और इसके समूह के मित्र अनुज्ञा प्रदान करें, वस्तुतः इस प्रकार इसके जन्म से सम्बन्धित अन्य पशुओं की अनुज्ञा लेकर ही इसका आलभन किया जाता है।[1]

पापराहित्य एवं पुण्य का महत्त्व

ब्राह्मण ग्रन्थों के काल में यह अवश्य ज्ञात रहा होगा कि पाप कर्म दुष्कर्म हैं जिनका फल बुरा होता है और अपने किये गये कर्मों का फल मनुष्य को अवश्य भोगना पड़ता है। इसी प्रकार पुण्य कर्म सत्कर्म होते हैं जिनसे मानव निरन्तर उन्नति को प्राप्त करता हुआ मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

इसी कारण अग्निष्टोम का वैशिष्ट्य-विवेचन करते हुए पापात्मा शत्रु की पराजय का वर्णन किया गया है कि "अग्नि ने तीन श्रेणी व्यूह बनाकर असुरों पर विजय पाने के लिए तीन सेनापति रूपी मुखियों में युद्ध के लिए प्रस्थान किया। तीनों श्रेणियाँ वस्तुतः तीन छन्दों (गायत्री त्रिष्टुप् और जगती) से बनाई गईं और तीन मुख वस्तुतः तीन सवनों से जिनके द्वारा उन असुरों को उसने आशातीत पराजय दी। उसके बाद से देव विजयी हुए। उससे असुर पराभूत हुए। जो इस वैशिष्ट्य को जानता है वह स्वयं उन्नति को प्राप्त करता है और उससे द्वेष करने वाले पापात्मा शत्रु पराभव को प्राप्त होते हैं।"[2]

इसी के एक स्थल पर संवत्सर के द्वारा पापों का विनाश करने के लिए कहा गया है कि यह यजमान संवत्सर के द्वारा पापों को विनष्ट करता है। संवत्सर मध्यगत विपुवत अहः से पापों को नष्ट करता है। संवत्सर के अवयवभूत

---

1. अन्वेनं माता मन्यतामनु पिताऽनुभ्राता सगर्भ्योऽनु सखा सयूथ्य इति जनित्रैरेवैनं तत्समनुमतमालभन्ते। -ऐ.ब्रा. 2.1.7
2. भवत्यात्मना पराऽस्य द्विषन् पाप्मा भ्रातृव्यो भवति य एवं वेद। -ऐ.ब्रा. 3.4.1

मासों के द्वारा यह अपने हस्त-पादादि अंगो से पापों को नष्ट करता है और प्रधान विपुवत अहः के द्वारा सिर के पापों को दूर करता है।[1]

द्वादश राशियों में उपसदों के अनुष्ठान के द्वारा कृशगात करके मांसादि के शोषण से पाप क्षीण किये जाते हैं-ऐसा भी कहा गया है।[2]

पापों के निवारण-हेतु यह भी विधान मिलता है कि वह पुरुष जो पुत्र-पौत्रादि से व्याप्त होकर अपने को श्रीसम्पन्न अर्थात् समृद्ध समझे यह होता तो षोडशी का अविहृत ही शंसन कराये, जिससे छन्दों के विहृत करने से उसकी हुई क्षति में वह न पड़े और जो पुत्र धनविहीन पाप को नष्ट करने की कामना करे वह षोडशी का विहृत पाठ ही कराये वस्तुतः यह पुरुष दारिद्र्य रूप पाप से मिश्रित है, इसीलिये उस विहृत प्रयोग से पाप रूप मालिन्य को समाप्त कर देता है।[3]

पापक्षय के लिए किये जाने वाले प्रयत्न

पापक्षय के विषय में एक प्रसंग यह भी मिलता है कि (पहले कभी) देवताओं ने 'सर्वचरु' नामक स्थान पर किसी सत्र का अनुष्ठान किया। वे (देव उस सत्र के द्वारा अपने दारिद्र्य रूप) पाप का नाश न कर सके। उन (देवों) से कद्रु अर्बुद ने कहा-"हे देव! होता से की जाने वाली एक क्रिया आप के द्वारा नहीं की गई है (इसी से पापक्षय नहीं हुआ)। उसे आप लोगों के लिये मैं कर दूँ। इसके बाद आप सब पाप क्षय कर देंगे।"[4] आगे यह भी वर्णित है-"उन देवों ने (इस प्रकार) अर्बुद से अनुष्ठित अभिषव द्वारा दारिद्र्य रूप पाप का नाश किया। उन देवों के पाप के विनष्ट होने के बाद ही (अर्बुद के सम्बन्धी) सभी सर्पों ने अपने पापों का नाश किया। जो वे सर्प पहले की जीर्ण

---

1. संवत्सरं ह्येतदहराप्नुवन्त्येष ह वै संवत्सरेण पाप्मानमपहत एव विषुषताङ्गेभ्यो हैव मासैः पाप्मानमपहते शीर्ष्णो विषुवताः - 4.3.8.
2. द्वादश रात्रीरुपसद उपैति, शरीरमेव ताभिधुनुते।
3. पुरुषः पाप्मना व्यतिषक्तमेवास्मै तत्पाप्मानं शमलपहन्ति - 4.1.4.
4. देवा ह वै सर्वचरौ सत्रं निषेदुस्ते ह पाप्मानं पापजघ्निरे, तान् होवाचार्बुद काद्रवेयः सर्प ऋषिर्मन्त्रकृदेका वै वो होताऽकृता, तां सोऽहं करवाण्यथः पाप्मानमपहनिष्यध्व इति -ऐ.ब्रा. 6.1.1.

त्वचा (केंचुल) को छोडकर नूतन त्वचा से युक्त होकर सभी ओर प्रसर्पण करते हैं तो नूतन त्वचा से युक्त वे सर्प पापविहीन कहे जाते है।"[1]

ऋग्वेद के एक मन्त्र में प्रज्ञा के द्वारा पाप से रक्षा-हेतु प्रार्थना की गई है कि "हे यूप, तुम उन्नत होकर प्रज्ञा के द्वारा पाप से बचाओ। सभी खाने वाले राक्षसों को इकठ्ठा करके भस्मसात् कर दो।"[2] इस सम्बन्ध में ऐतरेय ब्राह्मण में कहा गया है कि "अत्रिन् शब्द का तात्पर्य है राक्षस और पाप अतः राक्षस और पाप दोनों का दहन इस मन्त्र में प्रार्थित है।"[3]

इससे ऐसा प्रतीत होता है पाप को राक्षस के समान ही निन्दनीय माना जाता था।

यहाँ गायत्री छंद को पाप और कालुष्य का निवारण करने वाला कहा गया है क्योंकि गायत्री के द्वारा देवों ने भी पाप और मालिन्य का विनाश किया।[4]

पाप से मुक्ति की प्रार्थना के साथ-साथ ऋग्वेदीय ब्राह्मणों में पुण्य के स्वरूप पर भी चर्चा की गई है। एक स्थल पर यह बताया गया है कि "याज्या से यजन करता है। प्रदान रूप ही याज्या है, पुण्य लक्ष्मी है। इस प्रकार उस मन्त्र से वह पुण्य लक्ष्मी को उत्पन्न करता है और पुण्य लक्ष्मी का ही संस्कार करता है।"[5]

इसी प्रकार आगे भी कथन है- "जो इस प्रकार जानता है, वह इस प्रकार जानते हुए गायत्री आदि छन्दः स्वरूप वह्नि आदि देवता स्वरूप ऋक् आदि

---

1. ते ह पाप्मानमपजघ्निरे, तेषामन्वपहतिं सर्वाः पाप्मानमजघ्निरे, त एतेऽपहतपाप्मानो हित्वा पूर्णां जीर्णां त्वचं नवयैव प्रयन्ति।। -ऐ.ब्रा. 6.1.1.
2. ऊर्ध्वो नः पाह्यंहसो नि केतुना विश्वं समत्रिणं दहति।। -ऋ. 1.36.14.
3. रक्षांसि वै पाप्माऽत्रिणो रक्षांसि पाप्मानं दहत्येव तदाह।। -ऐ.ब्रा. 2.1.2.
4. गायत्र्या वै देवाः पाप्मानां शमलपपाहमत गायत्र्यैवास्य तत्पाप्मानं शमलपहन्ति।। -ऐ.ब्रा. 2.2.7.
5. याज्यया यजति, प्रत्तिवै याज्या, पुण्यैव लक्ष्मीः पुण्यामेव तत्लक्ष्मीं संभावयति पुण्यां लक्ष्मीं संस्कुरुते। -2.5.8

वेदस्वरूप और मरणारहित मोक्षस्वरूप होकर सभी जगत् को एकीकृत करके सभी देवों को प्राप्त कर लेता है।"[1]

स्वस्ति

'स्वस्ति' का अभिप्राय है कल्याणकारी, और जो कल्याकारक है वही श्रेष्ठ है। वैसे भी मानव की यही मूलभूत प्रवृत्ति रही है कि जीवन में सर्वत्र कल्याण ही कल्याण देखना चाहता है। सम्भवतः यही कारण रहा होगा कि ऋग्वेद के ब्राह्मण ग्रन्थों में एक नहीं अनेक स्थलों पर 'स्वस्ति' और श्रेष्ठ के विषय में जानकारी प्रदान करने वाले सन्दर्भ परिलक्षित होते हैं।

ऐतरेय ब्राह्मण में 'स्वस्ति' के लिये कहा गया है "स्वस्तय इति स्वस्तितामाशास्ते" अर्थात् कल्याण के लिये। इससे यह स्वतः सिद्ध हो जाता है कि इस पाद से क्षेम की आशंसा की जाती है।[2] उदाहरण के लिये-"जातवेद देवताक मंत्र कल्याणपूर्वक गमन के लिये होते हैं अतः संवत्सर सत्र के पास पहुँचता है।"[3]

ऐतरेय ब्राह्मण ने एक प्रसंग में यह भी कहा है-"उन देवों ने गायत्री से कहा- तुम हम लोगों के लिये इस सोम राजा का आहरण करो। उसने कहा-'अच्छा- हे देवों, मुझ जाती हुई का तुम सब आशीर्वाद रूप मन्त्र से कल्याण के लिये स्वस्तिवाचन करो। उन्होंने कहा-ठीक है।' वह द्युलोक के प्रति उड़ी। तब देवों ने उस गायत्री का 'प्रेति चेति चेति' इस सम्पूर्ण क्षेमप्रापक मन्त्र से अनुमन्त्रण किया। यह जो 'प्रेति-चेति-चेति' हैं यह सम्पूर्ण स्वस्तिवचन है।(प्र अर्थात् क्षेमपूर्वक सोम को प्राप्त करो और 'आ' अर्थात् पुनः क्षेम में लौट आओ।)इसलिये प्रस्थानोन्मुख जो इसका प्रिय होवेगा उसका 'प्रेति-चेति-चेति'-इस मंत्र से अनुमन्त्रण करें। इससे वह क्षेमपूर्वक ही हो जाता है और पुनः सकुशल लौट जाता है।"[4] इसी में एक स्थान पर अग्नि को

---

1. स एवं विद्वाँश्छन्दोमयो देवतामयो ब्रह्ममयोऽमृतमयः संभूय देवता अप्येति य एवं वेद। -ऐ.ब्रा. 2.5.8
2. -ऐ.ब्रा. - 4.3.6
3. स्वस्त्ययनमेव तत्कुरुते, स्वस्ति संवत्सरस्य पारमश्नुते य एवं वेद। -ऐ.ब्रा. 4.5.4.
4. तां वै मा सर्वेण स्वस्त्ययनेनानुमंत्रयध्वमितिः, तथेति सोदपतत्, तां देवाः सर्वेण स्वस्त्ययनेनान्वमन्त्रयन्तप्रेति चेति चेति, एतद्वै सर्वं स्वस्त्ययनं -ऐ.ब्रा. 3.3.2.

सम्बोधित करते हुए कहा गया है कि 'हे अग्नि! यहाँ आओ। मुझे तुमसे कुछ शुभ कार्य कहना है।'[1]

जो शुभ है वही कल्याणप्रद है इसीलिये स्थान-स्थान पर इसमें श्रेष्टता का प्रतिपादन भी किया गया है। इसीलिये प्रातः सवन के सन्दर्भ में कहा गया है कि याज्ञिकजन सभी सवनों में प्रातः सवन को अत्यन्त समृद्ध मानते हैं और जिसे इस प्रकार का ज्ञान है, वह सभी सवनों में अग्रगण्य और मुख्य होता है तथा श्रेष्ठता प्रदान करता है।[2]

मौन की महिमा

ऋग्वेदीय ब्राह्मण ग्रन्थों में एक ओर तो वाणी के गौरव का प्रतिपादन किया गया है वहीं दूसरी ओर मौन का महत्त्व प्रतिपादित किया है। ऐतरेय ब्राह्मण में यज्ञ के प्रसंग में मौन का वैशिष्ट्य इस प्रकार बतलाया गया है-"कुछ यज्ञ प्रयोगों में वे कुछ ब्रह्मा नामक ऋत्विज् (होता द्वारा पठित) प्रारनुवाक में (अध्वर्यु द्वारा अनुज्ञात होने पर 'रश्मिरसिक्षयाय' इत्यादि) स्तोम भाग संज्ञक मन्त्रों का जप करके (मौन न धारण करके) बातचीत करते हुए समीप ही बैठते हैं। तब (किसी अन्य यज्ञ में किसी शास्त्राभिज्ञ) ब्राह्मण ने प्रातरनुवाक के उपाकरण के बाद ब्रह्मा को बातचीत करते हुए देखकर कहा-इस यज्ञ के आधे भाग को (ऋत्विज् और यजमान ने) निगूढ कर दिया। वस्तुतः जैसे लोक में एक पैर से चलने वाला मनुष्य अथवा एक पहिये से चलने वाला रथ गिर पड़ता है वैसे ही (मौनरहित ब्रह्मा से युक्त) वह यज्ञ भी भ्रष्ट हो जाता है और यज्ञ के वैकल्य से यजमान भी असफल हो जाता है।"[3]

---

1. हेऽग्न! एहिउ आगच्छैव ते तव सुब्रवाणि - ऐ.ब्रा. सायणभाष्य, पृ. 565.
2. तत्प्रातः सवनमभवत्, तद्गायत्री स्वमायतनमकुरुत, तस्मात् तत्समृद्धतमं मन्यन्ते सर्वेषां सवनानाम् अग्नियो मुख्यो भवति श्रेष्ठतामश्नुते। -ऐ.ब्रा. 3.3.3.
3. ते हैके ब्रह्माण उपाकृते प्रातरनुवाके स्तोमभागञ्जपित्वा भाषमाणा उपासते तद्धैतदुवाच ब्राह्मण उपाकृते प्रातरनुवाके ब्राह्मणं भाषमाणं दृष्ट्वाऽधर्मस्य यज्ञस्यान्तरगुरितिः, तद्यथेकपात्पुरुषो यन्नेकतश्चक्रो वा रथो वर्तमानो भ्रेषं न्येत्येवमेव स यज्ञो भ्रेषं न्येति, -यज्ञस्य भ्रेषमनु यजमानो भ्रेषं न्येति।। -ऐ.ब्रा. 5.5.8.

दान की महिमा

ब्राह्मण ग्रन्थों में दानशीलता को एक आचारिक गुण माना गया है क्योंकि इच्छुक व्यक्ति को दान देने से उसका कल्याण होता है और इच्छितवस्तु को पाकर प्रसन्नतापूर्वक हमारे कल्याण की कामना करने लगता है। ऐतरेय ब्राह्मण में अष्टम पञ्चिका के चतुर्थ अध्याय में दान का माहात्म्य इस प्रकार प्रदर्शित किया गया है-

"अङ्गराज के पुरोहित ब्राह्मण (आत्रेय उदमय) अवचत्लुक नामक प्रदेश में दस हजार हाथियों को देकर जब दान से थक गये तो परिचारकों को भेजा कि हे परिचारकों अब दान दो।"[1]

इसी में आगे इस प्रकार वर्णन किया गया है-"परिचारकों में भी एक-एक करके दान देने में आसक्त हो। 'सौ तुमको- इस प्रकार सौ-सौ को साथ में दान देकर भी जब ग्लानि को ही प्राप्त किया, तब (सौ संख्या छोड़कर)'हजार तुमको'-यह कहकर (उस संख्या को भी बार बार प्रयुक्त करने से थककर बीच-बीच में श्रम-परिहार के लिए) दीर्घ निःश्वास लिया।"[2]

पारिवारिक आचार

परिवार में शिशु के रूप में जन्म लेकर व्यक्ति पहले अधिकार प्राप्त करता है और धीरे-धीरे बड़ा होकर कर्तव्य कर्मों की ओर प्रेरित होता है प्रारम्भिक अवस्था में माता-पिता के अपने शिशु के प्रति कुछ कर्तव्य होते हैं। यदि इन कर्तव्यों के पालन में माता-पिता कुछ लापरवाही बरतते हैं तो जीवन की शुरुआत से ही बच्चा अपने कर्तव्यों और अधिकारों को समझने में अनभिज्ञ रहता है और यहीं से अव्यवस्था उत्पन्न हो जाती है। इसीलिये माता-पिता के कर्तव्यों के साथ-साथ पुत्र-पुत्री के भी कर्तव्यों का विधान किया गया है। भाई

---

1. दश नागसहस्राणि दत्वाऽऽत्रेयोऽवचत्लुके।
   श्रान्तः पारकुटान् प्रैप्सद्दानेनाङ्गस्यब्राह्मणः।। -ऐ.ब्रा. 8.4.8.
2. शतं तुभ्यं तुभ्यमिति स्मैव प्रताम्यति।
   सहस्रं तुभ्यमित्युक्त्वा प्राणान् स्म प्रतिपद्यत इति।। -ऐ.ब्रा. 8.4.8.22

के अपनी बहन के प्रति और बहन के अपने भाई के प्रति भी कुछ अधिकार और कर्तव्य होते हैं।

इस प्रकार सन्तान अपने अधिकारों को प्राप्त करते हुए और कर्तव्य के पथ पर अग्रसर होते हुए युवावस्था में पदार्पण करता है। तब वह वैवाहिक बन्धन में बँधकर एक नये जीवन का आरम्भ करता है और पुनः नवीन कर्तव्यों के प्रति उत्तरदायी हो जाता है। एक ही गृह में रहने वाले सदस्यों के परस्पर आचार-व्यवहार को पारिवारिक-आचार के रूप में व्यक्त किया जा सकता है।

पिता के प्रति आदर की भावना

पिता को परिवार का मुखिया माना जाता है और उस मुखिया को परिवार में सम्मनित सदस्य माना जाता है। पिता के प्रति पुत्रों की भावना को ऐतरेय ब्राह्मण की पंचम पञ्चिका के द्वितीय अध्यायान्तर्गत नवम खण्ड में इस प्रकार प्रदर्शित किया गया है-"(मनु के षुत्र) नाभानेदिष्ठ मानव जब (वेद पढ़ने के लिये) ब्रह्मचर्याश्रम में निवास कर रहे थे तब उनके बड़े भाई ने पिता के धन में भाग देने से उन्हें निराकृत कर दिया। वह (वेदाभ्यास से) आकर (भाइयों से इस प्रकार) बोले- हे भाइयों! मेरे लिये कौन सा भाग अलग कर दिया गया है? (उन भाइयों ने अपने पिता मनु की ओर हाथ दिखाकर)'इन्हीं धर्मरहस्य-निर्णेता और ने फैसला किया है' -कहा।"[1]

ऐतरेय ब्राह्मण में इन अंशों के द्वारा पिता-पुत्र के सम्बन्ध को सुस्पष्ट करने का प्रयास किया गया है- "ऐतरेय नामक किसी महर्षि ने 'अग्नेरायुः'(नामक मन्त्रकाण्ड) का दर्शन किया पहले की तरह अग्नि का प्रिय होने से उस काण्ड का नाम 'अग्नेरायु' हुआ। कुछ याज्ञिक उस (मन्त्रकाण्ड) का नाम 'यज्ञस्यायातयामम्' कहते हैं। पुनः पुनः पठित सार्थक मन्त्र समूहों से अलस यज्ञ गतसार हो गया। उस यज्ञ की अलसता को हटाने के कारण और

1. नाभानेदिष्ठं वै मानवं ब्रह्मचर्यं वसन्तं भ्रातरो निरभजन् सोऽब्रवीदेत्यकिं मह्यमभाक्तेत्येतमेव निष्ठावमववदितारमित्यब्रुवंस्तरमाद्वाप्येतर्हि पितरं पुत्रा निष्ठावोऽववदितेत्येवाचक्षते।।
–ऐ.ब्रा. 5.2.9.

उसमें सार उत्पन्न करने के कारण असम्बद्ध प्रलाप रूप मन्त्रकाण्ड का नाम अयातयाम हुआ। उन ऐतश मुनि ने अपने पुत्रों से इस प्रकार कहा, हे पुत्रों! मैने 'अग्नेरायु' नामक मन्त्रकाण्ड का दर्शन किया। उसका मैं आप लोगों के सामन प्रलाप करूँगा। उसमें किसी भी संगत अर्थ के न होने से जो कुछ भी मैं कहता हूँ उन (मेरे वचनों) की तुम लोग निन्दा न करना। इस प्रकार पुत्रों को आदेश देकर उन मुनि ने प्रलाप प्रारम्भ किया।"[1]

इसी में आगे की पंक्तियों में यह भी कहा गया है कि अपने पिता का अनादर करने वाले पुत्र को दुष्फल प्राप्त होता है- "तब उस अभ्यग्नि से पिता ने इस प्रकार कहा- हे पुत्र, तुम इस स्थान से चले जाओ। मेरे वाक्यों को सुनने में तुमने आलस्य किया है। जो तुमने मेरी वाणी को (मुख बन्द करके) रोक दिया है(तुम यह सोचते हो कि मैं उन्मत्त हूँ किन्तु मन्त्रकाण्ड ही इस प्रकार है अतः मेरी सामर्थ्य सुनो)-अल्पायु गाय को मैं शतायु कर सकता हूँ और शतायु पुरुष को सहस्र वर्ष की आयु वाला बना सकता हूँ (अतः मुझे न जानने वाले) तुम्हारी पुत्रादि रूप प्रजा को मैं (दारिद्र्य रूप से) अत्यन्त पापी बनाता हूँ, क्योंकि तुमने मुझे इस प्रकार अत्यन्त अभिभूत किया है।"[2]

एक परिवार के सदस्यों का वर्णन ऐतरेय ब्राह्मण में इस प्रकार किया गया है-

अदितिर्माता स पिता स पुत्रः इति।

इयं वै मातेयं पितेयं पुत्रः।।[3]

गृह में पति के प्रतिकूल वचन कहने वाली स्त्री से बचने का भी विधान किया गया है-" धाय्या पत्नी है, इसलिये उसका शंसन अत्यन्त नीच ध्वनि से करना चाहिये। यह जानते हुए जो अत्यन्त नीच ध्वनि में धाय्या का शंसन

---

1. ऐतशो ह वै मुनिरग्नेरायुददर्श यज्ञस्यायातयाममिति हैक आहुः, सोऽब्रवीत् पुत्रान्-पुत्रका अग्नेरायुरदर्शं, तदभिलपिप्यामि, यत्किंच वदामि, तन्मे मा परिगतेति, स प्रत्यपद्यतैता अश्वा आप्लवन्ते, प्रतीपं प्रातिसत्वनमिति। -ऐ.ब्रा. 6.5.7.
2. तं होवाचापेह्यलसोऽभूर्यो मे वाचमवधीः शतायुं गामकरिष्यं, सहस्रायुं पुरुषं, पापिष्ठां ते प्रजा करोमि, यो मेत्थमसक्था इति।। -ऐ.ब्रा. 6.5.7.
3. ऐ.ब्रा. 3.3.7.

करता है उस यजमान के गृह में पत्नी पति के प्रतिकूल वचन करने वाली नहीं होती।"[1]

ऐतरेय ब्राह्मण में ऋक्-साम सम्बन्ध पर आधृत एक आख्यायिका मिलती है जिससे स्त्री के आचरण पर प्रकाश पड़ता है-इस ऋक्-साम के मेल से पहले अक्षर पद रूप ऋक् और गीति रूप साम अलग-अलग थे। ऋक् का नाम 'सा' (SHE) था और साम का नाम 'अम'(HE) था। ऋक् ने साम से कह- 'हम लोग प्रजोत्पादन के लिये एक दूसरे के साथ प्रसंग करें।' साम ने कहा-'नहीं, क्योंकि मेरी महिमा अधिक है।' तब साम के बराबर होने के लिये दो ऋक् होकर वैसी ही बोली। उन दो ऋक् के प्रति भी वह राजी नहीं हुआ। पुनः वह तीन होकर बोली। तब उन तीनों के साथ उसने संयोग किया, क्योंकि तीन के साथ संयोग हुआ, इसलिये सामयुक्त तीन ऋचाओं से सामगान करने वाले की स्तुति करते हैं अर्थात् तीन ऋचाओं से गान करते हैं क्योंकि साम तीन ऋचाओं से संवृत्त हुआ अतः लोक में भी एक सामस्थानीय पुरुष की बहुत सी ऋक्-स्थानीय पत्नियाँ होती हैं। किन्तु एक स्त्री के कई पति नहीं होते। इस प्रकार तृचों पर साम क्यों गाया जाता है?-इसका कारण यह बतलाते हुए इस आख्यायिका के माध्यम से यह प्रकट करने की चेष्टा की गई है कि एक स्त्री के अनेक पति नहीं होने चाहिए।

यहीं 'निष्केवल्य' शस्त्र का प्रतिपादन करते हुए स्त्री के स्वभाव विषयक वर्णन भी किया गया है-"उन देवों ने परस्पर कहा- यह इन्द्र की प्रिय पत्नी मध्यम जातीय 'प्रसहा' नामक है।[2] हम लोग इसी से अपनी वाञ्छा प्रकट करें। उन्होंने कहा-'ठीक है' और उसी से अपनी इच्छा प्रकट की। उसने इन लोगों से कहा-"मैं सवेरे आप लोगों से बताऊँगी। इसीलिये लोक में स्त्रियाँ पति से सब कुछ रात्रि में जानना चाहती हैं क्योंकि एकान्त में सब कुछ जानने का अवसर होता है। इसीलिये प्रिया स्त्री रात्रि के समय एकान्त बेला में पति से

---

1. अप्रतिवादिनी हास्य गृहेषु पत्नी भवति, यत्रैव विद्वान् नीचैस्तरां धाय्यां शंसति -ऐ.ब्रा. 3.2.13.

2. नैकस्यै बहवः सह पतयो यद्ध -ऐ.ब्रा. 3.2.12.

सब कुछ जानना चाहती है-अतः प्रातः काल देव उसके पास आये। उसने प्रत्युत्तर में एक मन्त्र कहा।[1] इसका समर्थन भट्टभास्कर ने भी किया है।"[2]

पत्नी से मित्रवत् व्यवहार करना चाहिये इसका उल्लेख भी किया गया है-" (शरीर में प्राणों की रक्षा का हेतुभूत होने से) अन्न ही प्राण है। (शीत आदि उपद्रवों से रक्षा करने के कारण) वस्त्र (गृह के समान) शरण है और सुवर्णा (के आभरण देखने में सुन्दर लगने के कारण)रूप हैं; (गौ एवं अश्वादि) पशु विवाह (विशेष के द्वारा निर्वाहक हैं)। पत्नी (भोग में सहायक होने से) सखास्वरूप है। इस प्रकार यद्यपि वे वस्तुएँ सुख की हेतुभूत हैं फिर भी अल्पकालिक ही सुख देती हैं। पुत्री केवल दुःखदायक होने से दैन्य ही है। किन्तु पुत्र तो (अन्धकार का निवारक होने से)ज्योतिः स्वरूप ही है। अतः वह (प्रकाशरूप से पिता को परब्रह्म स्वरूप से) उत्कृष्ट आकाश में (अवस्थापित करता) है।"[3]

भाई-भाई के परस्पर मधुर सम्बन्ध होने चाहिये और सम्बन्धों की मधुरता के लिये आवश्यक है कि बड़े भाई और छोटे भाई के मध्य सामंजस्यपूर्ण व्यवहार हों इस विषय में ऐतरेय ब्राह्मणकार ने विधान किया है कि बड़े भाई को छोटे भाई का हिस्सा नहीं हड़पना चाहिये-"उन महर्षियों के पास(नाभानेदिष्ठ) गये और इस प्रकार कहा-हे शोभन मेधा वाले अङ्गिराओं, मनु के पुत्र (नाभानेदिष्ठ) को आप स्वीकार करें। (इस प्रकार कहते हुए) उनसे मुनियों ने कहा- किस अपेक्षा बुद्धि से तुम इस प्रकार कह रहे हो? तब नाभानेदिष्ठ ने कहा-हे महर्षियों, आप लोगों को 'यही पृष्ठ अहः है' ऐसा ज्ञान कराऊँगा और षष्ठ अहः के ज्ञान के बाद आप द्वारा सत्रार्थ सम्पादित अनुष्ठान के बाद अवशिष्ट

---

1. यद् वावान पुरुतमं पुराषाडा वृत्रहेन्द्रो नामान्यप्राः अचेति प्रासहस्पतिस्तुविष्मान् इति।। -ऋ. 10.79.6
2. यस्मादेवं प्रासहा स्वयमेवेन्द्राभिप्रायं निश्चेतुं शक्ता हि रात्रौ पत्युर्मुखादेव श्रुत्वा प्रातर्वः प्रतिवक्तास्मि - इत्यब्रवीत् न तु स्वयमेव तदभिप्रायमाविष्कृतवती तस्मादिदानीमपि सर्वाः स्त्रियः पत्यावेच्छन्ते पतिमुखादेवै तदभिप्रायं ज्ञातुमिच्छन्ति ज्ञातमप्यर्थं तमेव पृच्छन्ति - इति भट्टभास्कर ऐ.ब्रा. पृ. 457.
3. अन्नं ह प्राणः, शरणं ह वासो, रूपं हिरण्यं, पशवो विवाहाः। सखा ह जाया, कृपणं ह दुहिता, ख ज्योतिर्ह पुत्रः परमे व्योमन्।। -ऐ.ब्रा. 7.3.1.

जो सहस्र संख्यक धन है उस सबको मुझे स्वर्ग के प्रति जाते हुए देवें। उन्होंने कहा-'ठीक है'। उन मुनियों को यज्ञ का प्रकृष्ट रूप से ज्ञान हुआ और उस अनुष्ठान से स्वर्गलोक का भी ज्ञान हुआ।"[1]

भाइयों में ज्येष्ठ और गुणों में श्रेष्ठ को ही यजन का अधिकार प्रदान किया गया है।[2] पारिवारिक आचार की दृष्टि से यह प्रसंग भी उपादेय है-"यद्यपि लोक में बहुत सी पत्नियाँ होने पर भी पति उनमें से एक के ही साथ मिथुन सम्पादन करता है, उसी प्रकार इन अनुमति आदि के पूर्व में जो एक धाता के लिये आहुति देता है वह इन सभी (स्त्री देवताओं) का एक धाता से मिथुन सम्पादित करता है।"[3]

हमें वयोवृद्धों के प्रति आदर का भाव रखना चाहिये, इस को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि "आहनीय देश को छोड़कर सुब्रह्मण्याह्वान क्यों उत्कर में खड़े होकर करते हैं? उत्तर-प्राचीन काल में ऋषियों ने सत्र किया। उनके मध्य कोई अत्यन्त वृद्ध था। उनसे वे बोले-'सुब्रह्मण्याह्वान करें।' हम लोगों के बीच आप ही (वयोवृद्धत्वेन देवलोक के) पास होने से देवों के आह्वान में समर्थ हैं। इस प्रकार ऋषियों के कहने के कारण यहाँ भी उत्कर देश में (सुब्रह्मण्याह्वान-कर्ता) खड़े होकर इसे अत्यन्त वृद्ध ही करते हैं। इस प्रकार (उत्कर के वेदिगत धूलि रूप के समीप होने से) वेदि को ही निरवच्छिन्न रूप से तुष्ट करता है।"[4]

ब्राह्मण ग्रन्थकालीन परिवारों में पशुओं का विशिष्ट स्थान था। अतः यजमान के द्वारा परिवार के कल्याण की कामना करते हुए पुत्र आदि प्रजा और पशु दोनों के कल्याण की कामना की गई है-"अन्न एवं पुष्टि की कामना वाले

---

1. तानुपैत्प्रतिगृभ्णीत मानवं सुमेधस इति, तमब्रुवन्, किंकामो वदसीतीदमेव वः षष्ठमहः प्रज्ञापयानीत्यब्रवीदथ यद्वा, एतत्सहस्रं सत्र परिवेषणं, तन्मे स्वर्यन्तो दत्तेति तथेति, तानेते सूक्ते षष्ठेऽहन्यशंसयत् - ततो वै ते प्र यज्ञमजानन् प्र स्वर्गं लोकम्।। -ऐ.ब्रा. 5.2.9.
2. ज्येष्ठ श्रेष्ठो यजेत् -ऐ.ब्रा. 4.4.3.
3. यदि ह वा अपि बहव्य इव जायाः पतिर्वाव तासां मिथुनं तद्यदासां धातारं पुरस्ताद् यजति। तदासु सर्वासु मिथुनं दधाति। -ऐ.ब्रा. 3.5.3
4. तदाहुरथ कस्माद् उत्करे तिष्ठन् सुब्रह्मण्यामाह्वयतीत्यृषयो वै सत्रमासत, तेषां यो वर्षिष्ठ आसीत् तमब्रुवन् सुब्रह्मण्यामाह्वय त्वं नो नेदिष्ठाद् देवान् ह्वयिष्यसीतिः वर्षिष्ठमेवैनं तत्कुर्वन्त्यथो वेदिमेव तत्सर्वा प्रीणाति।। -ऐ.ब्रा. 6.1.3.

यजमान को बेल का यूप बनाना चाहिये जो बिल्व का यूप बनाता है वह अपनी पुत्रादि प्रजा और पशुओं को पुष्ट करता है।"[1]

समाजिक आचार

सामान्य रूप से मनुष्य किसी न किसी परिवार से सम्बन्धित रहता है और कई परिवरों के सम्मिलन से एक समाज का निर्माण होता है। एक व्यक्ति जो परिवार में नैतिक आचरण की शिक्षा प्राप्त करता है, वही परिवार से बाहर निकलकर अन्य दूसरे मनुष्यों के साथ समाज में अपने नैतिक आधारों का व्यावहारिक परीक्षण करता है। नैतिक गुण वास्तव में मानव को समाज से ही प्राप्त होते हैं अतः उन गुणों के विपरीत कार्य करने से समस्त सामाजिक व्यवस्था प्रभावित होती है। मनुष्य समाज का एक आवश्यक अंग है अतः उसके समाज के प्रति तथा उसके प्रति समाज के कुछ कर्तव्य होते हैं जिनके पालन के आधार पर ही श्रेष्ठ समाज की कल्पना की जा सकती है। ब्राह्मण ग्रन्थों में भी समाजिक नैतिकता के परिचायक अनेक उद्धरण मिलते हैं। श्रेष्ठ समाज के निर्माण हेतु ब्राह्मण ग्रन्थों में व्यक्ति के लिये कुछ मर्यादाओं का भी निर्धारण किया गया है। यथा-दूसरे के घर पर नहीं रहना चाहिये; किसी को उसके उचित भाग से ही समृद्ध करना चाहिये, किसी स्थान विशेष में वहाँ के स्वामीकी आज्ञा लेकर ही प्रवेश करना चाहिये, योगक्षेम विचारपूर्वक ही कार्य का प्रारम्भ करना चाहिये, आचार्य का अनुगमन शिष्य को करना चाहिये एवं गुरु के प्रति द्रोह नहीं करना चाहिये; सबके प्रति समान एवं विमल दृष्टि रखनी चाहिये इत्यादि। इन सबके सम्यक् परिपालन के द्वारा मनुष्य के अन्दर वैयक्तिक श्रेष्ठ आचरिक गुणों का विकास होता है तथा समृद्ध एवं सुखी समाज के निर्माण में सहायता मिलती है।

सबको समान व विमल दृष्टि से देखने का निर्देश

समाज में सबको समान दृष्टि से देखन का निर्देश किया गया है जो 'ऐश्वर्य' प्राप्त करता है, जो श्रेष्ठता प्राप्त करता है, वह समदृष्टि होता है और जो

---

1. पुष्यति प्रजां पशूंश्च च एवं विद्रान् बैल्वं यूपं कुरुते।। -ऐ.ब्रा. 2.1.1.

समदृष्टि नहीं है लोग उसकी निन्दा करते हैं।"[1] इस प्रकार यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है कि ऐश्वर्यशाली और श्रेष्ठ पुरुष को समदृष्टि से देखने का निर्देश किया गया है-"(अभिषवार्थ सर्प रूप में अर्बुद ऋषि के अपने पर उनकी विष दृष्टि से देखे गये वल्लीरूप) सोम राजा ने (स्वयं भी विषयुक्त होकर) समीपवर्ती उन सभी देवों को मदयुक्त किया तब उन देवों ने (आपस में) कहा-"विष वाले (सर्परूप अर्बुद) हमारे सोमराजा को विषदृष्टि से देखते हैं। यह कष्टकर है। अतः उसके परिहार के लिये हम लोग किसी पगड़ी (या अन्य वस्त्र) से इस (अर्बुद) की आँख को बांध दें। (क्योंकि देवों ने इस प्रकार किया) इसीलिये उसी के अनुकरणस्वरूप ऋत्विज् पगड़ी से चारों ओर से मुख को बांधकर सोम के अभिषवार्थ पाषाण की स्तुति करते हैं।"[2]

किसी को उसके उचित भाग से ही समृद्ध करना चाहिये

दीक्षणीया इष्टि का विधान करते हुए एक स्थान पर यह कहा गया है कि आज्य देवों के लिये, सुरभियुक्त घृत मनुष्यों के लिये, आयुत (आधा पिघला हुआ घी) पितरों के लिये और नवनीत गर्भस्थ जीवों के लिये होता है।[3] इस कथन के द्वारा यह बतलाने का प्रयास किया गया है, कि यजमान को उसके उचित भाग द्वारा ही समृद्ध किया जाता था।

जो जहाँ का स्वामी है, उससे पूछकर ही उसके क्षेत्र में प्रवेश करना चाहिये

ऐतरेय ब्राह्मण में एक प्रसंग में कहा गया है कि स्वर्ग में मरुतों से पूछ कर ही जायें। इसका वर्णन इस प्रकार है-"हे मरुतों! हम को कल्याणकारी धन दो, वस्तुतः मरुद्गण देवताओं की प्रजा हैं जो अन्तरिक्ष लोक में रहते हैं, जो

---

1. यो वै भवति, यः श्रेष्ठतामश्नुते, स सामन् भवत्यसामन् य इति हि निन्दन्ति
-ऐ.ब्रा. 3.2.12.

2. तान् ह राजा मदयाञ्चकार ते होचुराशीविषो वै नो राजानमवेक्षते, हन्तास्योष्णीषेणाक्ष्यावपिनह्यामेति; तथेति; तस्य होष्णीषेणाक्ष्यवपनह्युस्तस्मादुष्णीषमेव पर्यस्य ग्राव्णोऽभिष्टुवन्ति तदनुकृति।। -ऐ.ब्रा. 6.1.1.

3. स्वेनैवैनं तद्भागधेयेन समर्धयन्ति -ऐ.ब्रा. 1.3.

कोई उनसे बिना बताये या निवेदन किये बिना स्वर्गलोक को जाता है, वे उसे रोकने में अथवा उसका विनाश करने में समर्थ हैं, और जो होता यह कहता है कि हे मरुतों! हमको कल्याणकारी धन दो, वह ऐसा कहकर यजमान का देवताओं की प्रजा उन मरुतों के साथ निवेदन कराता है। तब स्वर्गलोक को जाने वाले इस यजमान को देवताओं की प्रजा को न तो मरुद्गण रोकते हैं और न ही विनष्ट करते हैं।"[1] अतः स्पष्ट है कि अनिष्ट निवारण और विघ्नों से रक्षा के लिये स्वामी की आज्ञा लेकर ही उसके क्षेत्र में प्रविष्ट होना चाहिये।

योग-क्षेम विचारपूर्वक ही कार्य करना चाहिये

राजा सोम को गाड़ी से उतारने के प्रसंग में यह बतलाया गया है कि यदि वे दोनों बैलों को जुता रखकर ही राजा सोम को उतारते हैं तो प्रजा में योग (धनादि की प्राप्ति) और क्षेम (उसकी रक्षा) का अभाव हो जाता है, प्रजा तितर-बितर हो जाती है।[2]

इस योग के अभाव-निवारण हेतु भी विधान दिया गया है कि "क्रय देश में सोम को गाड़ी में बँधे हुए दो बैलों में से किसी एक को जुता रहने देना चाहिये और किसी एक को खोल देना चाहिये तब राजा सोम को गाड़ी से उतारना चाहिये। विमुक्त बैल गृहावस्थित पुत्रादि प्रजा रूप है और जुता हुआ बैल लौकिक और वैदिक क्रियाओं का रूप है। वे जो एक बैल को खोलकर और एक को जुता हुआ रखकर सोम को उतारते हैं वे क्षेम और योग दोनों का सम्पादन करते हैं अर्थात् उन्हें प्राप्त करते हैं।[3]

सदोष और गुणहीन व्यक्ति का निष्कासन

ऐतरेय ब्राह्मण में ही एक स्थल पर यह भी वर्णन मिलता है कि भृगु-अंगिरा

---

1. तासु पदमस्ति स्वस्ति राये मरुतो दधातनेति मरुतो ह वा देवविशोऽन्तरिक्षभाजनास्तेभ्यो ह योऽनिवेद्यः स्वर्गं लोकमेतीश्वरा हैनं नि वा रोद्धोर्विवा मथितोः, स यदाह स्वस्ति राये मरुतो दधातनेति तं मरुद्भ्यो देवविडभ्यो यजमानं निदेदयति न ह वा एनं मरुतो देवविशः स्वर्गं लोकं यन्तं निरुन्धते न विमथ्नते।। -ऐ.ब्रा. 2.4.1.
2. यद्युक्तयोरयोगक्षेमः प्रजा विन्देत्ताः प्रजा परिप्लवरेन् -ऐ.ब्रा. 1.3.3.
3. योऽनड्वान् विमुक्तस्तच्छालासदां प्रजानां रूपं यो युक्तस्तच्च क्रियाणां ते ये युक्तेऽन्ये विमुक्तेऽन्ये उपावहरन्त्युभावेव ते क्षेमयोगौ क्ल्पयन्ति। -ऐ.ब्रा. 1.3.3.

आदि ऋषियों ने ईलूप के पुत्र कवष को यह कहते हुए सोमयाग से निकाल दिया कि यह दासी पुत्र, जुआरी और अब्राह्मण हम शिष्टजनों के बीच कैसे शिक्षा प्राप्त करेगा?[1]

इससे यह भी ज्ञात होता है कि आचार-विहीन व्यक्ति ब्राह्मण-ग्रन्थों के काल में भी निन्दनीय थे।

किसी वस्तु को पाने के लिये स्वस्थ प्रतियोगिता की भावना

प्रायः ऐसा कहा जाता है कि श्रेष्ठ कार्य के सुसम्पादन-हेतु मनुष्य के अन्दर अच्छी भावना का होना आवश्यक है और किसी प्रतियोगिता में विजयी होने के लिये स्वस्थ प्रतियोगिता की भावना का होना भी अत्यावश्यक है। इसी प्रसंग में ऐतरेय ब्राह्मण में एक स्थल का वर्णन मिलता है कि "किसी समय की बात है कि सोम राजा के अग्रपान में देवता एक मत नहीं हुए। सभी ने यही कामना की कि मैं पहले पीऊँ, मैं पहले पीऊँ। उन्होंने आपस में समझौता करते हुए कहा-'ऐसा ही हो।'तब वे दौड़े। दौड़ में जितने दौड़े थे उनमें वायु पहले नियत स्थान पर पहुँचे थे। उसके बाद इन्द्र, उसके बाद मित्रावरुण और उसके बाद अश्विनद्वय पहुँचे। इन्द्र यह सोचकर कि "मैं वायु से आगे पहुँचूँ" ऐसा दौड़े कि वायु के पास ही गिर पड़े। तब इन्द्र ने कहा-"क्योंकि हम दोनों जीते हैं अतः हम दोनों साथ-साथ आधा-आधा सोमपान करें।" वायु ने कहा-'नहीं मैं ही जीता हूँ'-इन्द्र ने कहा-'अच्छा आधा न हो तो तृतीय भाग ही मुझे मिले, क्योंकि हम दोनों जीते हैं।'' वायु ने कहा-'ठीक है,' और उसको चौथाई भाग देना स्वीकार कर लिया। इसलिये इन्द्र चौथाई भाग के भागीदार हुए और वायु तृतीय भाग के। इस प्रकार इन्द्र और वायु दोनों ही जीते, उसके बाद मित्रावरुण साथ-साथ और इसके बाद अश्विद्वय एक साथ उस पूर्व नियुक्त अवधि को प्राप्त हुए। अतः देवों में जो जिस क्रम से पहुँचे उसी क्रम से सोमपान के अधिकारी हुए। उसके बाद मित्र और वरुण, उसके बाद अश्विद्वय।"[2]

1. ते कवषमैलूषं सोमादनयनम् दास्याः पुत्रः कितवोऽब्राह्मणः कथं नो मध्येऽदीक्षिष्टेति। -ऐ.ब्रा. 2.3.1.

2. ऐ.ब्रा. 2.4.1.

अगम्यागमन के विषय में विचार करना भी अपराध है

ऐतरेय ब्राह्मण में आग्निमारुत शस्त्र के प्रसंग में यह कहा गया है कि प्रजापति ने अपनी लड़की को देखकर भार्या के रूप में सोचा जिसे कुछ ऋषि द्युलोक का देवता कहते हैं और कुछ अन्य उषा का देवता कहते हैं। वे प्रजापति हरिण होकर रोहित (हिरनी या ऋतुमती) हुई (दुहिता) के पास गये। उस दुहितृगामी प्रजापति ने देवों को देखा और परस्पर कहा-"ओह, प्रजापति अकृत कर्म (निषिद्ध आचरण) करता है ऐसा विचार करके उन्होंने (ऐसे पुरुष को) खोजा जो इस प्रजापति को मारने में समर्थ होता। किन्तु अपने लोगों के बीच में इन्होंने किसी को भी प्राप्त नहीं किया। उनमें जो घोरतम (उग्र) शरीरांश था उसको उन्होंने एक जगह इकठ्ठा किया। वह सब एकीकृत होकर यह देव रुद्र उत्पन्न हुए। इस प्रकार इस वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि अगम्यागमन के विषय में विचार तक करना अपराध है, ऐसे व्यक्ति को दण्डित करना ही चाहिये, रुद्र ने ऐसे ही अपराधी किसी जन नेता को दण्डित किया है।[1]

आचार्य का अनुगमन शिष्य को करना चाहिये

समाज में आचार्य को श्रेष्ठ स्थान प्रदान किया गया है। ब्राह्मण ग्रन्थों में भी आचार्य का गौरव दिखलाया गया है। शिष्य के लिए आचार्य आदि गुरुजनों के अनुगमन का भी निर्देश किया गया है। ऐ..ब्रा. में इस सन्दर्भ में कहा गया है-"आचार्य आदि बड़ों का शिष्य अनुगमन करके परितः संचरण करते हैं अतः यहाँ भी शिष्य रूप होंता को अपोनप्त्रीय निगद बोलते हुए उन जलों के पीछे अनुगमन करना चाहये।"

गुरुद्रोह नहीं करना चाहिये

गुरुद्रोही शिष्य की ऐ..ब्रा. में निन्दा की गयी है और उसके कारण उसे

---

1. प्रजापतिर्वै स्वां दुहितरमभ्यध्यायत्, दिवमित्यन्य आहुः, उषसमित्यन्ये तामृश्यो भूत्वा रोहितं भूतामभ्यैत्, तं देवा अपश्यन्। अकृतं वै प्रजापतिः करोतीति ते तमैच्छन् य एनमारिष्यत्येतमन्योन्यस्मिन्नाविन्दन्, तेषां या एव घोरतमास्तन्व आसंस्ता एकधा समभरन् ताः संभृता एष देवोऽभवत् तदस्यैतद् भूतवन्नाम् -ऐ.ब्रा. 3.3.9.

महती हानि उठानी पड़ती है- (जैसे अभिषेक में शपथ दिलाकर गुरुद्रोह नहीं करना चाहिये वैसे ही ज्ञान में भी गुरुद्रोह नहीं करना चाहिये) (गुरु) वसिष्ठ सात्यहव्य ने उस (शिष्य अत्यराति) से कहा-"विद्या की सामर्थ से ही तुमने सभी दिशाओं में समुद्रतीरपर्यन्त समग्र पृथ्वी को जीता है। अब तुम मुझे ऐश्वर्यशाली बनाओ।" तब उन अत्यराति जानंतपि ने कहा-"हे ब्राह्मण, जब मैं उत्तरकुरु नामक (हिमालय पर्वत के उत्तर के) देश को जीत लूंगा; तब तुम्हीं पृथ्वी पर राजा हो जाना; और मैं तुम्हारा सेनापति ही बनकर रहूँगा।" उसके बाद उन सात्यहव्य वसिष्ठ ने कहा-"अरे, वे देवक्षेत्र हैं। उसे कोई मनुष्य नहीं जीत सकता। तुमने मुझसे द्रोह किया है (अर्थात् मुझे जो महत्त्व देना चाहिये था उसे न देकर मात्र धोखा देने के लिए जो कुछ भी कह दिया। अतः शपथ का उल्लंघन करने वाले गुरुद्रोही!) तुम्हारी इस (विद्या के सामर्थ्य) को तुमसे मैं छीन लेता हूँ। उस (सामर्थ्य के अपहरण) के बाद उपहतवीर्य वाले एवं निस्तेजस्क अत्यराति जानंतपि को शत्रु को पीड़ा देने वाले शुष्मिण नाम के शिवि देश के किसी राजा ने मार डाला।"[1]

राजनैतिक आचार

ब्राह्मण ग्रन्थों के अन्तर्गत राष्ट्र के सुचारु रूप से संचालन के लिये नीति को अनिवार्य रूप से महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किया गया था और राजनैतिक नियमों के क्रियान्वयन-हेतु ऐसे व्यक्ति को चुना जाता था जिसे 'राजा' 'एक सम्राट' आदि कहा जाता था। विभिन्न यज्ञों जैसे अश्वमेध, राजसूय, सर्वमेध, सोमयाग आदि यज्ञों से सम्बन्धित ऐसे मन्त्र भी मिलते हैं जिनका सम्बन्ध राजा से होता है। अपने राष्ट्र के प्रति श्रेष्ठ भावना रखने के कारण ऐ..ब्रा. में यह विधान भी कहा गया है कि ऐसा व्यक्ति ही राजा बनने का उचित पात्र है जो शक्तिसम्पन्न हो, इस तथ्य को ऐन्द्र-महाभिषेक के प्रसंग में बतलाया गया

---

1. स होवाच वासिष्ठः सात्यहव्योऽजैषीर्वै समन्तं सर्वतः पृथिवीं महन् मा गमयेति, स होवाचात्यरातिर्जानंतपिर्यदा ब्राह्मणोत्तरकुरूञ्जयेयमथ त्वमु हैव पृथिव्यै राजा स्याः, सेनापतिरेव तेऽहं स्यामिति; स होवाच वासिष्ठः सात्यहव्यो देवक्षेत्रं वै तन्न वैतन् मर्त्यो जेतुमर्हत्यद्रुक्षो वै म आऽत इदं दद इति ततो हात्यरातिं जानंतपिमात्तवीर्यं निःशुक्रममित्रपनः शुष्मिणः शैव्यो राजा जघान।। -ऐ.ब्रा. 8.4.9.

है-(अभिषेक के लिए देवों के मध्य विवाद होने पर) प्रजापति के सहित उन देवों ने कहा-"देवों के मध्य यह (पुरोवर्ती) इन्द्र अत्यन्त ओजस्वी (अर्थात् शरीर के आठवें धातु से युक्त)है, अत्यन्त शरीरिक बल से युक्त है। शत्रु की पराजय में समर्थ है अर्थात् अभिनव समर्थ और अपने भक्तों के लिये अत्यन्त साधु पुरुष है। आरम्भ किये हुए कार्य को अतिशय रूप से पार लगाने वाला है, इसलिये (इन्द्र) को हम लोग (राजसिंहासन पर) अभिषिक्त करें। इस पर अन्य सभी देवों ने कहा-"ऐसा ही हो।" और उसी समय उन इन्द्र को अभिषिक्त किया।"[1]

इस विवरण से हमें ऐसा ज्ञात होता है कि उस काल में भी यह धारणा विद्यमान थी कि शक्तिशाली को ही राजा बनाना चाहिये।

यहीं युद्ध में विजय प्राप्त करना राजा के कर्तव्य के रूप में परिलक्षित होता है और विजेता को सभी प्रकार के सुखों की प्राप्ति होती है, ऐसा दृष्टान्त भी मिलता है-"इस ऐन्द्र महाभिषेक में अभिषिक्त उन इन्द्र ने जीतने योग्य सभी लड़ाइयों को जीता और उस विजय से सभी लोकों को प्राप्त किया। सभी देवों की (जातितः) श्रेष्ठता के ऊपर पद को और गुणों में उत्कृष्टता के पद को प्राप्त किया। इस भूलोक में साम्राज्य को, भोग समृद्धि को, स्वराज्य को, वैराज्य (=प्रभुसत्ता) को, प्रजापति के लोक को, राज्य को, महान् ऐश्वर्य को और आधिपत्य को प्राप्त करके (वह इन्द्र) प्रजापति रूप, स्वतन्त्र राजा और (अन्य पुरुषों के समान अल्पकाल में) मरणरहित होकर उस (स्वर्ग) लोक में सभी कामनाओं को प्राप्त करके अमर हो गये।"[2] इस प्रकार यहाँ युद्ध में विजय प्राप्त करना राजा के उत्कृष्ट गुण के रूप में सूचित किया गया है।

एक स्थल पर प्रजाद्रोही राजा की निन्दा करते हुए कहा गया है"ऐ अभिषिच्यमान क्षत्रिय, जिस रात्रि को पैदा हुए, उससे लेकर जिस (रात्रि को)

---

1. ते देवा अब्रुवन् सप्रजापतिका, - अयं वै देवानामोजिष्ठो बलिष्टः सहिष्ठः सत्तमः पारयिष्णुतम इममेवाभिषिञ्चमहा इति, तथेति, तद्वै तदिन्द्रमेव।। -ऐ.ब्रा. 38.3.1.
2. स एतेन महाभिषेकेणाभिषिक्त इन्द्रः सर्वा जितीरजयत् सर्वांल्लोकानविन्दत् सर्वेषां देवानां श्रैष्ठ्यमतिष्ठां परमतामगच्छत् साम्राज्यं भौज्यं स्वाराज्यं वैराज्यं पारमेष्ठ्यं राज्यं माहाराज्यमाधिपत्यं जित्वाऽस्मिँल्लोके स्वयंभूः स्वराडमृतोऽमुस्मिन् स्वर्गेलोके सर्वान् कामानाप्त्वाऽमृतः समभवत, सम्भवत्।

तुम मरोगे उस समय तक जो कुछ तुमनें इस लोक में श्रौत एवं स्मार्त कर्म किया है तथा जो कुछ भी सुकृत(पुण्य) किया है या जो दीर्घायु तुमने प्राप्त की है अथवा जो पुत्र-पौत्रादि प्रजा प्राप्त की है उन सबको मैं छीन लूँगा। यदि तुमने मुझसे द्रोह किया।"[1] इस प्रकार की राजा की स्वीकारोक्ति के बाद ही राजा का अभिषेक करना चाहिये।

इसी में आगे राजा के वचनों को इस प्रकार कहा गया है-"जो क्षत्रिय इस प्रकार से (अभिषेक के माहात्म्य को) जानता हुआ यह चाहे कि मैं सभी राजाओं में श्रेष्ठता, उत्कृष्टता और बड़प्पन को प्राप्त करूँ, मैं साम्राज्य, भोगसमृद्धि, स्वराज्य, प्रभुसत्ता, प्रजापति के लोक की प्राप्ति, ऐश्वर्य, महान् ऐश्वर्य और आधिपत्य को प्राप्त करूँ। मैं सभी भूमि का स्वामी, पूर्ण आयुवाला, समुद्रतीरपर्यन्त एक छोर से दूसरे छोर तक पृथ्वी पर अन्तकाल तक एकछत्र शासक होऊँ तो उस क्षत्रिय को बिना शंका किये ही श्रद्धा के साथ बोलना चाहिये कि-हे आचार्य, जिस रात्रि को हमने जन्म लिया और जिस रात्रि को मैं मरूँगा उन दोनों के मध्य किये हुए श्रौत एवं स्मार्त कर्म, मेरे (पुण्य) अर्जित लोक, सुकृत, आयु और मेरी प्रजा को नष्ट कर देना यदि मैं तुमसे द्रोह करूं।"[2] यहाँ पर हमें राजा में किन-किन गुणों का होना अनिवार्य है, यह भी ज्ञात होता है।

राजा के गुणों के वर्णन के साथ यह भी ज्ञात होता है कि राष्ट्र के कल्याण के लिये राजा का होना भी आवश्यक है, राजा के अभाव में अराजकतापूर्ण स्थिति उत्पन्न हो जाती है। अतः राजा के अभाव को अहितकर बतलाते हुए देवताओं के प्रसंग में उत्पन्न होने वाली अराजकता को इस प्रकार प्रकट किया

---

1. यां च रात्रीमजायेथा यां च प्रेतासि तदुभयमन्तरेणेष्टापूर्तं ते लोकं सुकृतमायुः प्रजां वृञ्जीयं यदि मे द्रुह्येरेति।। -ऐ.ब्रा. 8.4.2.
2. स य इच्छेदेवंवित् क्षत्रियोऽहं सर्वां जितीर्जयेयमहं सर्वाल्लोकान् बिन्देयमहं सर्वेषां राज्ञां श्रैष्ठ्यमतिष्ठां परमतां गच्छेयं साम्राज्यं भौज्यं स्वाराज्यं वैराज्यं पारमेष्ठ्यं राज्यं माहाराज्यमाधिपत्यमहं समन्तपर्यायी स्यां सार्वभौमः सार्वायुष आऽन्तादा परार्धात् पृथिव्यै समुद्रपर्यन्ताया एकराडिति, स न विचिकित्सेत्, स ब्रूयात् सह श्रद्धया यां च रात्रीमजायेऽहं, यां च प्रेतास्मि, तदुभयभन्तरेणेष्टापूर्तं मे लोकं सुकृतमायुः प्रजां वृञ्जीथा यदि ते द्रुह्येयमिति।। -ऐ.ब्रा. 8.4.2.

गया है- "उन देवताओं ने (परस्पर) कहा- ऐसा ही हो।' उन्होंने सोम को अपना राजा बनाया और उन्होंने सोम राजा की सहायता से सभी दिशायें जीत लीं। इस प्रकार जो यजमान सोमयाग करता है, वहीं राजा सोम है।"[1]

राष्ट्रीय आचार विषयक तथ्यों के साथ-साथ अन्तर्राष्ट्रीय सन्दर्भ में भी नैतिक नियमों का प्रविधान मिलता है। एक स्थल पर-'सम्पूर्ण विश्व के साथ मित्रवत् व्यवहार करना चाहिये' एतद्विषयक वर्णन किया गया है-"वह सूक्त विश्वामित्र ऋषि द्वारा दृष्ट है।"[2] इसलिये जो इस प्रकार जानता है उसका सम्पूर्ण विश्व मित्र बन जाता है। और उनका भी मित्र बन जाता है जिनके लिए वह मैत्रावरुण इस प्रकार जानते हुए अपने राजकीय सूक्तों के पहले दिन-प्रतिदिन शंसन करता है।[3] इस प्रकार यहाँ विश्वामित्र को विश्व के मित्र के रूप में दर्शाया गया है।

उपासनासम्बन्धी आचार

हमारे जीवन में उपासना का महत्त्वपूर्ण स्थान है। हम अपने प्रत्येक कार्य की पूर्ति में ईश्वर की सहायता की अपेक्षा करते हैं और प्राप्त कार्य को ईश्वर की कृपा मानते हैं। वस्तुतः ईश्वर के प्रति सच्ची उपासना यही है कि हम प्राणिमात्र के प्रति सद्व्यवहार और श्रेष्ठ आचरण करें। ब्राह्मणग्रन्थों में प्रतिपादित समाज में भी अतिथि, पितर, माता, पिता, गुरुजन, राजा, प्रजा इत्यादि के प्रति श्रेष्ठ आचरण का विधान किया गया है क्योंकि श्रेष्ठ कर्मों का श्रेष्ठ आचरण के द्वारा सम्पादन करके ही ईश्वर को प्रसन्न किया जा सकता है।

बहुजन सुखाय की भावना

ब्राह्मण ग्रन्थों के अन्तर्गत मानव मनोविज्ञान को देवों पर आधारित किया

1. ते देवा अब्रुवन्नराजतया वै नो जयन्ति, राजानं करवामहा इति, तथेति, ते सोमं राजानमकुर्वंस्ते सोमेन राजा सर्वा दिशोऽजयन्नेष वै सोम राजायो यजते।
-ऐ.ब्रा. 1.3.3.
2. तदु वैश्वामित्रं विश्वस्य ह वै मित्रं विश्वामित्र आस।। -ऐ.ब्रा. 6.4.4.
3. विश्वं हास्मै मित्रं भवति य एवं वेद, येषां चैवं विद्वानेतेन मैत्रावरुणः पुरस्तात् सूक्तानामहरहः शंसति।। -ऐ.ब्रा. 6.4.4

गया है, ऐसा करने का उद्देश्य वास्तव में सबकी प्रसन्नता का विचार करना ही है। इस सन्दर्भ में ऐ.ब्रा. से उद्धृत अंश इस प्रकार है-"किसी यज्ञ में प्रजापति के स्वयं होता होकर प्रातरनुवाक बोलने के लिए उद्यत होने पर सभी देवताओं ने यह अपेक्षा की कि मुझे लक्ष्य करके देखेंगे, मुझे लक्ष्य करके प्रारम्भ करेंगे। सभी को आशान्वित देखकर प्रजापति ने विचार किया कि यदि अन्य मंत्र से प्रतिपादित एक देवता को लक्ष्य करके प्रारम्भ करूंगा तो अन्य देवता कुपित हो जायेंगे अतः मुझे किस प्रकार सब देवता प्राप्त होंगे। ऐसा विचार करके उन प्रजापति ने सभी देवों के सिध्यर्थ-"आपो रेवती"-आदि ऋचा का दर्शन किया। 'आप ही सब देव हैं और रेवती भी सब देव है।' उन्होंने ऐसी ऋचा के अनुसार प्रातरनुवाक का प्रतिपादन किया कि उससे सभी देवता यह सोचकर प्रसन्न हो गये कि मुझे लक्ष्य करके प्रारम्भ किया गया है, मुझे लक्ष्य करके प्रारम्भ किया गया है।"[1]

यज्ञ, श्रम और तपस्

ऐ.ब्रा. में वपा होम की प्रशंसा में एक आख्यायिका के माध्यम से यज्ञ, श्रम एवं तप की प्रतिष्ठा बतलायी गई है।[2] "प्राचीन काल में देवों ने ज्यातिष्टोमादि याग के द्वारा, तीर्थयात्रा आदि श्रम के द्वारा, कृच्छ्रचान्द्रायण आदि तप से और कूष्माण्ड, गण, होमादि से स्वर्गलोक को जीत लिया।"[3]

यज्ञ में मन्त्र का पूर्ण पठन करना चाहिये

याज्ञिक कृत्यों को सम्पादित करते समय मन्त्र का पूर्णतः पाठ करना

---

1. प्रजापतौ वै स्वयं होतरि प्रातरनुवाकमनुवक्ष्यति सर्वादेवता आशंसन्त मामभि प्रतिपत्यस्ति मामभीति स प्रजापतिरैक्षत यद्येकां देवतामादिष्टामभि प्रतिपत्स्यामीतरामेकेन देवता उपाप्ता भविष्यन्तीति स एतामृचमपश्यदापो रेवतीरित्यापो वै सर्वा देवता, रेवत्यः सर्वा देवताः, स एतयर्चा प्रातरनुवाकं प्रत्यपद्यत ताः सर्वा देवताः प्रमोदन्त मामभि प्रत्यपादि मामभीति ।। -ऐ.ब्रा. 2.2.6
2. देवा वै यज्ञेन श्रमेण तपसाऽऽहुतिभिः स्वर्गं लोकमजयँस्तेषाम -ऐ.ब्रा.
3. पुरा कदाचिद्देवा ज्योतिष्टोमादियागेन तीर्थयात्रादिभ्रमेण कृच्छचान्द्रायणादितपसा कूष्माण्डगणहोमादिगताभिराहुतिभिश्च स्वर्गं लोकमजयन् वशीकृतवन्तः -ऐ.ब्रा. सायणभाष्य - पृ. 261.

चाहिये, इसका महत्त्व प्रतिपादित करते हुए ऐतरेय ब्राह्मण में कहा गया है कि "जो जिस भाग का भागीदार होता है, उस भाग से उसको जो वंचित कर देता है वह स्वयं दंड का भागीदार होता है। वह दण्डित होता है यदि वह दण्डित नहीं होता है तो उसका पुत्र दण्डित किया जाता है। यदि उसका पुत्र दण्डित नहीं होता है तो पौत्र दण्डित होता है।"[1] अतः अपूर्ण मन्त्र के पाठ से मिलने वाले दण्ड से बचने के लिये पूर्ण मन्त्र का पाठ करना चाहिये।

तपस से प्रजापति द्वारा प्रजोत्पादन

द्वादशाह याग की प्रशंसा में ऐ.ब्रा. में कहा गया है कि "प्रजापति ने कामना की कि मैं प्रजोत्पादन द्वारा अति प्रभूत होऊँ। उन्होंने तप किया। उन्होंने तप करके इस द्वादशाह कर्म को अपने ही हस्त-पादादि अंगो में और प्राणवायु में देखा। उसे अपने अंगों से और प्राणों से निकालकर बारह भाग निर्मित किये। उसे प्राप्त किया और उसने यजन किया। तब वह प्रजापति हुए। इस प्रकार अपने ही रूपक से सर्वाधिक होकर प्रजाओं और पशुओं द्वारा उत्पन्न हुऐ।"[2] इस प्रकार तप के द्वारा प्रजा के उत्पादन की सामर्थ्य को बतलाया गया है।

जगती (छन्द) दीक्षा और तप लेकर आई

ऐ.ब्रा. में पक्षी होकर उड़े छन्दों के मध्य जगती छन्दस्क एक वृत्तान्त समाविष्ट किया गया है। इस वृत्तान्त का वैशिष्ट्य यह है कि जगती छन्द के अपने साथ 'दीक्षा' एवं 'तप' लेकर आने का वर्णन किया गया है जो इस प्रकार है-"पक्षी लेकर उड़े छन्द उन राजा सोम को लाने के लिए गये। वे चार अक्षरों के थे क्योंकि तब छन्द चार अक्षर के ही थे। तब वह चार अक्षरों की जगती (छन्दों में) सर्वप्रथम सोम स्थान के प्रति उड़ी। उड़ने के बाद वह आधे रास्ते जाकर थक गई और वह तीन अक्षरों को छोड़कर एकाक्षरा होकर दीक्षा

---

1. यो वै भागिनं भागान्नुदते चयते वैनं स यदि वैनं न चयतेऽथ पुत्रमथ पौत्रं चयते त्वैवैनमिति।। -ऐ.ब्रा. 2.1.7.
2. प्रजापतिरकामयत प्रजायेय भूयान् स्यामिति, स तपोऽतप्यत्, स तप्त्वा तपस्त्वेमं द्वादशाहमपश्यदात्मन एवाङ्गेषु च प्राणेषु च, तमात्मान एवाङ्गेभ्यश्च प्राणेभ्यश्च द्वादशधा निरमिमीत, तमाहरत् तेनायजत्, ततो वै सः।

व तप लेकर पुनः लौटी क्योंकि उसके द्वारा उसे दीक्षा प्राप्त हुई और तप प्राप्त हुआ। इसलिए जिसके पशु होते हैं वह दीक्षा और तप प्राप्त करता है क्योंकि पशु जगती से सम्बन्धित हैं और जगती ने ही उनका आहरण किया।"[1]

याज्ञिक दृष्टि से प्राणों का महत्त्व-प्रतिपादन

ऐ.ब्रा. में प्राणों के महत्त्व को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि "समिधा प्राण है क्योंकि जगत् में जो कुछ भी प्राणीजात हैं वह सभी प्राण से ही प्रकाशित होते हैं अतः उस याज्या पाठ से प्राणों को प्रसन्न करता है और यजमान से भी प्राणों का सम्पादन करता है।"[2]

प्राण ही तनूनपात् है क्योंकि वह तनू अर्थात शरीर की पाति अर्थात् रक्षा करता है अर्थात् शरीर में रहने से शरीर नष्ट नहीं होता अपितु प्राण ही शरीरों का संचालन करता है। अतः उस याज्या-पाठ से प्राण को ही प्रसन्न करता है और यजमान में भी प्राण को रखता है।[3]

एक अन्य स्थल पर प्राणों की समाप्ति न करने का निर्देश देते हुए कहा गया है कि "वह न तो अनुवषट्कार करता है और न सोम का भक्षण करता है, क्योंकि यह जो अनुवषट्कार है, वह समाप्ति का सूचक है और सोमपान भी उपसंहार है। प्राण आदित्य है अतः ऐसा करके हम प्राणों का उपसंहार न करें।"[4] इसी में आगे यह भी कहा गया है कि "प्राण सविता हैं अतः ऐसा करके हम प्राणों को समाप्त न करें।"[5]

अनुस्तरणी की व्याख्या

ऐ.ब्रा. की तृतीय पञ्चिका में अनुस्तरणी की अशुद्ध ढंग से की गई

---

1. त्रीण्यक्षराण्येकाक्षरा भूत्वा दीक्षां च तपश्च -ऐ.ब्रा. 3.3.1.
2. प्राणा वै समिधः, प्राणा हीदं सर्वं समिन्धते यदिदं किञ्च, प्राणानेव तत्प्रीणाति, प्राणान् यजमाने दधाति। -ऐ.ब्रा. 2.1.4.
3. तनूनपातं यजति प्राणो वै तनूनपात्स हि तन्वः पाति प्राणमेव तत्प्रीणाति, प्राणं यजमाने दधाति। -ऐ.ब्रा. 2.1.4.
4. प्राणा आदित्या, नेत् प्राणान् संस्थापयानीति -ऐ.ब्रा. 3.3.5.
5. प्राणः सविता, नेत् प्राणं संस्थापयानीति -ऐ.ब्रा. 3.3.5.

व्याख्या के सन्दर्भ में यह अंश भी द्रष्टव्य है-"वे इस होम का हनन करते हैं, जो इसका अभिषव करते हैं। उस मृत सोम के लिए यह अनुस्तरणीय अर्थात् वृद्ध गाय का यजन करते हैं, जो सोम के चरु के रूप में होता है जैसे दीक्षित यजमान के मरने पर उसको जलाते समय एक वृद्ध गाय का हनन करके उसके अवयवों को मृत देह पर वैतरणी नदी पार करने के लिए रखते हैं वैसे ही यहाँ भी अनुस्तरणी अर्थात् मृत यजमान के अनु अर्थात् पीछे हिंसित होने वाली करते हैं क्योंकि वृद्ध गाय का हनन पितरों के योग्य है अतः पितृ शब्द युक्त यजन करता है।"[1] यह व्याख्या पूर्वपक्ष भर है।

याज्ञिक कृत्यों का प्रयोजन शान्त्यादि है

ऐ.ब्रा. की अष्टम पञ्चिका के प्रथम अध्याय के चतुर्थ खण्ड में यह वर्णन है कि " (राजसूय यज्ञ के) होत्रकों (मैत्रावरुण, ब्राह्मणाच्छंसी और अच्छावाक्) की क्रियायें वही हैं जो एकाह यज्ञों में होती हैं (अर्थात् एकाह में प्रकृति रूप से विहित क्रियायें यहाँ क्षत्रिय के राजसूय यज्ञ में विकृति रूप से की जाती हैं।) ये होत्रकों की क्रियायें शान्त, क्रमबद्ध और प्रतिष्ठित हैं। ये जो एकाहिक कृत्य हैं वे शान्ति के लिये तथा क्रमबद्धता एवं प्रतिष्ठित होने के लिये एवं विनाश से बचने के लिये ही होते है।"[2]

---

1. घ्नन्ति वा एतत् सोमं यदभिषुण्वन्ति, तस्यैतामनुस्तरणीं कुर्वन्ति, यत्सौम्यः, पित्रियो वा अनुस्तरणीं, तस्मात् सौम्यस्य पितृमत्या यजति -ऐ.ब्रा. 3.3.8.
   (i) अनुस्तरणीङ्गामजां वैककर्णं कृष्णामेके सव्ये बाहौ बध्वानुसंकालयन्ति। अनुस्तरण्या वपामुत्खिद्य शिरो मुखं प्रच्छादयेदग्नेर्वर्म परि गोभिर्व्ययस्व - ऋ. 10.16.7. आश्वलायन गृह्यसूत्र - 4.2.3.
   (ii) अनुस्तरणी चेत् पश्चात् कर्णमाहत्य हस्तयोर्वृक्कौ। अङ्गेष्वङ्गा नीति जातूकर्णः। न वास्थिसन्देहात्। वपयामुखमवच्छाद्याग्निभिरादीपयन्ति -का.श्रौ.सू. - 25.7. 34-37.
   (iii) कर्णप्रदेशस्य पश्चाद्भागे 'आहननं' प्रहारं कृत्वा मारयित्वा तस्याः कुक्षिगोलकौ मृतस्य हस्तयोर्निधेयौ - इत्यादि च तद् व्याख्यानम् कर्काचार्यकृतम्।
   (iv) तस्मात् पुरुषाय पुरुषायानुस्तरणी क्रियते - षड्विंश ब्रा. 1.7.
2. शान्त्यै क्लृप्त्यै प्रतिष्ठित्या अप्रच्युत्यै, ताः सर्वरूपा भवन्ति सर्वसमृद्धाः, स्वरूपतायै सर्वसमृद्ध्यै, सर्वरूपाभिर्होत्राभिः, सर्वान् -ऐ.ब्रा. 8.1.4.

इसी में एक अन्य स्थल पर शान्ति की प्राप्ति हेतु "शं नः करत्यर्वत" इस ऋचाा के शंसन का निर्देश किया गया है क्योंकि "इस ऋचा में शान्तिवाचक 'शम्' शब्द होने से यह कल्याण करती है। सभी की स्वकीय वस्तु की शान्ति होती है। सभी की अर्थात् पुरुष, स्त्री और गौ जाति के लिये शान्ति प्रदान करने वाली है। नर ही पुमान् है। नारी ही स्त्रियाँ हैं इस प्रकार यह ऋचा सभी की शान्ति के लिये है।"[1]

आगे यह भी कहा गया है कि "जो ऋचा देवता का अभिधान न करने वाली है यद्यपि वह रुद्र देवता है किन्तु उग्र पद रुद्र का अभाव होने के कारण शान्तिकारक है। इसका शंसन करने वाला होता सम्पूर्ण आयु को प्राप्त करता है और यजमान को भी सम्पूर्ण आयु देने के लिये होता है।"[2] आग्निमारुत् शस्त्र के प्रतिपादन में भी यह विधान किया गया है कि "जो आग्निमारुत शस्त्र का शंसन करता है वह इन अशान्त अग्नि की ज्वालाओं को ही शान्त करता है, और श्वासोच्छ्वास का निरोध करके शंसन करते हुए वह प्राणों के द्वारा उस अग्नि का तरण कर लेता है अर्थात् अग्नि के उपद्रवों को शान्त कर देता है।"[3]

देवपत्नियों के लिये प्रथमतः शंसन करना चाहिये

ब्राह्मण ग्रन्थों में स्तुति से सम्बन्धित उद्धरणों की प्राप्ति विभिन्न प्रयोजनों से परिलक्षित है। अपने आराध्य के ध्यान के सम्बन्ध में ऐ.ब्रा. में एक स्थान पर यह भी निर्देश किया गया है कि "देवपत्नियों के लिये प्रथमतः शंसन करना चाहिये।"[4]

ऋत्विजों के अच्छे-बुरे पक्ष

ऐ.ब्रा. में इस तथ्य का भी प्रतिपादन किया गया है कि-अनजान ऋत्विज्

---

1. तदु खलु शं नः करतीत्येव शंसेच्छमिति प्रतिपद्यते सर्वस्मा एव शान्त्यै, 'नृभ्योनारिभ्यो गवे' इति, पुमांसो वै नरः, स्त्रियो नार्यः, सर्वस्मा एवं शान्त्यै। -ऐ.ब्रा. 3.3.10.
2. सोऽनिरुक्ता रौद्री शान्ता, सर्वायुः सर्वायुत्वाय।। -ऐ.ब्रा. 3.3.10.
3. अग्नीन् वा एषोऽर्चीष्यशान्तान् प्रसीदन्नेति य अग्निमारुतं शंसति। प्राणेनैव तदग्नींस्तरति। -ऐ.ब्रा. 3.3.11.
4. देवानामेव पत्नीः पूर्वाः शंसेत्। -ऐ.ब्रा. 3.3.13.

यजमान को किस प्रकार ठगते हैं? इन ऋत्विजों की ठगविद्या का वर्णन इस प्रकार मिलता है-"लेकिन, इस प्रकार (अभिषेक प्रकार को) न जानने वाले (ऋत्विज्) जिस (क्षत्रिय) के लिये यजन करते हैं, तो वे उस (क्षत्रिय) का अपकर्ष ही करते हैं। जिस प्रकार नीच जाति के ये निषाद, चोर और (हिंसा करने वाले शिकारी आदि)पापी पुरुष बहुत धन से युक्त पुरुष को अरण्य के मध्य पकड़कर (किसी अन्धे कुएँ आदि) गढ्ढे में फेंक कर उसके धन का अपहरण करके पलायित हो जाते है; उसी प्रकार ये अभिषेक के प्रकार से अनभिज्ञ ऋत्विज् यजमान को नरक रूप दु:अनुष्ठान में स्थापित करके दक्षिणारूपी उनके धन का अपहरण करके घर चले जाते हैं।"[1]

इसके विपरीत ब्राह्मण ग्रन्थों में ऐसे भी अच्छे जानकार ऋत्विजों का वर्णन मिलता है जो राजा की रक्षा भी करते थे-"उस (प्रयोग) के माहात्म्य के जानने वाले राजा परीक्षित के पुत्र जनमेजय ने (सभा के मध्य) इस प्रकार कहा- "इस प्रकार से (अभिषेक के प्रकार को) जानने वाले मुझको उस (अभिषेक के प्रकार के ज्ञाता) ऋत्विज् यजन कराते हैं तब मैं (अभिषेक के अन्त में) किये गये याग के द्वारा द्वन्द्व युद्ध में जीतता हूँ। युद्ध के लिये उद्यत शत्रुसेना को जीतता हूँ; युद्ध के लिए उद्यत सेना से जीतता हूँ। इस प्रकार से (अभिषिक्त) मुझको दैवी (दैव प्रेरित) बाण अथवा मनुष्य द्वारा चलाये गये बाण नहीं लग सकते। (अतः अकाल मृत्युरहित) मैं पूर्ण आयु को प्राप्त करूँगा। (चारों सागरों से परिवेष्टित) सभी भूमि का स्वामी होऊँगा।"[2]

जनमेजय के इस वाक्य से यह सुस्पष्ट है "कि इस प्रकार (के अभिषेक के प्रयोग को) जानने वाले ऋत्विज् जिस क्षत्रिय के लिये यजन करते है; उस

---

1. अथ ह तं व्येव कर्षन्ते, यहा ह वा इदं निषादा वा सेलगा वा पापकृतो वा वित्तवन्तं पुरुषमरण्ये गृहीत्वा कर्ममन्वस्य वित्तमादाय द्रवन्त्येवमेव त ऋत्विजो यजमानं कर्तमन्वस्य वित्तमादाय द्रवन्ति, यमनेवंविदो याजयन्ति।। -ऐ.ब्रा. 8.2.7.
2. एतद्ध स्म वै तद्विदानाह जनमेजयः पारिक्षितः, एवं विदं हि वै मामेवंविदो याजयन्ति; तस्मादहं जयाम्यभीत्वरीं सेनां जयाम्यभीत्वर्या सेनया न मा दिव्या न मानुष्य इषव ऋच्छत्येष्यामि सर्वमायुः सर्वभूमिर्भविष्यामीति।। -ऐ.ब्रा. 8.2.7.

यजमान को न दैवी बाण और न मायुषी बाण लगते हैं। अपितु वह पूर्ण आयु को प्राप्त होता है और सभी भूमि का अधिपति होता है।"[1]

हृदय में भावना रखकर ही धार्मिक कृत्य करने चाहिये

ऐ.ब्रा. में एक स्थान पर भावना रूप होम का उल्लेख करते हुए उसकी प्रशंसा में कहा गया है-"(भावनारूपी यज्ञ करने वाले) इस (पुरुष) का यह आदित्य ही द्युस्थानीय है, पृथ्वी वेदिस्थानीय औषधियाँ बर्हिस्थानीय, वनस्पतियाँ समिधास्थानीय भूमि में (विद्यमान) जल (सभी को संस्कृत करने वाली) प्रोक्षणी स्थानीय और प्राची आदि दिशायें परिधिस्थानीय है।[2] इसी में आगे भावना रूप यज्ञ करने वाले व्यक्ति की प्रशंसा करते हुए कहा गया है- "जो इस प्रकार जानते हुए (भावना से ही) अग्निहोत्र करता है, तो इस (पुरुष) की उस स्वर्गलोक में नष्ट हो गई वस्तु या जो भी (पुत्रादिक) मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं अथवा जो अन्य वस्तु भी चली जाती है। (यह सब उसके पास वैसे ही आ जाते हैं) जैसे यज्ञ में प्रदत्त वस्तु स्वर्ग में यजमान के पास आ ही जाती है।"[3]

हमें श्री की चिन्ता नहीं करनी चाहिये

ऐतरेयकार ने एक स्थल पर दशम अहः में प्रसंग में निर्देश किया है कि "हम श्री की निन्दा न करें क्योंकि(लोक में भी विद्या एवं ऐश्वर्य आदि से) समृद्ध व्यक्ति का आचरण निन्दनीय नहीं होता।"[4] (अथवा यहाँ पर दो वाक्य हैं एक तो 'दशमहरागच्छन्ति' तक तो दशम अहः का विधिवाक्य है और 'तस्माद' इत्यादि द्वितीय वाक्य अविवादित नियमविधि है अर्थात्

---

1. न ह वा एवं दिव्या न मानुष्य इषव ऋच्छन्त्येति सर्वमायुः, सर्वभूमिर्भवति यमेवंविदो याजयन्ति, याजयन्ति।। -ऐ.ब्रा. 8.2.7.
2. असौ वा अस्यादित्यो यूपः पृथिवी वेदिरोशधयो बर्हिर्वनस्पतय इध्मा, आपः प्रोक्षण्यो, दिशः परिधयः।। -ऐ.ब्रा. 5.5.3.
3. यद्धवा अस्य किंच नश्यति, यन्म्रियते, यदपाजन्ति, सर्वं हैवैनं तदमुष्मिँल्लोके यथा बर्हिषि दत्तयागच्छेदेवयागच्छति य एवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति।। -ऐ.ब्रा. 5.5.3.
4. 'We shall not bespeak (the goddess of) wealth- इति हागमहोदयः

दशम अहः में सन्देह आदि का निवारण संकेतोक्ति के द्वारा करना होता है।)[1]

देवताओं के गुणों का प्रतिपादन

देवताओं के सामान्य रूप से चार गुणों का प्रतिपादन ऐतरेयकार ने किया है।1 देवता सत्य से युक्त होते हैं।[2] 2. वे परोक्षप्रिय होते है।[3] 3. वे एक दूसरे के घर पर नहीं रहते हैं[4] और 4. और वे मर्त्यों को अमरता प्रदान करते हैं।[5]

यहाँ देवताओं के इन गुणों के द्वारा मानवीय आचार को स्थापित करने का प्रयत्न किया गया है। देवता सत्य से युक्त होते हैं ऐसा कहकर मनुष्य के लिए सत्य के पथ को प्रदर्शित किया गया है। देवताओं की परोक्षप्रियता को इस प्रकार समझा जा सकता हैं-वैश्वानर रूप सूर्य रसों का आहरण कब कर लेते हैं और इन्द्र मेघ आदि का संचरण कब और कैसे करते हैं कोई जान नहीं पाता। अतः मानवमात्र को यह सन्देश देने की कोशिश की गई है कि उन्हें कार्यक्रमों को क्रियान्वित ही कर देना चाहिये, उन्हें उनका कीर्तन नहीं करना चाहिये। देवता दूसरों के घर पर निवास नहीं करते, 'एक ऋतु अन्य ऋतु के समय नहीं होती।'[6] सूर्य का वास द्युलोक में है और चन्द्र का वास अन्तरिक्ष में। इसके अतिरिक्त ग्रह, उपग्रह, पृथिवी और नक्षत्र आदि कभी भी अपनी कक्षा को छोड़कर नहीं चलते। इसके माध्यम से मनुष्य को भी अपनी सीमा का उल्लंघन न करने की प्रेरणा प्रदान की गई है।

इसी प्रकार ऐतरेय ब्रा. में संकलित 'हरिश्चन्द्रोपाख्यान'[7] भी आचार की दृष्टि से अतिमहत्त्वपूर्ण है जो इस प्रकार हैं- इक्ष्वाकुवंशज राजा हरिश्चन्द्र पुत्ररहित थे। वरुण की उपासना और उनकी प्रसन्नता तथा इस शर्त पर राजा

1. मा श्रियोऽववादिष्मेति दुरवददं हि श्रेयसः।। -ऐ.ब्रा. 5.4.3.
2. सत्यसंहिता वै देवाः, अनृतसंहिता मनुष्याः। -ऐ.ब्रा. 1.1.6.
3. परोक्षप्रिया इव हि देवाः -ऐ.ब्रा. 3.3.9.
4. न वै देवा अन्योऽन्यस्य गृहे वसन्ति -ऐ.ब्रा. 5.2.4.
5. मर्त्यान्सतोऽमर्त्यान् कृत्वा .... - ऐ.ब्रा. 6.3.4.
6. नतुर्ऋतोगृहे वसति -ऐ.ब्रा. 5.2.4.
7. ऐ.ब्रा. अध्याय सं. 33.

को रोहित नामक पुत्र की प्राप्ति हुई कि वे उसे वरुण को समर्पित कर देंगे। बाद में वे उसे समर्पित करने से टालते रहे, जिसके फलस्वरूप वरूण के कोप से रोगग्रस्त हो गये। अन्त में राजा में अजीगर्त ऋषि के पुत्र शुनः शेप को खरीदकर उसकी बलि देने की व्यवस्था थी। इस यज्ञ में विश्वामित्र, वसिष्ठ और जमदग्नि ऋत्विक् थे। शुनः शेप की बलि के लिए इनमें से किसी के भी तैयार न होने पर अन्त में अजीगर्त ही लोभवश तैयार हो गये। बाद में विभिन्न देवों की स्तुति से शुनः शेप बन्धनमुक्त हो गये। लोभी पिता का उसने परित्याग कर दिया और विश्वामित्र ने उन्हें पुत्र को स्वीकार कर लिया। इस आख्यायिका में, वैदिक मन्त्रों की शक्ति और सामर्थ्य का अर्थवाद के रूप में प्रतिपादन किया गया है जिनकी सहायता से व्यक्ति वध एवं बन्धन से भी छूट जाता है। धार्मिक कृत्यों में नरबलि की निन्दा की गई है। मानव हृदय के ज्ञानी होने पर (ऋषि अजीगर्त) भी लोभमयी प्रवृति का निदर्शन किया गया है, राजा के द्वारा निजी स्वार्थ के लिए प्रजा का प्रलोभनात्मक उत्पीड़न दिखलाया गया है। सम्भवतः इन प्रवृत्तियों के निराकरण के लिए राज्याभिषेक के समय वह आख्यान राजा को सुनाया जाता है।

शांखायन ब्राह्मण में पुरुष के शतायुष्य, उत्सवमयता और शताधिक पराक्रमों और ऐन्द्रिक सामर्थ्य की आकांक्षा व्यक्त की गई है।[1] मानव जीवन चतुष्टयात्मक है। भाष्यकार विनायक के हस्तलेख के अनुसार 'चतुष्टय' शब्द धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को लक्षित करता है। ऋग्वेदीय ब्राह्मण ग्रन्थों में आचार-व्यवहार की दृष्टि से उपयोगी सामग्री तो पुष्कल परिमाण में मिलती ही है, आचरण के उन्नत जीवन की कामना भी दिखलायी जाती है-"हे यूप, रथारोहणपूर्वक जीवन के लिए अथवा आचारयुक्त जीवन के लिए हमें उन्नत करो"[2] ऐतरेय ब्राह्मण ने भी इसका तात्पर्य स्पष्ट करते हुए कहा है कि आचरणयुक्त जीवन के लिए हमें उन्नत करो।

---

1. शतायुर्वै पुरुषः - शा.ब्रा. 17.7.
   शतायुर्वै पुरुषः शतपर्वा शतवीर्यः शतेन्द्रियः - शा.ब्रा. 18.10.
2. कृधी न ऊर्ध्वाञ्चरथाय जीवसे इति यदाहकृधीन ऊर्ध्वा चरणाय जीवसे इत्येव तदाह।
   -ऐ.ब्रा. 2.1.2.

सप्तम अध्याय

यजुर्वेदीय शतपथ और तैत्तिरीय ब्राह्मणों में निरूपित आचार-तत्त्व

शुक्ल यजुर्वेदीय ब्राह्मण : माध्यन्दिन एवं काण्वशाखा

शतपथ ब्राह्मण

समस्त ब्राह्मण ग्रन्थों में शतपथ ब्राह्मण सर्वाधिक विशाल है। यह शुक्ल यजुर्वेद की दोनों शाखाओं माध्यन्दिन शाखा और काण्वशाखा में उपलब्ध है। गणरत्न महोदधि पुस्तक के अनुसार इस ब्राह्मण का नामकरण उसमें विद्यमान सौ अध्यायों के आधार पर हुआ है।[1] श्रीधर शास्त्री वारे का भी यही विचार है।[2] कुछ अन्य विद्वानों का भी मत है कि शुक्ल यजुर्वेद की वाजसनेयि संहिता से सम्बद्ध कोई 'शतपथी' शाखा रही होगी जिसके आधार पर इस ब्राह्मण का नामकरण हुआ। यह मत असम एवं उड़ीसा के कुछ क्षेत्रों में प्राप्त 'सत्पथी' के आस्पद पर आधारित है। विद्वानों के मध्य यह मत अधिक समादृत नहीं है क्योंकि शाखाओं से प्राप्त सामग्री में 'शतपथ' या 'शतपथी' नाम की किसी शाखा का कोई उल्लेख नहीं प्राप्त होता है। अतः सौ अध्यायों वाला विचार ही अधिक तर्कसंगत प्रतीत होता है।

शतपथ ब्राह्मण में विविध प्रकार के यज्ञों के विधि-विधान का अत्यन्त सांगोपांग विवरण प्राप्त होता है। पाश्चात्य विद्वान मैक्डॉनल ने इसी कारण इसे

1. शतं पन्थानो यत्र शतपथः तत्तुल्यग्रन्थः - गणरत्नमहोदधि-पृ. 117 (इटावा संस्करण)
2. शतं पन्थानो मार्गा नामाध्याया यस्य तच्छतपथम्। - शतपथब्राह्मण (वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई) के उपोद्घात से.

वैदिक वाङ्मय में ऋग्वेद तथा अथर्ववेद के अनन्तर सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ बतलाया है।[1] इस ब्राह्मण का प्रमुख वैशिष्ट्य यह है कि इसमें यज्ञों का स्वरूप निरूपण आध्यात्मिक दृष्टि से किया गया है। शतपथ ब्राह्मणकार की दृष्टि में श्रौत याग एक प्रतीकात्मक व्यापार है। इसलिये इन्होंने अन्तर्याग और बहिर्याग में पूर्ण सामंजस्य तथा आनुरूप्य पर बल दिया है। प्रो. लुई रेनू ने भी इस ओर संकेत किया है।[2]

शतपथ ब्राह्मण के अन्त में उल्लेख मिलता है-'आदित्यानीगानि शुक्लानि यजूंषि वाजसनेयेन याज्ञवल्क्येनाख्यायन्ते' अतः परम्परया वाजसनेय याज्ञवल्क्य को शतपथ ब्राह्मण का रचयिता माना गया है। महाभारत और पुराणों में भी उनके विषय में प्राप्य विवरण के अनुसार याज्ञवल्क्य का आश्रम सौराष्ट्र क्षेत्र के आनर्त भाग में कहीं था,[3] ऐसा ज्ञात होता है। श्रीधर शर्मा वारे के अनुसार उनका जन्म श्रावण शुक्ल चतुर्दशी विद्धा पूर्णिमा को हुआ था।[4] वायुपुराण,[5] ब्रह्माण्डपुराण[6] तथा विष्णुपुराण[7] में उनके पिता का नाम ब्रह्मरात बतलाया गया है। भागवत में इन्हें देवरात का पुत्र कहा गया है।[8] अनुश्रुति के अनुसार इनके गुरु 'वैशम्पायन' थे और इनसे बाद में इनका मतभेद हो गया था। तदनन्तर इन्होंने सूर्योपासना करके समग्र वेदों का ज्ञान प्राप्त किया। जनक ने उनकी इसी प्रसिद्धि के कारण उन्हें अपने यहाँ आमन्त्रित किया।[9] वे वाजसनि कहलाते थे।[10]

---

1. ए.ए. मैक्डॉनल - इण्डियाज पास्ट, पृ. 46
2. लुइस रेनू, वैदिक इण्डिया, पृ. 27.
3. स्कन्दपुराण - 6.129.1-2.
4. माध्यन्दिन शतपथब्राह्मण, उपोद्घात, पृ. 26, मुम्बई.
5. वायुपुराण - 61.21.
6. ब्रह्माण्डपुराण - पूर्व भाग - 35.24.
7. विष्णुपुराण - 3.5.3.
8. भागवत - 12.6.4
9. स्कन्दपुराण - 6.129.137.
10. वाज इत्यन्नस्य नामधेयम् अन्नं वै वाज इति श्रुतेः। वाजस्य सनिर्दानं यस्य महर्षेरस्ति सोऽयं वाजसनिस्तस्य पुत्रो वाजसनेय इति तस्य याज्ञवल्क्य नामधेयम। - काण्वसंहिता, भाष्योपक्रमणिका

स्वयं शतपथ ब्राह्मण ने याज्ञवल्क्य को वाजसनेय बतलाया है।[1] इसलिये इसी नाम को अन्तिम रूप से स्वीकार करना उचित है।

मैक्डॉनेल ने ब्राह्मण काल को 800 ई. पू. से 500 ई. पू. तक माना है, लेकिन प्रो. सी.वी. वैद्य और दफ्तरी का मत अधिक ग्राह्य प्रतीत होता है जिसमें उन्होंने शतपथ ब्राह्मण का रचनाकाल न्यूनतम ई.पू. चौबीसवीं शताब्दी स्वीकार किया है।[2] इनके अनुसार शतपथ ब्राह्मण की रचना महाभारत के युद्ध (ई.पू. 3102) के अनन्तर हुई। प्रो. विन्टरनित्स भी उपर्युक्त तिथि से सहमत प्रतीत होते हैं।[3] प्रो. कीथ ने भी शतपथ को अपेक्षाकृत अधिक प्राचीन ब्राह्मण माना है। शंकर बालकृष्ण दीक्षित के अनुसार यह ई.पू. 3000 के ही आसपास का है।

कृष्ण यजुर्वेदीय ब्राह्मण

तैत्तिरीय ब्राह्मण

कृष्ण यजुर्वेद का एकमात्र यही ब्राह्मण सम्पूर्ण रूप में उपलब्ध है। 'काठक ब्राह्मण' के केवल कुछ अंश ही प्राप्त हैं। सम्पूर्ण तैत्तिरीय ब्राह्मण में कुल तीन काण्ड अथवा अष्टक हैं। प्रारम्भिक दो काण्डों में आठ-आठ अध्याय अथवा प्रपाठक हैं लेकिन तृतीय काण्ड में द्वादश अध्याय या प्रपाठक हैं। एक अवान्तर विभाजन अनुवाकों का भी है जिनकी संख्या 553 है। पारम्परिक दृष्टि से तैत्तिरीय ब्राह्मण के प्रवक्ता के रूप में वैशम्पायन के शिष्य तित्तिरि की प्रसिद्धि है जैसा कि नाम से ज्ञात होता है। इसमें समाविष्ट काठक भाग (3. 10-12) के प्रवचन का श्रेय भट्टभास्कर के अनुसार काठक को है। सुप्रसिद्ध भाष्यकार सायणाचार्य की भी अपनी यही शाखा है और इसी कारण ब्राह्मण ग्रन्थों में सर्वप्रथम इसी पर उन्होंने अपना भाष्य रचा।

यजुर्वेद की कृष्ण एवं शुक्ल दोनों शाखाओं के ब्राह्मण ग्रन्थों में हमें

---

1. मा.श.ब्रा. - 14.9.4.33.
2. सी.वी.वैद्य, हि.सं.लि., खण्ड 2, पृ. 15
3. विण्टरनित्स, हि, ह. लि., भाग 1, पृ. 473-74.

वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक, धार्मिक एवं राजनैतिक जीवन से सम्बन्धित आचारपरक तथ्य विस्तृत रूप में दिखाई देते हैं, जो क्रमशः इस प्रकार हैं-

सत्य एवं ऋत

शतपथ ब्राह्मण में सत्य का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए अनृत-भाषी को अमेध्य कहा गया है।[1] जल के उपस्पर्श का विधान भी अमेध्यता के निराकरण-हेतु किया गया है।[2] व्रत के लिये पवित्रता को आवश्यक माना गया है और यह पवित्रता हमें जल के द्वारा ही प्राप्त होती है।[3] यहीं पर देवत्व के कारण को सत्य व्यवहार के द्वारा निरूपित किया गया है।[4]

सत्यं देवा-अनृतं मनुष्याः

सत्य ही चक्षु है; सत्य निश्चय ही चक्षु है, इसलिये लोग जब विवाद करते हैं तो उनमें से जो कहता है कि 'मैंने देखा'-उसी के प्रति श्रद्धा की जाती है।[5]

ऋत एवं सत्य दोनों के विषय में एक स्थान पर कहा गया है-"यह अग्नि ऋत है। यह आदित्य सत्य है। या आदित्य ऋत है, अग्नि सत्य है। परन्तु यह अग्नि दोनों है, ऋत भी सत्य भी। इसीलिए कहा गया है कि ऋत सत्य है अमृत सत्य है"[6] -

ऋत ॶ सत्यमृत ॶ सत्यम् । (यजुर्वेद 11.46)

---

1. अमेध्यो वै पुरुषो यदनृतं वदति - श.ब्रा. 1.1.1.1.
2. श.ब्रा. 1.1.
3. मेध्यो भूत्वा व्रतम् उपायानीति पवित्रमापः पवित्रपूतो व्रतमुपायानीति - श.ब्रा. 1.1.
4. इदमहनृतात्सत्यमुपैमि इति तन्मनुष्येभ्यो देवानुपावर्तते स यावदस्य वशः स्यात् तावत् सत्यमेव विवदिषेत. . एकं देवा व्रतं यत्सत्यं तस्माद् यशो ह भवति, य एवं विद्वान्सत्यं वदति -श. ब्रा. 1.1.5.
5. सत्यं वै चक्षुः सत्यं हि वै चक्षुः -श.ब्रा. 1.3.2.27.
6. ऋत ॶ सत्यमृत ॶ सत्यमित्ययं वाऽग्निर्ऋतमसावादित्यः सत्यं यदिवाऽसावृतमय ॶ सत्यमुभयम्वदे-दयमग्निस्तस्मादाऽहतं ॶ सत्यमिति तदेनमजेन स्भरति।। - श.ब्रा. 6.4.4.10.

तैत्तिरीय ब्राह्मण में भी 'ऋत' और 'सत्य' को एक ही माना गया है।[1]

सत्य वह है, जो नेत्रों से देखकर बोला जाये, क्योंकि वाणी झूठ बोल जाती है और मन मिथ्या का ध्यान करने लगता है इसलिये चक्षु ही विश्वसनीय है। व्यक्ति को निरन्तर असत्य से सत्य की ओर बढ़ने का प्रयत्न करना चाहिये क्योंकि वह मनुष्यत्व से देवत्व की ओर अग्रसर होने का द्योतक है।[2] बृहस्पति ने सच्ची वाणी के बल पर ही आजिधावन की प्रतियोगिता जीती थी-ऐसा कहकर शतपथ ब्राह्मण में सत्य का महत्त्व प्रदर्शित किया गया है।

सृष्टि की सुरक्षा प्राकृतिक नियमों की संरक्षा पर निर्भर है। इन्हें ही 'ऋत' कहा गया है, जिसका अतिक्रमण कोई भी वस्तु नहीं कर सकती है। भूमि और समुद्र सभी उस पर ही अवलम्बित हैं।[3]

'अतिथि देवो भव' की भावना

शतपथ ब्राह्मण में यह भी बतलाया गया है कि अतिथियों के भोजन करने से पूर्व भोजन नहीं करना चाहिये-"यह तो सर्वथा अनुचित है कि आगंतुकों से पहले घर वाला स्वयं खा ले, और वह तो और भी अनुचित है कि देवों को खिलाने से पहले खा ले।"[4] तैत्तिरीय ब्राह्मण में भी कहा गया है कि गृहागत अतिथियों को अन्न-परिवेषण से तृप्त करना चाहिये।[5]

सदाचरण एवं कर्म

प्रत्येक मनुष्य जिस प्रकार की मन में इच्छा रखता है उसी के अनुरूप

---

1. (i) तदृतं तत्सत्यम् - तै.ब्रा. 11.5.5.4.
   (ii) ऋतं सत्येऽधायि सत्यमृतेऽधायि - तै.ब्रा. 3.7.7.4.
2. अनृतात सत्यमुपैमि। मानुषाददैव्यमुपैमि। दैवीवाचं यच्छामि - तै.ब्रा. 1.2.1.
3. ऋतमेव परमेष्ठिं। ऋतं नात्येति किञ्चन। ऋते समुद्र आहितः। ऋते भूमिरियं श्रिता। - तै.ब्रा. 1.5.5.1.
4. मनुष्यान्वसतोऽत्यश्नादनव क्लृप्तमिदु तदसद्यो देवान्वसतोऽत्यश्नात् तस्मान्नाश्नीयात् - श. ब्रा. 1.1.8.
5. सायं यावानश्च वै देवाः प्रातर्यावाणश्चाग्निहोत्रिणो गृहमागच्छन्ति, तान्यन्नेन तर्पयेत् - तै.ब्रा. 1.5.3.3.

आचरण करता है और तदनुसार ही कर्म सम्पादित करता है, इसका भी निर्देश किया गया है कि "यह पुरुष जैसी इच्छा करता है, वैसा ही आचरण करता है वैसा ही कर्म करता है, जैसा कर्म करता है वैसी गति को प्राप्त होता है।"[1]

मौन

अंग्रेजी में एक कहावत है 'Speak is Silver but Silence is God' हमें यह भी ज्ञात है कि विभिन्न प्रकार के विघ्नों से रक्षा करने में मौन का महत्त्व अपरिहार्य है। यहाँ पर इसका महत्त्व बतलाते हुए शतपथ ब्राह्मणकार का वचन है-"मौन धारण करने से यज्ञानुष्ठान अविक्षोभपूर्वक सम्पन्न होता है।"[2]

अभिमान की निन्दा

शतपथ ब्राह्मण में अभिमान से दूर रहने का निर्देश किया गया है क्योंकि अभिमान की भावना मनुष्य की प्रगति में बाधक है, "देव और असुर दोनों प्रजापति की सन्तान लड़ पड़े। असुरों ने अभिमान से सोचा हम किसमें आहुति दें। वे अपने मुँह में आहुति देने लगे। वे अभिमान के कारण ही पराजित हो गये। इसलिये अभिमान नहीं करना चाहिये। यह अभिमान तो पराजय का मुख (कारण) है।"[3]

सहयोग की भावना

शतपथ ब्राह्मण में कार्य के सम्पादन में परस्पर सहयोग की भावना का महत्त्व भी स्वीकार किया गया और ऐसी भावना को श्रेष्ठ माना गया है-"दो लोगों का मिलकर कार्य करना अच्छा होता है।"[4]

---

1. काममयऽएवायं पुरुषऽइति स यथाकामो भवति तथा क्रतुर्भवति यथाक्रतुर्भवति तत्कर्मकुरुते यत्कर्म कुरुते तदभिसम्पद्यते - श.ब्रा. 14.7.2.7.
2. वाचं यच्छति कम्वै यज्ञोऽविक्षुब्धो यज्ञं तथया इति -श.ब्रा. 1.2.1.
3. देवाश्च वाऽअसुराश्च। उभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे ततोऽसुरा अतिमानेनैव कस्मिन्नु वयं जुहुयामेति स्वेष्वेवास्येषु जहवतश्चेरुस्तेऽतिमानेनैव पराबभुवुस्तस्मान्नातिमन्येत पराभवस्य हैतन्मुखं यदतिमानः।। -श.ब्रा. 5.1.1.1.
4. यदा हि द्वितीयमुपयुतेऽथ वीर्यवत्तरं भवति -श.ब्रा. 1.1.22.

पुरुषार्थ

मनुष्य को कर्म करने के लिये सदा तत्पर रहना चाहिये अतः कर्म की प्रशंसा करते हुए मनुष्य को स्वयं कर्म करने की प्रेरणा देते हुए कहा गया है कि "(जिस प्रकार) बिना पढ़ा हुआ वेद फल नहीं देता, (उसी प्रकार) दूसरे के द्वारा किया हुआ या बिना किया हुआ काम फल नहीं देता।"[1] अतः मनुष्य को स्वयं कर्मों का सम्पादन करना चाहिये।

दमन, दान और दया का उपदेश

शतपथ ब्राह्मण के अष्टम अध्याय में दमन, दान और दया का प्रतिपादन किया गया है-"प्रजापति की तीन सन्तान देव, मनुष्य और असुर पिता प्रजापति की सेवा में ब्रह्मचर्य व्रत पालनार्थ उपस्थित हुए। ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करने के बाद देव बोले, 'हमको उपदेश दीजिये'। उसने उनको एक अक्षर कह दिया 'द' और पूछा 'क्या तुम समझ गये?' 'हाँ समझ गये'-कहकर देवों ने कहा कि आपने कहा है कि 'आत्म दमन करो।' प्रजापति ने कहा-"ठीक समझे, तुम ठीक समझे।"

अब मनुष्यों ने उनसे कहा, 'आप हमको उपदेश कीजिये।' प्रजापति ने उनको भी एक अक्षर 'द' कहा और पूछा, 'क्या तुम समझ गये?' उन्होंने कहा- 'हाँ हम समझ गये। आपका उपदेश है कि दान करो।' प्रजापति ने कहा, "हाँ ठीक समझे।"

अब असुरों ने उससे कहा, 'आप हमको उपदेश दीजिये।' प्रजापति ने उनको भी केवल एक 'द' अक्षर कहकर पूछा,-'क्या तुम समझ गये?' उन्होंने उत्तर दिया, 'हाँ हम समझ गये। आपने कहा है कि दया करो।' प्रजापति ने कहा-'हाँ, ठीक समझे।'

यही दैवी वाणी बादल की गर्ज में भी 'द', 'द', 'द' करके गरजती है अर्थात् आत्मदमन करो, दान करो, दया करो। इस तीन अक्षर वाली शिक्षा को मानना चाहिये-दान, दमन और दया।[2]

1. सऽएनमविदितो न भुनक्ति यथा वाननूक्तोऽन्यद्वा कर्माकृतम् - श.ब्रा. 14.4.2.6.
2. दाम्यत दत्त दयध्वमिति तदेतत्त्रय ७ɜ शिक्षेहमं दानं दयामिति -श.ब्रा. 14.8.2.1-4.

स्वस्ति

शतपथ ब्राह्मण में कल्याण की भावना रखकर एक अंश में भूमि पर शयन करने का विधान किया गया है क्योंकि "कल्याण के लिये सेवा नीचे ही होती है।"[1]

पाप-निन्दा एवं पुण्य कर्मों की प्रशंसा

हमें अपने मन को पाप-कृत्यों से दूर रखना चाहिये, शतपथ ब्राह्मणकार का इस सम्बन्ध में कथन है "जैसे सब घास में से तिनके को हटा लेते हैं वैसे ही मन को पापों से हटा लेना चाहिये।"[2]

इसी में एक अन्य स्थल पर सुरा को पाप के तुल्य कहा गया है-"सोम तो सत्य, श्री और ज्योति है किन्तु (सुरा) अन्धकार है, सुरा (शराब) बुरी वस्तु है-अनृत है, पाप है।"[3]

पाप कर्मों से दूर रहकर हमें पुण्यकर्म करने हेतु प्रयत्नशील रहना चाहिये। 'पुण्य' के विषय में शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है-"जारतकारत्व आर्तभाग के प्रश्न के उत्तर में याज्ञवल्क्य ने कहा कि सर्वोपरि वस्तु है पुण्यकर्म-पुण्यकर्म से ही मनुष्य पुण्यात्मा होता है, पापकर्म से पापी।"[4]

पारिवारिक एवं सामाजिक आचार

मानव के वैयक्तिक जीवन के आचार-व्यवहार का महत्त्व पारिवारिक जीवन के साथ-साथ सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक पक्षों में भी प्रतिबिम्बित होता है। मनुष्यों का परिवार में रहना मानव के साथ रहने की प्रवृत्ति का संकेत करती है। एक मनुष्य का नैतिक विकास परिवार के गुणों के अनुरूप ही होता है। परिवार में रहकर ही वह सामाजिक जीवन में श्रेष्ठ-आचार और व्यवहार

---

1. सोऽधः शयीत अधरतादिव हि श्रेयस उपचारः - श.ब्रा.1.1.11.
2. तद्यथेषीकां मुञ्जाद् विवृहेद् एवमेनं सर्वस्मात् पाप्मनो विवृहतः -श.ब्रा. 5.1.2.18.
3. यत्सोमश्च सुरा च तत् सत्यं श्रीर्ज्योतिः सोमः। अनृतं पाप्मा तमः सुरा -श.ब्रा. 5.1.2. 10
4. कर्म ह एवं तत्प्रशशंसतुः। पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भर्वात पापः पापेन -श.ब्रा.14.6.2. 14.

की दिशा में प्रेरित होता है। इस प्रकार यह माना जा सकता है कि समाज में सदाचारी एवम् अनाचारी व्यक्तियों को लाने में पारिवारिक आचार-विचार की भूमिका परिलक्षित होती है। इसी प्रकार परिवार के साथ-साथ सामाजिक मान्यताएँ, परम्पराएँ एवं जन-आस्था एवं विश्वास भी सुदृढ़ राष्ट्र का निर्माण करते हैं। समाज का भी राष्ट्र के भावी नागरिकों में कर्तव्य एवं अधिकार की भावना का संचार करने में अतिमहत्त्व है जो राष्ट्र की उन्नति में सहायता प्रदान करते हैं।

माता-पिता एवं पुत्र विषयक आचार

यजुर्वेदीय ब्राह्मण ग्रन्थों में माता-पिता, पुत्र आदि के विषय में जानकारी सन्निहित है। शतपथ ब्राह्मण में माता के गौरवमयी स्वरूप की चर्चा करते हुए पुत्र को अपनी माता के प्रति कर्तव्य स्मरण कराते हुए कहा गया है कि "कोई माता अपने पुत्र को हानि नहीं पहुँचाती और न ही किसी पुत्र को ही माता को हानि पहुँचानी चाहिये।"[1] इसी में एक अन्य स्थल पर पिता-पुत्र के परस्पर सम्बन्धों के विषय में कहा गया है कि वृद्धावस्था में पिता पुत्रों के सहारे रहता था किन्तु पुत्र पूर्वावस्था में पिता के सहारे रहता था।[2] तत्कालीन समाज में पुत्र की महत्त्वपूर्ण स्थिति थी ऐसा सम्भवतः दो कारणों से रहा होगा, सामाजिक एवं आर्थिक कारणों के कारण ही उसे यह विशिष्ट स्थिति प्रदान की गई प्रतीत होती है। शतपथ ब्राह्मण में 'वीर' शब्द का प्रयोग 'पुत्र' के पर्याय के रूप में हुआ है।[3] तैत्तिरीय ब्राह्मण में भी पुत्र को हृदय कहा गया है।[4] क्योंकि वह परिवार में सब का प्रिय होता था।

पुरुष स्त्री के बिना अपूर्ण है

शतपथ ब्राह्मण में एक स्थान पर विधान किया गया है कि "वाजपेय

---

1. नहि माता पुत्रं हिनस्ति न पुत्रो मातरम् - श.ब्रा. 5.2.1.19.
2. पूर्ववयसे पुत्राः पितरमुप जीवन्ति ..उत्तरवयसं पुत्रान्पितोप जीवति।-श.ब्रा. 12.2.3.4.
3. पुत्रो वै वीरः -श.ब्रा. 3.3.1.12.
4. पुत्रो हि हृदयम् तै.ब्रा. 2.2.7.4.

योग में सीढ़ी पर चढ़ते समय पुरुष अपनी पत्नी को बुलाता है।" इसके माध्यम से कहा गया है कि पति-पत्नी को साथ लेकर ही पूर्णता को प्राप्त करता था।[1]

स्नुषा की आदर-भावना

तैत्तिरीय ब्राह्मण में स्नुषा के विषय में वर्णन मिलता है कि "परिवार में एक साथ रहते हुए अपने श्वशुर से पर्दा करती थी। यदि श्वशुर सामने दिखाई पड़ जाते थे तो वह अपने को छिपा लेती थी।"[2] इस प्रकार श्वशुर से उसकी पुत्रवधू का लजाना उनके प्रति उसके आदरभाव को प्रकट करता है।

पत्नी का आचार-व्यवहार

शतपथ ब्राह्मण में पत्नी के आचार के विषय में जानकारी इस अंश से प्राप्त की जा सकती है-वरुण प्रघास में प्रतिप्रस्थाता गृहपत्नी से पूछता है-"तू किसके साथ रहती है? यदि स्त्री एक की होकर दूसरे के साथ रहे तो पाप करती है। वह इसीलिए पूछता है कि मन में पश्चात्तापपूर्वक आहुति न दे दे। कहा हुआ पाप कम हो जाता है। यदि वह पाप को छिपा लेगी तो उससे सम्बन्धियों के लिये अहित होगा।"[3] अन्त में यजुर्वेद का यह मन्त्र पढ़ा जाता है[4]-

यद् ग्रामे यदरण्ये यत् सभायां यदिन्द्रिये।
यदेनश्चकृमा वय मिदं तदव यजामहे।।

जो पाप गाँव में, वन में, सभाओं में और इन्द्रियों में किया, उससे छुटकारा पाने के लिये हम यज्ञानुष्ठान कर रहे हैं।[5] वरुण प्रघास में ही पत्नी से प्रतिष्ठाता द्वारा यह कहलाया जाता था-"कर्म करने वाले सुखद वाणी के साथ

---

1. जाये। एहिस्वो रोहावेति आह जाया तद्यज्ज: यामान्त्रयतेऽर्घो ह वाऽएष आत्मनो यज्जाया तस्माद् यावज्जाया न विन्दते नैव तावत प्रजायते सर्वो भवति -श.ब्रा. 5.2.10
2. तद्यथैवाद: स्नुषा श्वशुराल्लज्जमाना निलीयमानैत्यैवमेव सा सेना भज्यमाना निलीयमानैति - तै.ब्रा. 2.4.6.12.
3. श.ब्रा. 2.5.2.20.
4. यजुर्वेद - 3.45.
5. श.ब्रा. 2.5.2.25.

कर्म किया करते हैं, वे देवों के लिये कर्म करके विवाहित पत्नी के साथ सुखयुक्त घर पाते हैं।"[1]

यहाँ इस मन्त्र पर बल इसलिए दिया गया है, क्योंकि इसमें कर्म करने, हर्षपूर्ण वचन बोलने और विवाहित पत्नी के साथ सम्बन्ध रखने का विधान है।

अवभृथ स्नान के समय इसी कृत्य में अपने वस्त्र किसी को दिये जाते हैं क्योंकि वे वस्त्र पाप-त्याग के प्रतीक हैं, जैसे साँप केंचुली छोड़ता है।[2]

पति की निन्दा का सुकन्या द्वारा प्रत्याख्यान

शतपथ ब्राह्मण के अनुसार यह आख्यान इस प्रकार है-सुकन्या को उसके पिता शर्यात ने अत्यन्त वृद्ध व्यक्ति को सौंप दिया था। अश्विनी देवयुग्म ने उसे विचलित करने का प्रयत्न किया और उससे भयानक च्यवन को छोड़कर अपने पास आने के लिये कहा। इस पर सुकन्या ने उत्तर दिया-'जिसके लिये पिता ने मेरा दान किया है, मैं जीवन भर उसका परित्याग नहीं करूंगी।' सुकन्या के इस उत्तर में उसका पतिव्रत सन्निहित है।[3] यह आख्यान इस तथ्य का प्रतीक है कि शतपथ ब्राह्मण के युग में निष्ठा, सतीत्व और पातिव्रत जैसे मूल्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और उपादेय माने जाते थे।

पति की निन्दा का सुकन्या ने प्रत्याख्यान किया और उसी के प्रयत्न से वृद्ध च्यवन ऋषि को पुनर्यौवन की प्राप्ति हुई। शतपथ ब्राह्मण में यह आख्यान आश्विन ग्रहों के प्रसंग में आया है।

पत्नी घर की स्वामिनी है

पत्नी पति के घर पर ही रहती थी और विवाह के बाद नारी के रूप में उसकी महत्त्वपूर्ण भूमिका थी। वह घर की स्वामिनी थी। याज्ञिक संस्कृति

---

1. अक्रन् कर्म कर्मकृतः सह वाचा मयोभुवा।
   देवेभ्यः कर्म कृत्वा अस्तं प्रेत सचाभुवः।। -यजु. 3.47.
2. श.ब्रा. 2.5.2.47.
3. श.ब्रा. 4.1.5.8-10.

प्रधान समाज में पत्नी यज्ञादि सम्पूर्ण धार्मिक कृत्यों में पति के साथ रहती थी। पत्नी के बिना यज्ञ का सम्पादन नहीं हो सकता था[1] और जो यज्ञ पत्नी के बिना किया जाता था वह वस्तुतः यज्ञ नहीं है।[2]

स्त्री के गुणों को ग्रहण करना चाहिये

शतपथ ब्राह्मण में इस प्रकार का उल्लेख है कि प्रजापति की तपस्या से ज्योतिर्मयी श्री का आविर्भाव हुआ। देवताओं ने उस ज्योतिर्मयी श्री पर आघात करना चाहा। तब प्रजापति ने उनसे कहा कि स्त्री पर आघात न करके उसके गुणों को ग्रहण करना चाहिये।[3] इस प्रकार प्रजापति की आज्ञा को शिरोधार्य करके अग्नि, सोम, मित्र, इन्द्र, बृहस्पति, सविता, पूषा इत्यादि ने भी श्री से विभिन्न गुण एवं वस्तुएँ प्रतिपादित कीं।

अगम्यागमन नहीं करना चाहिये

इस सम्बन्ध में शतपथ ब्राह्मणकार ने निर्देश दिया है कि अगम्यागमन (पिता-पुत्री या भाई-बहन) का सम्बन्ध नहीं करना चाहिये।[4]

छोटे बड़े का आदर करें

शतपथ ब्राह्मण ने यह भी निर्देशित किया है कि हम में से छोटे बड़े का आदर करें।[5] तत्कालीन परिस्थितियों में आचार की दृष्टि से यह भी प्रथा थी कि बड़े भाई या बहन के रहते छोटे भाई या बहन का विवाह नहीं होता था किन्तु अपरिहार्य स्थितियों में इस प्रकार के विवाह को सम्भवतः सामाजिक स्वीकृति प्राप्त थी क्योंकि इस सम्बन्ध में प्रयुक्त होने वाले शब्दों का उल्लेख तैत्तिरीय ब्राह्मण में मिलता है। जो बड़े भाई के रहते विवाह करता था उसे तैत्तिरीय

---

1. अथो अर्धो वा एष आत्मनो यत्पत्नीः। - तै.ब्रा. 3.3.3.5.
2. अयज्ञो वा एष योऽपत्नीकः - तै.ब्रा. 2.2.2.6.
3. न वै स्त्रियं घ्नन्ति उतत्वा जीवन्त्याऽएवाददते -श.ब्रा.11.4.3.1-3.
4. श.ब्रा. 1.7.4.
5. ज्यायस्पतये निह्नु इदं हि पितैवाग्रेऽथ पुत्रोऽथ पौत्रः - श.ब्रा. 1.5.1.10.

ब्राह्मण में 'अग्रेदिधिषु'[1] कहा गया है। इसी प्रकार जिसके विवाह से पूर्व उसके छोटे भाई का विवाह हो जाता था, 'परिवित्त'[2] कहलाता था।

अभिवादन करनेवाले को कोई सताता नहीं है

अभिवादन करने का उद्देश्य ही है 'हिंसा से बचना' क्योंकि जब किसी को नमस्कार किया जाता है तो उसका अभिप्राय यही रहता है कि वह नमस्कर्ता को न सताये।[3]

दुष्ट व्यवहार और अशिष्ट आचरण नहीं करना चाहिये

व्यक्ति को चाहिये कि वह स्तुतियोग्य मनुष्यों की स्तुति करे, पितरों-पूर्वजों को नमस्कार करे और देवताओं का यजन करे।[4]

एक ही कार्य में संलग्न व्यक्तियों को एक-दूसरे से अनुचित व्यवहार नहीं करना चाहिये।[5] इसे इस उदाहरण की सहायता से समझने का प्रयत्न करना चाहिये कि जहाँ ऋत्विग्गण परस्पर एक दूसरे को समझते हुए यज्ञ करते हैं वहाँ सभी काम ठीक होता है, कोई त्रुटि नहीं होती।[6] जहाँ पर ऋत्विग्गण एक दूसरे को समझकर यज्ञ करते हैं, वहाँ वर्षा अवश्य होती है।[7] हमें परस्पर समझदारी का व्यवहार करते हुए सत्कर्म ही करने चाहिये क्योंकि मनुष्य को अपने किये गये दुष्कर्मों के द्वारा हानि उठानी पड़ती है। शतपथ ब्राह्मण में इस सम्बन्ध में एक स्थल पर कहा गया है कि किसी को दुष्ट व्यवहार नहीं करना चाहिये क्योंकि उससे रोग, दरिद्रता, सन्तानहीनता, पशुहीनता, अप्रतिष्ठा इत्यादि होती है।[8]

---

1. तै.ब्रा. - 3.2.8.11.
2. तै.ब्रा. - 3.2.6.11.
3. नमोऽमुष्मै चामुष्मै चेति तद्यथा वै ब्रूयादसौ त्वं च नऽएष च मा हिंसिष्टमित्येवमेतदाह नतरां हि विदितंऽआमन्त्रितो हिनस्ति -श.ब्रा. 9.1.1.17.
4. श.ब्रा.
5. श.ब्रा. - 1.5.2.3.
6. श.ब्रा. - 1.5.2.8.
7. श.ब्रा. - 1.5.2.15
8. श.ब्रा.-1.6.1.15-18.

शतपथ ब्राह्मण में एक दूसरे को हानि न पहुँचाने का भी स्पष्ट उल्लेख मिलता है।[1]

श्रेष्ठ मनुष्यों के इस गुण का भी शतपथ ब्राह्मण में वर्णन मिलता है कि एक समय में एक ही कार्य करना चाहिये और एक बात बोलते समय दूसरी बात नहीं बोलनी चाहिये।[2]

परस्पर कलह नहीं करनी चाहिये

कलह इत्यादि मनुष्य की उन्नति में बाधा उत्पन्न करते हैं, उसे विनाश के मार्ग पर ले जाते हैं। शतपथ ब्राह्मण में भी कहा गया है कि "परस्पर झगड़ने पर दूसरा मनुष्य मध्य में आ जाता है और उसी का कहना मानना पड़ता है जो उसका नाश करता है अतः न झगड़ें।[3] ऐसा काम करें जिससे हमारा सखा अमर रहे।"[4] सबके प्रति मैत्रीभाव पर तैत्तिरीय ब्राह्मण में भी बल दिया गया है। सात पगों की भी यात्रा जिनके साथ हुई हो, वे सभी मित्र हैं। उनके प्रति सख्य भाव को कभी क्षति नहीं पहुँचने देनी चाहिये।[5]

लोगों को उनके मंगल नामों से बुलाना चाहिये

शतपथ ब्राह्मण में इस सम्बन्ध में उदाहरण देकर स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है कि "जैसे बहुकार (बहुत काम करने वाला); श्रेयस्कर (कल्याण करने वाला); भूयस्कर (बहुत काम करने वाला) जो ऐसे नाम वाला होता है, वह मनुष्य की वाणी से भी कल्याण ही बोलता है।"[6]

---

1. नेदन्योऽन्यं हिन्सात् -श.ब्रा.-1.47
2. श.ब्रा. - 2.1.3.6.
3. श.ब्रा. - 3.4.2.3-4
4. श.ब्रा. - 3.4.2.6
5. सखायः सप्तपदा अभूम। सख्यात्त ते गमेयम्। सख्यात्ते मा योषम्। संख्यान्मे मा योष्ठा -तै.ब्रा. 3.7.7.11.
6. अथ सुमंगलनामानं ह्वयाति। बहुकार श्रेयस्कर भूयस्करति यऽएवं नामा भवति कल्याणमे वै तन्मानुष्यै वाचो वदति - श.ब्रा. 5.4.4.14.

मन की शुद्धि

तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार मनुष्य का मन सर्वोच्च प्रजापति है।[1] सभी क्रियाएँ उसी के द्वारा सम्पन्न होती हैं।[2] अतः मन की शुद्धि आवश्यक है। मन की शुद्धि के सन्दर्भ में बहुविध कामनाओं का परित्याग भी आवश्यक है क्योंकि वे समुद्र के समान अपार हैं।[3]

शतपथ ब्राह्मण में यह बतलाया गया है कि मन से ही जीवन में सब कुछ प्राप्त होता है।[4]

मनुष्य को आप्तकाम और अकाम होना चाहिये

आप्तकाम और अकाम व्यक्ति पाप-पुण्य, भय, कामना सबसे मुक्त हो जाता है। शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि "इस अवस्था में पिता पिता नहीं होता, माता माता नहीं होती, लोक लोक नहीं, देव देव नहीं, वेद वेद नहीं, यज्ञ यज्ञ नहीं, इस अवस्था में चोर चोर नहीं, गर्भघातक गर्भघातक नहीं, वर्णसंकर वर्णसंकर नहीं, चाण्डाल चाण्डाल नहीं। भ्रमण भ्रमण नहीं, तपस्वी तपस्वी नहीं। न पुण्य में लिप्त न पाप में लिप्त। उस समय हृदय के सभी शोकों से तर जाता है।"[5]

शतपथ ब्राह्मण में इस प्रकार का निर्देश प्राप्त होता है कि मिथुन कर्म नहीं दिखाना चाहिये।[6]

सामाजिक मर्यादा को ध्यान में रखते हुए श्रोत्रिय की पत्नी से हास

---

1. मन इव हि प्रजापतिः - तै.ब्रा. 2.2.6.2.
2. येन पूतस्तरति दुष्कृतानि - तै.ब्रा. 3.12.3.4.
3. समुद्र इव हि कामः। नैवहि कामस्यान्तोऽस्ति। - तै.ब्रा.
4. मनसा वाऽ इदं सर्वमाप्तं तन्मनसैवैतत्सर्वमाप्नोति - श.ब्रा. 5.4.3.9.
5. अतिच्छन्दोऽपहतपाप्माऽभय ७ रूपमशोकान्तरमत्र पिताऽपिता भवति माताऽमाता लोकाऽलोका देवाऽदेवा वेदाऽअवेदा यज्ञाऽअयज्ञाऽअत्र स्तेनोऽअस्तेनो भवति भ्रूणहाऽभ्रूणहा पौल्कसौऽपौल्कसश्चाण्डालोऽचाण्डालः श्रमणोऽश्रमण-स्तापसोऽतापसोऽनन्वागतः पुण्येनान्वागतः पापेन तीर्णो हि तदा सर्वाञ्छोकम्हृदयस्य भवति।। -श.ब्रा. 14.7.1.22.
6. श.ब्रा. - 4.6.7.9.

परिहास का निषेध करते हुए कहा गया है कि "कभी श्रोत्रिय की पत्नी से हास परिहास नहीं करना चाहिये क्योंकि वह तत्त्व का जानकार होता है।"[1]

आहारजन्य आचारिक नियमितता

ब्राह्मण ग्रन्थों में भोजन के सन्दर्भ में भी कुछ नियम दृष्टिगोचर होते हैं जैसे कि दीक्षित को दूध पीने का व्रत धारण करना चाहिये। इस विषय में प्राचीन आख्यान इस प्रकार है कि एक बार अमृत देवों के पास से भाग गया। उन्होंने आपस में परामर्श करके उसे श्रम और तप से खोजा। दीक्षित होकर वे दूध पर रहने लगे। दीक्षित होकर पयोव्रत होना तप है। फिर उन्होंने उस अमृत के घोष को सुना।[2]

शतपथ ब्राह्मण ने इसे अर्धतप के रूप में ही स्वीकार किया है। पूर्ण तप के विषय में उल्लेख मिलता है-"लेकिन यह अर्धतप है। पूरा तप यह है कि उपवास के दिन कुछ भी न खाया जाये क्योंकि वही पूरा तप है।"[3]

पिण्डपितृयज्ञ के प्रसंग में कहा गया है कि प्रजापति ने पशुओं के विपरीत मनुष्यों के विषय में यह व्यवस्था की कि वे नियमों का उल्लंघन न करें क्योंकि मनुष्यों में जो मोटा हो जाता है, वह अनृत के ही कारण चल नहीं सकता, उसके पैर लड़खड़ाने लगते हैं।

इसलिये मनुष्यों को नियमपूर्वक ही आहार ग्रहण करना चाहिये।[4] ऐसा नियमानुयायी व्यक्ति जो कुछ बोलता है वही हो जाता है "क्योंकि वह देव सत्य की रक्षा करता है। उसमें ब्रह्मतेज आ जाता है।"[5]

---

1. तस्मादेवं विच्छ्रोत्रियस्य जायायाऽउपहासं नेच्छेत् - श.ब्रा.
2. पयोव्रतो दीक्षितः स्याद् देवेभ्यो ह वाऽअमृतमपचक्राम। ते होचुः श्रमेण तपसेदमन्विच्छामोति तच्छ्रमेण तपसाऽन्वैच्छंस्ते दीक्षित्वा पयोव्रताऽभवन्नेतद् वै तपो यो दीक्षित्वा पयोव्रतोऽसत्रस्य घोषमाशुश्रुवः। -श.ब्रा. 9.5.1.1-2.
3. 'अधि वाऽअगन्न त्वभिस्तपत्सुं शक्नुमः सर्वं तपऽउपायामेति तऽउपवसथेऽनाशमक-मुपयेयुरेतद्वै सर्वं तपो यदनाकाशकस्तस्मादुपवसथे नाश्नीयात्'-श.ब्रा. 9.5.1.6.
4. श.ब्रा. 2.4.6.2.
5. वहीं.

ब्राह्मणोक्त आग्रयणेष्टि का प्रयोजन ही है कि हम देवार्पणपूर्वक अन्न ग्रहण करें।

पशुओं में भी प्राणों का अस्तित्व-दर्शन

शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि "प्रजापति ने पशुओं को भी अपने प्राणों से बनाया है-इसलिये कहा जाता है कि प्राण पशु हैं।"[1] इसी में पशुओं की शोकमुक्ति के प्रसंग में निर्देश मिलता है-"पशुओं के शोक का निवारण करना भी हमारा दायित्व है।"[2] एक अन्य स्थल पर कहा गया है कि "इस अश्व को हानि न पहुँचाये।"[3] और इसी में आगे गौ-हिंसा के विचार को भी त्याज्य माना है-"और शत-शत धारों में दूध देने वाली गाय की हिंसा करने की बात तो सोची भी नहीं जा सकती है।"[4]

यही दृष्टि भेड़ के विषय में भी है। उसमें भी ऊन होती है, यह वरुण की नाभि है, इसे भी हानि नहीं पहुँचानी चाहिये।[5]

अज को भी उपयोगी माना गया है और इसका सम्बन्ध वाणी से स्थापित किया गया है।[6] यह भी उल्लेख किया गया है कि इसी वाणी से देवतागण देवत्व तक पहुँचे।[7] यहाँ पर यह कहने का निहितार्थ है कि इसे भी हानि नहीं पहुँचानी चाहिये।

शतपथ ब्राह्मण में यह भी वर्णित है कि "चार चौपाये पशुओं की

---

1. तद् यदेनान् प्राणेभ्योऽधि निरमितीत तस्मादाहुः प्राणाः पशवः-श.ब्रा. 7.5.2.6.
2. तद् धैके। यं यमेव पशुमपदधति तस्य तस्य शुचमुत्सृजन्ति नेच्छुचं पाप्मानमभ्युपदधामहे।- श.ब्रा. 7.5.2.29
3. इमं मा हिंसीरेकशफं पशुमित्येक शफो वाऽएष पशुर्यदश्वः -श.ब्रा. 7.5.2.30.
4. इमं साहस्रं शतधारमुत्समिति साहस्रो वाऽएष शतधारऽउत्सो यद् गौ -श.ब्रा. 7.5.2.34.
   धृतं वाऽएषाऽदितिर्जनाय दुहेऽग्ने मा हिंसीः।
5. अथावेः इममूर्णायुमित्यूर्णाबलमित्येतद्वरुणस्य नाभिमिति वारुणो ह्याविस्त्वं पशूनां... ....अग्ने मा हिंसीः
6. वाग् वा अजः -श.ब्रा. 7.5.2.36
7. वाचो वै देवा देवतामग्रऽआयँस्तेन रोहमायन्-श.ब्रा.7.5.2.36.

सहायता से ही देवों ने परलोक की प्राप्ति की। इसी प्रकार यजमान भी इनकी सहायता से आयुष्मिक लोक की प्राप्ति कर सकता है।"[1]

जीव-दया

शतपथ ब्राह्मणकार ने मनु के आख्यान के माध्यम से जीवों के प्रति दया की भावना का प्रतिपादन किया है।[2] प्रातःकाल प्राप्त जल में (प्रक्षालनार्थ जल में) मिली मछली की रक्षा और पालन करने के कारण ही मनु की रक्षा हो सकी। शतपथ ब्राह्मण में प्राप्त यह आख्यान जीव-दया का ही प्रतीक है।

चार ऋणों की अवधारणा

प्रत्येक मनुष्य उत्पन्न होते ही देवों, ऋषियों, पितरों और मनुष्यों का ऋणी हो जाता है।[3] इन ऋणों से मुक्ति के लिये अलग-अलग विधान मिलते हैं। "देवों का ऋण चुकाने के लिये उसे यज्ञ करना चाहिये। ऋषियों के ऋण से मुक्ति पाने हेतु उसे वेदाध्ययन करना चाहिये क्योंकि उसे ऋषियों के कोष का रक्षक (निधिगोप) कहते हैं। पितरों के ऋण से छुटकारा पाने के लिये उसे सन्तान की रक्षा करनी चाहिये, जिससे उसके वंश की परम्परा निरन्तर बनी रहे। तदनन्तर उसे अतिथि का सत्कार करना चाहिये क्योंकि वह मनुष्यों का ऋणी होता है इसलिये उसे अन्य मनुष्यों को भोजन और निवास की सुविधा सुलभ करानी चाहिये। वह उनके लिये सब कुछ करता है, इससे वह अपने कर्तव्य को पूरा करता है।"[4]

सौ वर्ष जीने की इच्छा करें

शतपथ ब्राह्मण में पश्यन्ती वाक् का वचन है कि "जीवन सौ वर्ष की

---

1. चत्वारश्चतुष्पादाः पशवोऽन्नं पशवस्तऽएतैश्चतुर्भिश्चतुष्पादैः पशुभिरेतेनान्नेनामुंष्मिल्लोके प्रत्यतिष्ठँस्तथै वैतद्यजमानऽएतैश्चतुर्भिश्चतुष्पादैः पशुभिरेनास्मानामुंष्मिल्लोके प्रतितिष्ठति -श.ब्रा. 8.3.4.8.
2. श.ब्रा.-1.8.1.
3. श.ब्रा.-1.7.2.1.
4. श.ब्रा.-1.7.2.1-6.

आयु को प्राप्त होता है। 101 विधियों वाली वेदि का निर्माता सौ वर्ष जीता है, वह इस अमृत को पा लेता है। चाहे लोग जाने या न जाने यही कहते हैं कि सौ वर्ष की आयु वाला इस अमृत को पाये। इसलिये अपनी कामना का आखेट होकर उससे पहले न मरे।"[1]

ब्राह्मण ग्रन्थों के आचार-दर्शन की रूपरेखा का निर्माण ही मनुष्य को सौ वर्ष की आयु वाला तथा सौ पराक्रमों वाला मानकर हुआ है।[2]

राजनैतिक आचार

शतपथ ब्राह्मण में राजा के विषय में कहा गया है कि राजा वह है जो राष्ट्र का भरण-पोषण करता है।[3] यहाँ पर ऐसा कहकर राजा के कर्तव्य को बतलाया गया है कि राजा का दायित्व है कि वह अपनी प्रजा का पालन-पोषण करे।

राजा की अनुपस्थिति अनिष्ट का कारण बनती है। शतपथ ब्राह्मण में भी एक ऐसी स्थिति का वर्णन है कि जब जल के अभाव में सब ओर सूखा पड़ा और मत्स्य न्याय की स्थिति आ गई।

राजसूय यज्ञ के अनुष्ठान में छुआछूत जैसी बुराई तत्कालीन राज व्यवस्था में दिखलाई नहीं देती है-"ग्रामणी, भागदुध, अक्षावाप, गोविकर्त, पालागल (हरकारा) इत्यादि के घरों में जाकर यजमान विभिन्न देवताओं के निमित्त चरु तैयार करता है।"[4] इनमें से गोविकर्त तो वह है जो पशु माँस तैयार करता है। राज्य के स्थायित्व के लिये राजा के साथ इनका सामंजस्य आवश्यक था क्योंकि इनमें से किसी के भी रुष्ट होने पर राज्य को खतरा हो सकता था।

राजा के आचरण एवं अभिव्यक्ति के विषय में शतपथ ब्राह्मण में निर्देश

---

1. पश्यन्ती वाग्वदति- तदेतदेकशतविधेन वैवाऽऽप्तव्यं शतायुतया वा यऽएवैकशतविधं विधत्ते यो वा शतवर्षाणि जीवति स है वैतदमृतमाप्नोति तस्माद् ये चैतद् विदुर्ये च न लोक्या शतायुतेत्येवाहुस्तस्मादु ह न पुराऽऽयुषः स्वकामी प्रेयात्। -श.ब्रा. 10.2.6.7.
2. शतायुर्वै पुरुषः शतेन्द्रियऽआयुरेवेन्द्रियं वीर्यमात्मन्धत्ते-श.ब्रा. 13.1.1.4.
3. राजानो वै राष्ट्रभृतस्ते हि राष्ट्राणि बिभ्रति -9.4.1.1.
4. श.ब्रा.-5.3.1.1.-13.

किया गया है कि "राजा और श्रोत्रिय को सही ही बोलना चाहिये और सही ही करना चाहिये।"[1]

उपासनासम्बन्धी आचार

शतपथ ब्राह्मण एवं तैत्तिरीय ब्राह्मण दोनों ग्रन्थों में यज्ञ, धर्म, तप, श्रद्धा, ब्रह्मचर्य-पालन इत्यादि के सन्दर्भ में आचरण एवं व्यवहार के ऊपर प्रकाश डाला गया है। इनकी हमारे जीवन में क्या उपयोगिता है, इनका श्रेष्ठ ढंग से कैसे सम्पादन करना चाहिये, यज्ञकर्ता को किस प्रकार का आचरण करना चाहिये, यजमान से कैसे व्यवहार की आशा की जाती है, इत्यादि विविध प्रसंगों के माध्यम से मनुष्य को व्यावहारिक रूप से श्रेष्ठ मार्ग के अनुकरण की शिक्षा दी गई है।

यज्ञ श्रेष्ठ कर्म है

शतपथ ने यज्ञ को जीवन का सबसे महत्त्वपूर्ण कृत्य माना है-'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म'।[2] यह यज्ञ पांक्त है[3] और इसे देवों की आत्मा कहा गया है।[4] यज्ञ का पाङ्क्त स्वरूप देवता, हविर्द्रव्य, मन्त्र, ऋत्विज् तथा दक्षिणा से सम्पन्न होता है।

यज्ञ देवों की आत्मा है

"यज्ञ को आत्मा मानकर ही देवगण स्वर्ग में विराजे। इसी प्रकार यजमान भी यज्ञ की आत्मा मानकर स्वर्ग लोक में बैठता है।"[5]

यजमान यज्ञ की आत्मा है

शतपथ ब्राह्मण ने न केवल यज्ञ को देवों की आत्मा के रूप में उल्लिखित

---

1. राजा न वाऽ एष सर्वस्मा ऽइव वदनाय न सर्वस्माऽइव कर्मणे यदेव साधु वदेत् यत्साधु कुर्यात् तस्मै वाऽएष च श्रोत्रियश्चैतो ह वै द्वौ मनुष्येषु धृतव्रतौ -श.ब्रा. 5.4.4.5.
2. श.ब्रा. 1.7.3.5.
3. श.ब्रा. 1.1.2.1.6.
4. श.ब्रा. 9.3.2.7.
5. यज्ञऽउदेवानामात्मा यज्ञमेव तद्देवाऽआत्मानं कृत्वैतस्मिन्नाके स्वर्गे लोकेऽसीदंस्त-थैवैतद्यजमानो यज्ञमेवात्मानं कृत्वैतस्मिन्नाके स्वर्गे लोके सीदति -श.ब्रा. 8.6.1.10

किया है वरन् एक अन्य स्थल पर यह भी कहा गया है-"यजमान यज्ञ की आत्मा है और ऋत्विज् अंग हैं। जहाँ आत्मा है वहाँ उमंग रहती है। यदि ऋत्विजों को स्वर्ग नहीं मिलता तो यजमान को भी नहीं, क्योंकि ये दोनों एक ही लोक के हैं परन्तु दक्षिणाओं में मोल-तोल नहीं होना चाहिये। ऐसा करने से ये स्वर्ग से वंचित हो जाते हैं।"[1]

यज्ञ और व्रत, दीक्षा, सत्य, श्रद्धा एवं वाक्

वास्तविक यज्ञानुष्ठान तो व्रत, दीक्षा, सत्य, श्रद्धा और वाक् से सम्पन्न होते हैं।[2] यही बात चौदहवें काण्ड में भी कही गई है।[3]

यज्ञ ही सर्वस्व है

तैत्तिरीय ब्राह्मण में यज्ञ को मनुष्य का सब कुछ माना गया है।[4] इसीलिए यह प्रार्थना की गई है कि यज्ञ निरन्तर बढ़ता रहे। याग की वेदि पुत्र-पौत्रों के माध्यम से निरन्तर फलती-फूलती रहे।[5]

यज्ञ होमादि तथा अविनाशी परम तत्त्व

शतपथ ब्राह्मण में यज्ञ के विषय में यह भी निर्देश मिलता है कि "अविनाशी परम तत्त्व को जानकर ही दान-होमादि करना चाहिये, जो ऐसा नहीं करता है उसकी तपस्या और पुण्य क्षीण होते हैं।"[6]

---

1. आत्मा वै यज्ञस्य यजमानोऽङ्गान्यृत्विजो यत्र वाऽआत्मा तदङ्गानि यत्राङ्गानि तदात्मा यदि वाऽऋत्विजोऽलोका भवन्त्यलोकऽउ तर्हि यजमानऽउभये हि समानलोका भवन्ति। दक्षिणासु न त्वेव संवदितव्यं संवादेनैवऽर्त्विजोऽलोका -श.ब्रा. 9.5.2.16.
2. शिरो वाऽएतद् यज्ञस्य यदव्रतमात्मा दीक्षैतन्खलु वै व्रतस्य रूपं यत्सत्यमेतद्दीक्षायै यच्छ्रद्ध मनो यजमानस्य रूपं वाग्यज्ञस्य -श.ब्रा. 12.8.2.4.
3. योनः श्रमेण तपसा श्रद्धया यज्ञेनाहुतिभिर्यज्ञस्योदृचं पूर्वोऽवगच्छात् स न श्रेष्ठोऽसते -श.ब्रा. 14.1.1.4.
4. यज्ञो रायो यज्ञ ईशे वसूनाम्। यज्ञः सस्यानुमत सुक्षितीनाम् -तै.ब्रा. 2.5.5.1.
5. अयं यज्ञो वर्धतां गोभिरश्वैः। इयं वेदिः स्पत्या सुबीरा -तै.ब्रा. 2.5.5.1.
6. यो वाऽएतदक्षरमविदित्वा गार्गि। अस्मिँल्लोके जुहोति, ददाति, तपस्यत्यपि बहूनि वर्ष सहस्राणि अन्तवानेवास्य स लोको भवति -श.ब्रा.14.1.7.22.

पापों के निवारण-हेतु यज्ञानुष्ठान

शतपथ ब्राह्मण में यज्ञ के द्वारा मनुष्य के पापों को विनष्ट किया जाता है, इस सम्बन्ध में कहा गया है कि "यजमान जब आहवनीय और गार्हपत्य अग्नियों के बीच से निकलता है तो दोनों अग्नियाँ उस समय उसके पापों को नष्ट करती हैं।"[1]

अग्निहोत्र के पश्चात् यजमान अग्नि की प्रार्थना इसलिए करता है कि उसकी वाणी सत्य से पवित्र हो जाये।[2]

"यज्ञ में जो अपवित्र वाणी बोलते हैं उनके पास से आयु और देवता निकलकर चले जाते हैं।"[3]

अग्न्याधेय की अग्नि का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए यह भी कहा गया है कि "अग्न्याधेय की अग्नि का महत्त्व इसीलिए है कि वह यजमान के पापों को जलाती है, दूसरे लोक में पुण्यमार्ग बनाती है।"[4]

आगे भी इसी प्रसंग में कहा गया है कि "दोपहर में पुनरग्न्याधेय का महत्त्व इसलिए है, क्योंकि दोपहर में पाप की वह छाया, जो पुरुष से लिपटी होती है, सबसे छोटी होती है। दोपहर में पुनराधान करने से पाप कम हो जाते हैं।"[5]

पुरुष की यज्ञरूपता

याज्ञवल्क्य की दृष्टि में "यज्ञ एक सजीव पुरुष है। उन्होंने कठिन नियमों से पलायन की प्रवृत्ति को महत्त्व नहीं दिया है।" उसकी दाहिनी भुजा जूहू, बायीं उपभृत, आत्मा ध्रुवा तथा प्राण स्रुवा हैं।[6] ऐसा कहकर उन्होंने पुरुष को यज्ञ रूप में स्वीकार किया है।

---

1. श.ब्रा. 2.3.1.24.
2. श.ब्रा. 2.4.1.1.
3. अप वाऽएतेभ्यऽआयुर्देवताः क्रामन्ति, ये यज्ञेऽपूतां वाचं वदन्ति-श.ब्रा. 13.5.2.10
4. श.ब्रा. 2.2.3.6.
5. श.ब्रा. 2.2.3.10.
6. श.ब्रा. 1.3.2.

यज्ञ में विद्या का गौरव

शतपथ ब्राह्मणकार ने विद्या के गौरव को इस प्रकार व्यक्त किया है-"विद्वान् वेदपाठियों से देवों की निकटता होती है, क्योंकि वे जहाँ यज्ञ करते हैं वहाँ कोई त्रुटि नहीं होती।"[1]

यज्ञानुष्ठान विद्वान् को कराना चाहिये

"जब विद्वज्जन यज्ञानुष्ठान कराते हैं तो यज्ञ की समृद्धि होती है, इसलिए यज्ञ करना चाहिये।"[2]

"अग्निहोत्रादि यज्ञों को समझकर अनुष्ठित करना चाहिये, बिना समझे नहीं।"[3]

अग्नि पापों को जलाती है

अग्न्याधान का अभिप्राय है प्राणों को प्रदीप्त करना, क्योंकि वास्तव में प्राण ही अग्नि है।[4] इससे आत्मा में स्थापित अग्नि दीप्त होती है। जिसकी आत्मा में अग्नि है, वह आजीवन नहीं बुझती। ये अग्नियाँ ही प्राणादि हैं।[5] इस अग्न्याधेय का उपचार सत्य ही है। सत्य बोलने वाला मानो घी से अग्नि को संचालित करता है। जो झूठ बोलता है, वह मानो जलती आग पर पानी डालता है। वह इसे कमजोर करता है, उसका तेज कम हो जाता है। दिन-प्रतिदिन वह पापी हो जाता है। अतः सत्य ही बोलें।[6] आहिताग्नि को झूठ नहीं बोलना चाहिये। यदि झूठ बोलना पड़े तो वह बोले ही नहीं क्योंकि सत्य ही उसका उपचार है।[7]

---

1. श.ब्रा. 3.1.1.5.
2. एषा हत्वैवैतस्य यज्ञस्य समृद्धिर्यदेनं विद्वांसो याजयन्ति-श.ब्रा. 5.1.1.10.
3. यदि वाऽएतद् विद्वान् अग्निहोत्रमहौषीरथ ते हुतं यद्यु वा ऽ अविद्वानहुतमेव तऽइति-श.ब्रा.11.5.3.4.
4. श.ब्रा. 2.2.2.15-16
5. श.ब्रा. 2.2.2.17.18.
6. श.ब्रा. 2.2.2.19.
7. श.ब्रा. 2.2.2.20.

तैत्तिरीय ब्राह्मण में भी कहा गया है कि अहिताग्नि व्यक्ति को कदापि असत्य नहीं बोलना चाहिये क्योंकि तेजोमयता सत्य में ही है।[1]

यज्ञ को श्रेष्ठ कर्म माना गया है और यज्ञ के पथ से हटने वाले के विषय में शतपथ ब्राह्मण में यह भी कहा गया है कि "यज्ञ के पथ से हटने वाला बहक जाता है।"[2]

अग्न्याधान सत्य से ही होना चाहिये, क्योंकि वाणी और सत्य ब्रह्म है।[3]

अग्न्याधेय की अग्नि का महत्त्व इसलिये है कि वह यजमान के पापों को जलाती है। दूसरे लोक में पुण्य का मार्ग बनाती है।[4]

तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार आहिताग्नि व्यक्ति को न तो मांसभक्षण करना चाहिये और न परस्त्रीगमन ही करना चाहिये।[5] जिस सम्पत्ति से यज्ञादि परोपकार और सार्वजनीन कृत्यों का अनुष्ठान होता रहता है, दान-पुण्य होते रहते हैं, उसका कदापि विनाश नहीं होता। न तो उसे शत्रु ले जाते हैं और न शत्रु क्षति पहुँचाते हैं।[6]

वाणी और मन का महत्त्व

शतपथ ब्राह्मण में वाणी और मन की एकता का प्रतिपादन किया गया है।[7] अध्वर्यु की प्रशंसा की गई है क्योंकि वह वाणी और मन का मेल कराता है।[8] इसमें यह भी उपदेश दिया गया है कि देवों को प्रिय एवं मधुर वाणी बोलना चाहिये।[9]

---

1. आहिताग्निः न अनृतं वदेत्-तै.ब्रा.
2. ह्वलति वाऽएष यो यज्ञपथादेत्येति -श.ब्रा. 5.1.3.14.
3. श.ब्रा. 2.1.3.10.
4. श.ब्रा. 2.2.3.6.
5. तै.ब्रा. 2.4.6.8.
6. न वा नशन्ति न दभाति तस्करः। नैना अमित्रो व्यथिरादधर्षति। देवाश्च याभिर्यजते ददाति च। -तै.ब्रा. 3.7.7.11.
7. श.ब्रा. 1.4.4.7-8
8. श.ब्रा. 1.5.1.21.
9. तद्वि समृद्धं यो जुष्टं देवेभ्योऽनुब्रुवन्। -श.ब्रा. 1.5.1.18-19

शतपथ ब्राह्मणकार में आसुरी प्रवृत्तियों से दूर रहने की चर्चा करते हुए कहा है-"यज्ञ से परावसु को निकाल दिया जाता है, यह परावसु पराया माल रखने वाला है, जो आसुरी प्रवृत्ति का है।"[1]

तैत्तिरीय ब्राह्मण में वाणी की उग्रता की निन्दा करते हुए कहा गया है-'उग्र वाणी भूख और प्यास की हेतु होने के कारण महापातक के सदृश है।'[2]

शतपथ ब्राह्मण के अनुसार, 'प्राण तथा वाणी परस्पर हित तथा उपहित हैं।'[3]

मन, प्राण और वाणी की सहवर्तिता

शतपथ ब्राह्मण में अग्नि-चयन के प्रसंग में मन, प्राण और वाणी के विषय में कहा गया है कि "यज्ञवेदी या तद्गत अग्नि मन है, प्राण महाव्रत है, वाणी महदुक्थ है इसलिए इन सबकी एकान्विति है। सबको एक साथ प्राप्त करना चाहिये।"[4]

आगे इसी क्रम में अग्नि को आत्मा भी कहा गया है।[5] वाजपेय-निरूपण के प्रसंग में तैत्तिरीय ब्राह्मण में दुन्दुभि-वादन को परमा वाक् बतलाते हुए उसे वाग्देवी का नादात्मक शरीर कहा गया है।[6]

पंचमहायज्ञों में प्रतिपादित आचार

शतपथ ब्राह्मण के एकादश काण्ड में भूतयज्ञ, मनुष्ययज्ञ, पितृयज्ञ, देवयज्ञ और ब्रह्मयज्ञ संज्ञक पाँच महाव्रतों का निरूपण है। इनके सम्बन्ध में जो आचार प्रतिपादित हैं वे हैं-"भूतयज्ञ का अनुष्ठान करने के लिये प्रतिदिन प्राणियों को भोजन कराना चाहिये। उन्हें जलपात्र देना चाहिये। कुछ न

1. श.ब्रा. 1.5.1.23.
2. अशनयापिपासे ह वा उग्रं वच:-तै.ब्रा. 1.5.9.5.
3. प्राण एवं हितं वागुपहितम्-श.ब्रा. 6.1.2.15
4. मन एवाग्नि: प्राणो महाव्रतं वाङ् महदुक्थं तस्मादेतानि सर्वाणि सह उपेयात् सह हि मन: प्राणो वाक् -श.ब्रा. 10.1.2.3.
5. आत्मैवाग्नि:-श.ब्रा. 10.1.2.4
6. परमा वा एषा वाक् या दुन्दुभि:-तै.ब्रा. 1.3.6.2

हो तो काष्ठ से ही होम करना चाहिये। स्वाध्याय प्रतिदिन अवश्य करना चाहिये।"[1]

यदि किसी प्रबल कारण से अधिक स्वाध्याय न कर सकें तो प्रतिदिन एक ही वेद-वाक्य पढ़ लें।[2]

स्वाध्याय की प्रशंसा

स्वाध्याय और प्रवचन प्रिय होते हैं। वह मननशील और स्वाधीन हो जाता है, प्रतिदिन धन कमाता है, सुख से सोता है, अपना परम चिकित्सक है उसकी इन्द्रियाँ संयम में रहती हैं, एक रस बहता है, उसकी प्रज्ञा बढ़ती है, यश बढ़ता है और उसके लोग उन्नति करते हैं। प्रज्ञा के बढ़ने से ब्राह्मण सम्बन्धी चार धर्मों को जानता है अर्थात् ब्रह्मकुल की नीति, अनुकूल आचरण, यश और स्वजनवृद्धि। स्वजन वृद्ध होकर ब्राह्मणों को चार धर्मों से युक्त करते हैं अर्थात् सत्कार या दान कोई उसको सताता नहीं, कोई उसको मारता नहीं।

"छन्द के जिस भाग का स्वाध्याय करता है, उस-उस इष्टि का फल उसको मिलता है जो इस रहस्य को जानकर प्रयत्न करता है। इसलिए स्वाध्याय करना चाहिये। चाहे तेल लगाकर, अलंकृत होकर मुलायम शय्या पर लेटा हुआ भी स्वाध्याय करता है, वह नख के अग्र भाग तक तप करता है यदि वह यह रहस्य जानकर स्वाध्याय करता है इसलिए स्वाध्याय करना चाहिये।

ऋचायें मधु हैं, साम घी, यज्ञ अमृत। जो वाकोवाक्य को पढ़ता है वह क्षीरोदन और माँसोदन के तुल्य है।"[3]

---

1. अहरहर्भूतेभ्यो बलिं हरेत्। अहरहर्ददातद् उदपायात्। स्वाहा कुर्यादाकाष्ठात् स्वाध्यायोऽध्येतव्यः।-श.ब्रा. 11.5.6
2. स चेदपि प्रबलमिव न शक्नुयादप्येकं देवपदमधीयीत-श.ब्रा. 11.5.6.9
3. यद्यद्ध वाऽअयंच्छन्दसः। स्वाध्यायमधीते तेन-तेन हैवास्य यज्ञक्रतुनेष्टं भवति यऽएवं विद्वान्त्स्वाध्यायमधीते तस्मात्स्वाध्यायोऽध्येतव्यः।।
   यदि ह वा ऽअप्यभ्यक्त अलंकृतः सुहितः सुहितः सुखे शयने शयानः स्वाध्यायमधीतऽआ हैव स नरवाग्रेभ्यस्ते यऽएवं विद्वान्त्स्वाध्यायमधीते तस्मात्स्वाध्यायोध्येतव्यः।।
   मधु ह वाऽऋचः। घृतॅंह सामान्यमृतं यजूॅंषि यद्व वाऽअयं वाकोवाक्यमधीते क्षीरौदनमाॅंसौदनौ हैव तौ। श.ब्रा. 11.5.7.3-5

"जो इसको जानकर ऋग्वेद पढ़ता है, वह देवों को मधु से तृप्त करता है। वे इस प्रकार तृप्त होकर उसको सब कामनाओं और सब सुखों से तृप्त करते हैं।

जो इसको जानकर प्रतिदिन सामवेद का स्वाध्याय करता है वह घृत से देवों को तृप्त करता है। और इस प्रकार तृप्त होकर देव उसकी कामनाएँ पूर्ण करते हैं।

जो यह समझकर प्रतिदिन यजुर्वेद का स्वाध्याय करता है, वह अमृत से देवों को तृप्त करता है और तृप्त होकर देव......इत्यादि।

जो यह समझकर वाकोवाक्य, इतिहास, पुराण का प्रतिदिन स्वाध्याय करता है, वह देवों को क्षीरोदन और माँसोदन से तृप्त करता है और तृप्त होकर देव उस पर अनुग्रह करते हैं। इत्यादि।"[1]

ब्रह्मचारी के आचार

ब्राह्मण ग्रन्थों में स्त्री, पुरुष, याज्ञिक, यजमान इत्यादि की भांति ही ब्रह्मचारी के आचरण एवं व्यवहार के विषय में विस्तार से वर्णन किया गया है, जो शतपथ ब्राह्मण के एकादश काण्ड के अनुसार इस प्रकार है-

याज्ञवल्क्य ने एक आख्यायिका के माध्यम से ब्रह्मचारी के धर्माचार का प्रतिपादन करते हुए प्रारम्भ में ही यह निर्देश किया है कि ब्रह्मचारी को समिधा अवश्य लानी चाहिये क्योंकि "जिस रात को ब्रह्मचारी समिधाएँ नहीं लाता, उस रात को उसका उतना ही भाग उसकी आयु से कट जाता है इसलिए ब्रह्मचारी को समिधा अवश्य लानी चाहिये।"[2]

1. मधुना ह वाऽएष देवांस्तर्पयति यऽएव विद्वानृचोऽहरहः स्वाध्यायमधीते तऽएनं तृप्तास्तर्पयन्ति सर्वैर्भोगैः।।6।।
   घृतेन ह वाऽएष देवाँस्तर्पयति। यऽएव विद्वान्त्सामान्यहरहः स्वाध्यायमधीते तऽएनं तृप्ता।।7।।
   अमृतेन ह वाऽएष देवाँस्तर्पयति। यऽएव विद्वान्यजूꣳष्यहरहः स्वाध्यायमधीते तऽएनं तृप्ता।।8।।
   क्षीरौदनाꣳमांसौदनाभ्याꣳ ह वाऽएष देवांस्तर्पयति। यऽएव विद्वान्वाकोवाक्यमिति हासपुराणमित्यहरहः स्वाध्यायमधीते तऽएनं तृप्तां।।9।।
2. यामेव रात्रिं समिधं नाहरतिऽइति तस्माद्यां रात्रिं समिधं नाहरत्यायुषऽएवं तामवदाय वसति तस्माद् ब्रह्मचारी समिधामाहरेत् - श.ब्रा. 11.3.3.1

इसी क्रम में आगे भी ब्रह्मचारी के आचारों का विशद वर्णन है और ब्रह्मचर्य को धारण करना विराट् यज्ञानुष्ठान माना गया है।[1]

इस प्रकार वह चारों भूतों में प्रवेश करता है। एक पद से अग्नि में, एक से मृत्यु में, एक से आचार्य में और चौथा भाग उसका उसमें ही रह जाता है।[2]

"जब वह अग्नि के लिये समिधा लाता है तो उसका जो पाद अग्नि में था उसको वापस होता है, उसका संस्कार करके आत्मा में धारण करता है। वह उसमें प्रवेश करता है।

अपने को दरिद्र मान करके लज्जा छोड़कर भिक्षा मांगता है, उससे जो पाद मृत्यु को दिया था, उसे वापस लेता है। उसका संस्कार करके आत्मा में धारण करता है, उसमें प्रवेश करता है।

जब आचार्य के वचन का पालन करता है या उसके लिए करता है जो पाद आचार्य को दिया था वापस लेता है, उसका संस्कार करता है, उसे आत्मा में धारण करता है। उसमें प्रवेश करता है।"[3]

वह स्नातक होकर भिक्षा न मांगे। स्नातक होकर भिक्षा को पराजित कर देता है। अपने वंश वाले और पितरों की भूख को दूर भगा देता है। कहते हैं कि ब्रह्मचारी को उसी से भिक्षा मांगनी चाहिये जिससे उसे मिलने की पूरी आशा है और जो इस बात को जानता है कि सब वेद उसमें आ जाते हैं। जो इस प्रकार का आचरण करता है, वह स्नातक होकर प्रज्वलित अग्नि के सदृश चमकने लगता है।[4]

---

1. दीर्घसत्वं वाऽएषऽउपैति यो ब्रह्मचर्यमुपैति। -श.ब्रा. 11.3.3.2
2. चतुर्धा भूतानि प्रविशन्ति। अग्निं पदा मृत्युं पदाऽऽचार्य पदाऽऽत्यन्येवास्य चतुर्थः पादः परिशिष्यते।।- श.ब्रा. 11.3.3.3.
3. स यदग्नये समिधमाहरति। यऽएवास्याग्नौ पादस्तमेव तेन परिक्रीणाति त ँ संस्कृत्यात्मन्धत्ते सऽएनमाविशति।।

   अथ यदात्मानं दरिद्रीकृत्येव। अहीर्भूत्वा भिक्षते यऽएवास्य पादस्तमेव तेन परिक्रीणाति त ँसंस्कृत्यात्मतमन्धत्ते सऽएनमाविशति।।

   अथ यदाचार्यवचसं करोति। यदाचार्याय कर्म करोति य ऽएवास्याचार्ये पादस्तमेव तेन परिक्रीणाति तँसंस्कृत्यात्मन्धत्ते सऽएनमाविशति।। - श.ब्रा. 11.3.3.4-6
4. न ह वै स्नात्वाभिक्षेत।........सर्वे वेदाऽआविशन्ति यथा ह वाऽअग्निः समिद्धो रोचतऽएवं ँह वै स स्नात्वा रोचते यऽएवं विद्वानब्रह्मचर्य चरति।। -श.ब्रा. 11.3.3.7

उपनयन धर्म के निरूपण के प्रसंग में भी ब्रह्मचारी को नैतिक नियमों से परिचित कराया गया है जैसे कि वह वीर्य का उपार्जन करे (कर्म कुरु), अपनी आत्मा को तेज और ब्रह्मवर्चस् से प्रज्वलित करे (समिधामेहि)। ब्राह्मण को ब्रह्मचारी बनकर स्त्रीप्रसंग न करे।[1]

सत्य ब्रह्म की आत्म रूप में उपासना

उपासना के इस प्रकार का शतपथ ब्राह्मण में शाण्डिल्य ऋषि ने निरूपण किया है इसीलिये यह 'शाण्डिल्य विद्या' के नाम से भी प्रसिद्ध है। तदनुसार सत्यब्रह्म की उपासना करनी चाहिये। यह पुरुष ऋतुमय-यज्ञमय, इच्छाशक्ति वाला अथवा विचारपूर्ण है। जितनी इच्छा के साथ इस लोक से जाता है, उतनी ही इच्छाशक्ति वाला मरणोत्तर परलोक में होता है।[2] इसी क्रम में आगे शाण्डिल्य का कथन है कि आत्मा का ध्यान करना चाहिये, जो मनोमय, प्राणमय, प्रकाशरूप, आकाशरूप, इच्छानुसार वर्धनशील, मनोव्रत, तीव्रगतिसम्पन्न, सत्यसंकल्प, सत्यधृति, सर्वगन्ध, सर्वरस सभी दिशाओं में गति वाला, सर्वव्यापक, वाक्रहित और आदररहित है। इसी आत्मा में ज्योतिर्मय पुरुष रहता है। यह इतना छोटा है जैसे चावल, जौ, ज्वार इत्यादि। निर्धूम अग्नि के समान यह द्युलोक से बड़ा, पृथ्वी से बड़ा तथा सब भूतों से बड़ा है। जिसकी ऐसी श्रद्धा है, वह शोक को प्राप्त नहीं होता है।[3]

---

1. न ब्राह्मणं ब्रह्मचर्यमुपनीय मिथुनं चरेद्गर्भो वाऽएष भवति यो ब्रह्मचर्यमुपैति नेदिमं ब्राह्मणं विषिक्ताद्रेतसो जनयानीति -श. ब्रा. 11.5.4.16.
2. सत्यं ब्रह्मेत्युपासीत्। अथ खलु क्रतुमयोऽयं पुरुषः स यत्क्रतुरयमस्माल्लोकात्प्रैत्येवं क्रतुर्हामुं लोकं प्रेत्याभिसम्भवति।।--श.ब्रा. 10.6.3.1
3. स ऽआत्मानमुपासीत। मनोमयं प्राणशरीरं भारूपमाकाशात्मानं कामरूपिणं मनोजवसꣳसत्यसंकल्पꣳसत्यधृतिꣳसर्वगन्धꣳसर्वरसꣳ सर्वाऽअनुदिशः प्रभूतꣳ सर्वमिदमभ्याप्तमवाक्कमनादरं यथा व्रीहिर्वा यवो वा श्यामाकोवाश्यामकतण्डुलो वैवमयमन्तरात्मन्पुरुषो हिरण्यमयो यथा ज्योतिरधूममेवं ज्यायान्दिवो ज्यायानाकाशाज्ज्यायानस्यै पृथिव्यैज्यायान्त्सर्वेभ्यो भूतेभ्यः स प्राणस्यात्मैष मऽआत्ममितऽआत्मानं प्रेत्याभिसम्भविष्यामीति यस्य स्यादद्धा न विचिकित्साऽस्तीति ह स्माह शाण्डिल्यऽएवमेतदिति।।-श.ब्रा. 10.3.6.2.

ब्रह्मज्ञान में आवश्यक प्रत्ययों की विवेचना करते हुए कहा गया है कि "ब्रह्मज्ञान में ब्रह्मचर्य, तप, श्रद्धा और नाशरहित यज्ञ सहायक हैं।"[1]

धर्म और सत्य एक है

समाज में धर्म के मार्ग का अनुगमन करना कल्याणकारी माना गया है और इस मार्ग के अनुसरण में सत्य, श्रद्धा, शुचिता इत्यादि का पालन करना उपासकों के लिये प्रत्येक पग पर आवश्यक माने गये हैं क्योंकि हमें ज्ञात है कि सत्य-श्रद्धादि के पालन से ही ईश्वर प्रसन्न होता है और उपासना का पूर्ण फल प्रदान करता है। सम्भवतः यही दृष्टि उत्तर वैदिक काल में भी रही होगी तभी तो शतपथ ब्राह्मण में यह कहा गया है कि "जो सत्य बोलता है, वह धर्म की बात कहता है, धर्म की बात कहने वाला सत्य बोलता है।"[2] इसी में आगे धर्म को श्रेय स्वीकार किया गया है।[3]

इस प्रकार यहाँ पर धर्म और सत्य का एकरूप में प्रतिपादन किया गया है।

देवों और असुरों के क्रमशः सत्य और असत्य-भाषण का प्रतिफल

शतपथ ब्राह्मण के नवम काण्ड के पञ्चम अध्याय में इस सम्बन्ध में इस प्रकार का वर्णन मिलता है-"प्रजापति के पुत्र देव और असुरों ने पिता प्रजापति के दायें भाग को लिया। सत्य और अमृत को। दोनों सत्य बोलने लगे दोनों अमृत। वे एक सा बोलते थे और एक से थे।

देवों ने अनृत को छोड़कर असत्य बोलना आरम्भ किया असुरों ने सत्य को छोड़कर अनृत बोलना प्रारम्भ किया। असुरों में जो सत्य था उसने देखा कि देवों ने अनृत त्याग दिया। सत्य को पकड़ा। मैं इनके पास चलूं। अनृत उन

---

1. ब्रह्मचर्येण तपसा श्रद्धया यज्ञेनाशकेन चैतमव विदित्वा मुनिर्भवति
   -श.ब्रा. 14.7.2.25.
2. स धर्मः सत्यं वै तत् तस्मात् सत्यं वदन्तमाहुर्धर्मं वदतीति धर्मं वा वदन्तं सत्यं वदतीति-एदतद्ध्येवैतदुभयं भवति -श.ब्रा. 14.4.2.26
3. तच्छ्रेयो रूपमत्यसृजत धर्मम् -श.ब्रा. 14.4.2.26

असुरों के पास आ गया। देव सब सच बोलने लगे असुर सब झूठ। देव परिश्रम से सत्य बोलकर बहुत निन्दित और दरिद्र हो गये। इसलिये जो सच बोलता है वह निन्दित और दरिद्र हो जाता है। परन्तु वह अन्त में अच्छा फल पाता है। देवों ने अन्त में अच्छा फल पाया।"[1]

"असुर परिश्रम करके झूठ बोलने लगे। वे ऊसर के समान बढ़ गये। बहुत उन्नत हो गये। इसलिये जो परिश्रम करके झूठ बोलता है वह ऊसर के समान बढ़ता है और बहुत उन्नत हो जाता है परन्तु अन्त में उसका पराभव हो जाता है। अन्त में असुरों का पराभव हुआ।"[2]

ये सत्य ही त्रयी विद्या है। देव बोले "हम यज्ञ कर चुके अब सत्य का प्रसार करें।"[3]

उचित आचरण करना चाहिये

शतपथ ब्राह्मण के प्रथम काण्ड में आसुरी प्रवृत्तियों से दूर रहने हेतु संकेत किया गया है-"परावसु को यज्ञ से निकाल दिया जाता है क्योंकि यह परावसु पराया माल रखने वाला है, जो आसुरी प्रवृत्ति का है।"[4]

मनुष्य की आसुरी प्रवृत्तियाँ पापों को उत्पन्न करती हैं इसलिये पाप से रक्षा करने हेतु कहा गया है कि "छः उर्वियाँ (अग्नि, पृथ्वी, जल, वायु, दिन और रात) पाप से रक्षा करें।"[5]

---

1. ते देवाः। सर्वं ँसत्यमवदन्त्सर्वमसुराऽअनृतं देवा ऽआसक्ति सत्यं वदन्तऽऐषा-वीरतराऽइवासुरनाढ्यतराऽइवतस्मादु हैतद्य ऽआसक्ति सत्यं वदत्यैषावीरतर ऽइवैव भवत्यनाढ्यतर ऽइव सहत्वेवान्ततो भवति देवा ह्येवान्ततोऽभवन् -श.ब्रा. 9.5.1.16
2. अथ ह्यसुराः। आसक्तयनृतं वदन्त ऽऊषऽइव पिपिशुराढ्या इवासुस्तस्मादु है तद्यऽआसक्त्यनृतं वदत्यूषऽइवैव पिश्यत्यायद्धव भवति परा ह त्वेवान्ततो भवति परा ह्यसुराऽभवन्।। -9.5.1.17.
3. तद्यत्तत्सत्यम्। त्रयी सा विद्या ते देवा ऽअब्रुवन्यज्ञं कृत्वेदँसत्यं तनवामहाऽइति।। -श.ब्रा. 9.5.1.18.
4. श.ब्रा. 1.5.1.23.
5. श.ब्रा. 1.5.1.18.

मनुष्यों को पितादि के प्रति श्रद्धा और कृतज्ञतापूर्वक आचरण करना चाहिये। इस सम्बन्ध में पितृयज्ञ का प्रतिपादन पितरों एवं पूर्वजों के प्रति श्रद्धा एवं कृतज्ञता के प्रतीक के रूप में किया गया है।[1]

श्रद्धा एवं क्रोधाभाव का महत्त्व

शतपथ ब्राह्मण के ग्यारहवें काण्ड के षष्ठ अध्याय में वर्णन है कि "वरुण और उसके पुत्र भृगु की जिसे वरुण ने विद्या के अहंकार से ग्रस्त जानकर पूर्व, दक्षिण, उत्तर प्रभृति दिशाओं में भेजा था और जिसने वहाँ जाकर विभिन्न प्रकार के लोगों को एक दूसरे को काट-काट कर खाते देखा था तथा दो क्रमशः सुन्दर और अतिसुन्दर स्त्रियों को तथा एक काले-पीले आँखों वाले दण्डपाणि व्यक्ति को देखा था-इस आख्यायिका के माध्यम से अग्निहोत्र सम्पादन में श्रद्धा और क्रोधाभाव के महत्त्व का प्रतिपादन किया है।"[2]

इसी में आगे वैदेहजनक, श्वेतकेतु, आरुणेय, सोम-शुष्म, सात्ययज्ञि, और याज्ञवल्क्य के प्रसंग में एक आख्यायिका मिलती है[3] जिसके माध्यम से यह प्रतिपादन किया गया है कि अग्निहोत्र का अधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक स्वरूप समझ कर ही अग्निहोत्र करना चाहिये। अग्निहोत्र का सामान्य स्वरूप यही है, जैसे श्वेतकेतु, आरुणेय ने बतलाया-आदित्यरूपी घर्म (यज्ञपात्र) में सायंकाल और अग्निरूपी घर्म में प्रातःकाल आहुति देना। सोशशुष्म सात्ययज्ञि ने इससे कुछ आगे जाकर इसे तेज की तेज में आहुति डालना कहा। इसके पश्चात् याज्ञवल्क्य ने सूर्यास्त के साथ गये देवों को अग्निहोत्र के माध्यम से वापस लौटा कर उन्हें तृप्त करने की प्रक्रिया को अग्निहोत्र बतलाया। लेकिन अन्त में जनक ने यह बतलाया कि अग्निहोत्र की दोनों आहुतियाँ वास्तव में अन्तरिक्ष को ही आहनीय बनाती हैं, वहाँ वे वायु को समिधा और किरण में शुक्र आहुति देती है। फिर वे द्यौलोक में पहुँचकर उसे

---

1. श.ब्रा. 2.6.1.
2. सा या कल्याणी सा श्रद्धा स यत्पूर्वामाहुतिं जुहोति तेन श्रद्धामवरुन्धे।............क्रोधो वै सोऽभूत सा यत् सुच्यपऽआसीन यान्निनयति तेन क्रोधमवरुन्धे।

   -श.ब्रा.11.6.1.1.13.
3. श.ब्रा. 11.6.2.1-10.

आहनीय बनाती हैं, आदित्य को बनाती हैं, समिधा और चन्द्रमा को शुक्र आहुति आगे पृथ्वी पर आने पर अग्नि को समिधा और औषधियों को शुक्र आहुति बनाती है। पुरुष में प्रवेश करके यह उसकी जिह्वा को समिधा और अन्न को शुक्राहुति बनाती हैं। स्त्री में प्रवेश करके ही ये आहुतियाँ सन्तानोत्पादन का माध्यम बनती हैं। इस प्रकार अग्निहोत्रजन्य आहुतियों की उत्क्रान्ति, गति, प्रतिष्ठा, तृप्ति, पुनरावृत्ति तथा प्रत्युत्थानी लोक को समझने का इसमें आग्रह है।

आशीर्वाद की आकांक्षा से देवोपासना कैसे करनी चाहिये

इस सम्बन्ध में शतपथ ब्राह्मण में उल्लिखित है कि प्रियव्रत रोहिणायन के अनुसार जब कोई देवों से आशीर्वाद लेना चाहे तो उसे उनकी इस प्रकार से उपासना करनी चाहिये-"आपकी आत्मा आनन्दस्वरूप है। मेरी यह कामना है। वह पूरी हो जो इस रहस्य को समझता है, वह इस तृप्ति को, इस गति को, इस आनन्द को, इस आत्मा को प्राप्त कर लेता है।"[1]

सोमयाग की दीक्षा

शतपथ ब्राह्मण के तृतीय काण्ड के प्रथम अध्याय में सोमयाग के प्रसंग में दी गई दीक्षा वर्णित है जो इस प्रकार है-"प्राणी के शरीर का वह भाग अमेध्य या अपवित्र माना जाता है, जहाँ पानी नहीं पहुँचता इसलिये दीक्षा में नाखून और केश कटवाने का विधान है।"[2]

इसी में आगे इस समय मौन रखने की विधान है।[3]

पुरुष को झूठ बोलने के कारण अपवित्र माना गया है।[4]

जल तथा घी की महत्ता शुद्धि करने के कारण बतायी गयी है।[5]

---

1. तस्माद्यां देवेष्वाशिषमिच्छेदेतेनैवोपतिष्ठेतानन्दो व आत्माऽसौ मे कामः स मे समृध्यतामिति स हैवास्म स कामऽऋध्यते यत्कामो भवेत्यत् ह वै तृप्तिमेतां गतिमंतामानन्दयेन मात्मानमभि संभवति यऽएवं वेद ।।-श.ब्रा. 10.3.5.14
2. श.ब्रा.3.1.2.2.
3. श.ब्रा.3.1.2.8.
4. श.ब्रा.3.1.2.10
5. श.ब्रा. 3.1.2.11

दीक्षा और तप के द्वारा यजमान की शुद्धि का भी विधान किया गया है।[1] पवित्रता के प्रसंग में उपवास रखने का भी निर्देश मिलता है।[2]

अग्नि हमें निन्दित पाप से बचाये; इस हेतु यजुर्वेद के इस अंश की स्तुति की जाती थी-"अग्निर्नः पातु दुरितादवद्यात्"।

व्रत के नियमों के विरुद्ध चलने वाले, क्रोध करने वाले और मिथ्या व्यवहार करने वाले का व्रत टूट जाता है।[3]

वाणी का मनुष्य को याज्ञिक-कृत्य में किस प्रकार व्यवहार करना चाहिये, इसके विषय में कहा गया है-"सूर्यास्त होने पर ही वाणी खुलती है। वाणी यज्ञ है अतः रुक-रुक कर कम बोलकर उसे पूर्ण करता है। साधारण मनुष्य के समान बहुत नहीं बोलता।"[4]

वाणी को चित्त एवं मन का अनुगमन करने वाली कहा गया है।[5]

इसी में आगे अग्नि से, सोम क्रय (आतिथ्येष्टि) के प्रसंग में प्रार्थना की जाती है कि वह यजमान को दुश्चरित से हटाये और अच्छे आचरण में लगाये-

'परिमाग्ने दुश्चरिताद् बाधस्वा मा सुचरिते भज।'[6]

सोम राजा को शकट तक लाने के समय यह मन्त्र पढ़ा जाता है-

'प्रति पन्था मपद्महि स्वस्ति गामनेहसम्।'[7]

अर्थात् हम कल्याणकारक और पापरहित मार्ग का अवलम्बन करते हैं।[8]

प्राण और अपान के कर्षण का प्रयोजन बुराइयों को निकालना है

शतपथ ब्राह्मण के अष्टम काण्ड गत द्वितीय अध्याय में बुराइयों को दूर

---

1. श.ब्रा. 3.1.2.20
2. यजु. 4.15.
3. श.ब्रा. 3.1.2.24
4. श.ब्रा. 3.1.2.29
5. श.ब्रा. 3.2.4.16
6. यजु. 4.20
7. यजु. 4.29
8. श.ब्रा. 3.3.3.15

करने हेतु उल्लेख प्राप्त होता है जिसमें कहा गया है कि "जब यजमान प्राण खींचता है तो उसके सामने जो बुराई है, उससे दूर छूट जाता है, अपान को खींच कर वह पीछे की बुराई को दूर करता है। भुजाओं से काम करके वह अगल-बगल के पाप को दूर करता है। जब अन्न खाता है तो उस पाप को दूर करता है, जो ऊपर है। सदा सोते हुए भी इस रहस्य का ज्ञाता बुराई को दूर करता है।"[1]

दीक्षा की रचना श्रद्धा से हुई

ब्राह्मण ग्रन्थों में श्रद्धा भी विशिष्ट जीवन मूल्य के रूप में उल्लिखित है। लोक की प्रतिष्ठा श्रद्धा से ही होती है। अमृत का दोहन करती हुई श्रद्धा कामना की बछेरी है। वह संसार की पालिका है।[2]

यज्ञानुष्ठान के उद्देश्य की पूर्ति में आवश्यक बताये गये तत्त्वों में श्रद्धा की भी परिगणना की गई है।[3] इसी में एक अन्य स्थल पर दीक्षा की रचना श्रद्धा के द्वारा हुई[4] ऐसा कहा गया है।

यज्ञ में विद्वान् दीक्षितों की निन्दा नहीं करनी चाहिये। ऐसा करने वाले देवों से दूर हो जाते हैं।[5]

श्रम एवं साधना से देवताओं को पृथ्वी प्राप्त हुई

मनुष्य के जीवन का उद्देश्य है 'श्रेष्ठ' लक्ष्य की प्राप्ति। श्रेष्ठ लक्ष्य की प्राप्ति श्रेष्ठ आचरण के द्वारा ही सम्भव है। इसमें मनुष्य के श्रम एवं साधना के महत्त्व का कदापि विस्मरण नहीं किया जाता है। यह उचित ही है और शतपथ

---

1. स यद्ध वाऽएवं वित्प्राणिति। योऽस्य पुरस्तात्पाप्मा भवति तं तेनापहतेऽथ यदपानिति तेन तं यः पश्चादथ यद्बाहुभ्यां कर्म कुरुते तेन तं योऽभितोऽथ यदन्नमत्ति तेन तं य ऽउपरिष्टात्तत्सर्वदा ह वाऽएवंवित्पाप्मानमपहतेऽपि स्वपंस्तस्मादेवं विदुषः पापं न कीर्तयेन्नेदस्य पाप्मासानीति।। -8.5.2.17.
2. श्रद्धया देवो देवत्यश्नुते। कामवत्सामृत दुहाना। श्रद्धा देवी प्रथमजा ऋतस्य। विश्वस्य भर्त्री जगतः प्रतिष्ठा। तां श्रद्धां हविषा यजामहे-श.ब्रा. 3.12.3.1
3. तदेषा सत्येन श्रमेण तपसा श्रद्धया यज्ञेनाहुतिभिऽवरुद्धं भवति-श.ब्रा. 12.1.3.23
4. श्रद्धाया वै देवाः दीक्षां निरमिमत-श.ब्रा.12.1.2.1
5. स यो हैवं विदुषां दीक्षितानां पापकं सत्रे कीर्तयेद् एतेभ्यस्त्वा देवताभ्यऽआवृश्चाम -श ब्रा. 12.1.2.1

ब्राह्मण में भी एक प्रसंग में श्रम एवं साधना की महत्ता का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है कि "श्रम और साधना से देवताओं को पृथ्वी की प्राप्ति हुई है।"[1]

देवों ने पृथ्वी को अच्छी और कल्याणकारी बनाया इसलिये भूमि को रसवती और बसने योग्य बनाना देवत्व का लक्षण माना गया है।[2]

श्रम और तप का महत्त्व

शतपथ ब्राह्मणकार ने इस अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए कि हमें अग्निहोत्र क्यों करना चाहिये-श्रम एवं तपस् का महत्त्व बतलाया है। उनका कथन है कि "एकाकी प्रजापति ने श्रम एवं तपस् से ही अपने को प्रकट किया[3] इसलिये अग्निहोत्र अवश्य करना चाहिये।"[4] अग्निहोत्र के प्रसंग में रात्रि की गर्हा पापयुक्त होने के कारण ही की गई है।[5]

अग्निहोत्र की दोनों आहुतियों का सम्बन्ध आशा-निराशा, भूत-भविष्य और जात-जनिष्यमान से स्थापित किया गया है।[6] यह कृत्य सत्यता से करना चाहिये, क्योंकि तभी वह देवों को प्राप्त होता है।[7]

श्रम और तपस् से प्रजोत्पादन

कृष्ण यजुर्वेदीय तैत्तिरीय ब्राह्मण के द्वितीय काण्ड के अनुसार सृष्टि से पहले किसी भी अन्य वस्तु की सत्ता नहीं मानी गयी है। अनभिव्यक्त नामरूप (असत्) ने ही यह इच्छा की कि मैं सत् रूप हो जाऊँ-

तदसदेव सन्मनोऽकुरुत स्यामिति।

उसने तप किया जिससे धूम, ज्योति, अग्नि, अर्चि, मरीचि, उदार और अभ्र की क्रमशः सृष्टि हुई। स्रष्टा की वस्ति (मूत्राशय) के भेदन से समुद्र उत्पन्न हुआ-इसी कारण समुद्र का जल आज भी अपेय समझा जाता है।

---

1. तेनार्चन्तः श्राम्यन्तश्चेरुस्ते तथेव इमां सर्वां पृथिवी समविन्दत -श.ब्रा. 1.2.5.7.
2. श.ब्रा. 1.2.5.11
3. श.ब्रा. 2.2.4.1
4. श.ब्रा. 2.2.4.8
5. श.ब्रा. 2.2.3.6
6. श.ब्रा. 2.2.1.24
7. श.ब्रा. 2.3.1.10

तदनन्तर सब कुछ जलमय हो गया। इस पर प्रजापति को रुलाई आ गयी कि जब मैं कुछ भी नहीं कर सकता, कुछ भी रच नहीं सकता तो मेरी उत्पत्ति ही क्यों हुई? प्रजापति के इसी अश्रुजल के समुद्र में गिरने से पृथिवी बनी। कालान्तर में अन्तरिक्ष और द्युलोक बने। प्रजापति के जघनभाग से असुरों की सृष्टि हुई। पुनः प्रजापति ने तपस्या की, जिससे मनुष्यों, देवों और ऋतुओं की सृष्टि हुई। इस प्रक्रिया में मन का योगदान सर्वाधिक रहा।[1] संकल्पित अर्थ वाला यह मन ही श्वोवस्य नामक ब्रह्म है।[2]

शतपथ ब्राह्मण में चतुर्भास्य यज्ञ के प्रसंग में यह कहा गया है कि एकाकी रूप में प्रजापति ने श्रम और तपस् से प्रजायें उत्पन्न कीं।[3]

श्रम और तपस् से पृथिव्यादि लोकों, अग्न्यादि देवों, ऋगादि वेदों, व्याहृतियों का प्रादुर्भाव

शतपथ ब्राह्मण में श्रम एवं तप से पृथिव्यादिलोकों, अग्न्यादि देवों, ऋगादि वेदों और व्याहृतियों के प्रादुर्भाव के सम्बन्ध में वर्णन किया गया है कि "पहले अकेला प्रजापति ही था। उसने चाहा कि मैं सन्तान वाला हो जाऊँ। उसने श्रम किया, तप किया। उसके श्रम और तप से तीन लोक उत्पन्न हुए-पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्यौ। इसने इन लोकों को तपाया। उनसे शुक्र उत्पन्न हुआ-ऋग्वेद से भू, यजुर्वेद से भुवः, सामवेद से स्वः। ऋग्वेद से होत्र को बनाया, यजुर्वेद से आध्वर्यव को, सामवेद से उद्गीथ को। त्रयी विद्या का जो शुक्र था उससे ब्रह्मत्व निकला।"[4]

---

1. असतोऽधिमनोऽसृज्यत। मनः प्रजापतिः प्रजा असृजत्।- तै. ब्रा. 2.2.9.10
2. यदिदं किं च तदेतच्छ्वोवस्यं नाम ब्रह्म। - तै.ब्रा. 2.2.9.10
3. श.ब्रा. 2.5.1.1
4. प्रजापतिर्वाऽइदमग्रऽआसीत्। एकऽएव सोऽकामयत स्यां प्रजायेयेति सोऽश्राम्यत्स तपोऽतप्यत तस्माच्छ्रान्तात्ते पानात्त्रयो लोकाऽअसृज्यन्त पृथिव्यन्तरिक्षं द्यौः।। सऽइमाँस्त्रींल्लोकानभितताप। तेभ्यस्तप्तेभ्यस्त्रीणि ज्योतींष्यजायन्ताग्निर्योऽयं पवते सूर्यः।। सऽइमानि त्रीणि ज्योतींष्यभितताप। तेभ्यस्तप्तेभ्यस्त्रयो वेदाऽअजायन्ताग्ने-ऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेदः। तेभ्यस्तप्तेभ्यस्त्रीणि शुक्राण्यजायन्त भूरित्यृग्वेदाद्भुवऽइत यजुर्वेदात्स्वरिति सामवेदात्तदृग्वेदेनैव होत्रमकुर्वत यजुर्वेदेनाध्वर्यव सामवेदेनोद्गीथं यदेव त्रटयै विद्यायै शुक्रं ब्रह्मत्वमथोच्चक्राम।। -श.ब्रा. 11.5.8.1-4.

श्रम और तप के बल से ही ऋषियों ने ऋषित्व प्राप्त किया

शतपथ ब्राह्मण में 'ऋषि' शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार बतलायी गयी है-

यत्पुरास्मात्सर्वस्मादिदमिच्छन्तः श्रमेण तपसारिषंस्तस्मादृषयः[1]

यह व्युत्पत्ति 'ऋषिर्दर्शनात्' से भिन्न है। यहाँ तपोजन्य कष्ट उठाना ही ऋषित्व है। सृष्टि का क्रम इन्हीं से आगे बढ़ा। त्रयी विद्या उसी से बनी जिसे पढ़कर मनुष्य प्रतिष्ठित होता है।[2]

इस धरती पर कीचड़, मिट्टी, रेह, रेत, शर्करा, पत्थर, लोहा, सोना, औषधि, वनस्पति आदि जो कुछ भी है वह सब श्रम और तप से सम्पन्न हुआ है।[3]

तप सर्वस्व है

तैत्तिरीय ब्राह्मण में तपोमय जीवन को दूसरे महनीय मूल्य का दर्जा प्रदान किया गया है। तपस्या से देवों ने उच्च स्थिति प्राप्त की, ऋषियों ने स्वर्गिक सुख पाया और अपने शत्रुओं का विनाश किया।[4] तप माता, पिता एवं पुत्र सभी कुछ है। सम्पूर्ण विश्व उसी पर केन्द्रित है अतएव वह सर्वाधिक आदरणीय हैं।[5]

पुण्य, अर्चा और श्रम का महत्त्व

शतपथ ब्राह्मण में अतिग्राह्य ग्रह के प्रसंग में कहा गया है कि देवता

---

1. श.ब्रा. 6.1.1.1.
2. सोऽयं पुरुषः प्रजापरितरकामयत् भूयान्स्यां प्रजायेयेति। सोऽश्राम्यत स तपोऽतप्यत् स श्रान्तस्तेपानो ब्रह्मैव प्रथममसृजत त्रयीमेव विद्यां सैवाऽस्मै प्रतिष्ठाऽभवत्।
   -श.ब्रा. 6.1.1.8
3. स श्रान्तस्तेपानोः फेनमसृजत सोऽवेदन्यद्वा भूयो वै भवति श्राम्याण्येवेति सश्रान्तस्तेपानो मृदं शुष्कापंमूष सिकतं शर्करामश्मानमयो हिरण्यमोषधिवनस्पत्यसृजत तेनेमां पृथिवीं प्राच्छादयत्।' श.ब्रा. 6.1.1.1.3
4. तपसा देवाः देवतामग्र आयन्। तपसर्षयः स्वरन्वविन्दन्। तपसा सपत्नान् प्रणुदामरातीः। तै.ब्रा. 3.12.3.1
5. तै. ब्रा. 3.12.3.1

अपने पुण्य, अर्चा और श्रम के बल पर ही आगे वढ़गये। जो इस रहस्य को जान लेता है, वह भी आगे बढ़ जाता है।[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि शुक्ल यजुर्वेद एवं कृष्ण यजुर्वेद दोनों शाखाओं के ब्राह्मण ग्रन्थों में वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक जीवन के विविध पक्षों में सन्दर्भित श्रेष्ठ आचार का प्रतिपादन स्थल-स्थल पर हुआ है, लेकिन शतपथ ब्राह्मण में समाविष्ट याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी संवाद (14.5.4) का विशिष्ट महत्त्व है। इसके माध्यम से मनुष्य को सांसारिक सुखों से आध्यत्मिकता की ओर प्रेरित करने का प्रयत्न किया गया है। तभी तो कहा गया है कि धन से अमरता नहीं मिलती।[2]

अतः आत्मा का ही दर्शन, श्रवण, मनन एवं ध्यान करना चाहिये।[3]

इसी प्रकार तैत्तिरीय ब्राह्मणोक्त मानव आचरण विषयक मान्यता यह है कि मनुष्य का आचरण देवों के समान होना चाहिये।[4] तैत्तिरीय ब्राह्मण में एक अन्य स्थल पर दुर्गुण-निवारण और सद्गुण-संस्थापन हेतु प्रार्थना की गई है क्योंकि दुर्गुणों को दूर करके ही मनुष्य पापों और दुर्विचारों से बचता है और सद्गुणों की ओर प्रवृत्त होता है। सद्गुणों में यह प्रवृत्ति जब बद्धमूल हो जाती है तब दुर्भावना आदि का क्षय हो जाता है और सद्गुण ही निरन्तर स्थान पाते हैं। तभी मानव-जीवन देवत्व की ओर अग्रसर होता है अतः सद्गुणों की प्रतिष्ठा-हेतु की गई प्रार्थना इस प्रकार है-

"हे संसार के उत्पादक देव! आप हमारे सारे दुर्गुणों को दूर कीजिये और जो कल्याणकारी गुण हो उनको हमारे अन्दर प्रेरित कीजिये।"[5]

निष्कर्षतः यह कहना उचित होगा कि यजुर्वेदीय ब्राह्मणग्रन्थों में

---

1. श. ब्रा. 4.5.4.1-2
2. अमृतत्वस्य तु नाशाऽस्ति वित्तेन-श.ब्रा. 1.4.5.4
3. आत्मा वाऽऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेयि।

   -श.ब्रा. 1.4.5.4.5.
4. इति देवा अकुर्वत। इत्यु वै मनुष्याः कुर्वते। -तै.ब्रा. 1.5.9.4
5. ओं विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव। यद् भद्रं तन्न आ सुव।।

   -तै.ब्रा. 2.4.6.3.

सत्य-भाषण, वाणी के उचित प्रयोग और मधुरता, तप, श्रद्धा, संयम, आतिथ्य, संगठन एवं सहयोग की भावना सम्पत्ति के परोपकार हेतु विनियोग, मांस-भक्षण से दूर रहने एवं ब्रह्मचर्य-पालन जैसे अनेक आचारिक तथ्यों पर विशेष बल दिया गया है और असत्य, प्रमाद, आपराधिक कृत्यों इत्यादि की निन्दा की गई। ब्राह्मण-ग्रन्थों में प्रतिपादित आचारदर्शन का यह स्वरूप निःसन्देह मनुष्य को सर्वांगीण उन्नति के पथ पर अग्रसर करने हेतु ही प्रस्तुत किया गया है, ऐसा प्रतीत होता है।

अष्टम अध्याय

सामवेदीय ताण्ड्यादि एवम् अथर्ववेदीय गोपथ ब्राह्मण ग्रन्थों में निरूपित आचार-तत्त्व

सामवेद के ब्राह्मण ग्रन्थों की संख्या, अन्य वेदों की अपेक्षा सर्वाधिक है। अति प्राचीनकाल से ही ऐसी मान्यता रही है कि सामवेद (कौथुम) के आठ ब्राह्मण ग्रन्थ हैं। इस विषय में कुमारिल भट्ट का कथन इस प्रकार है-

ब्राह्मणानि हि यान्यष्टौ सरहस्यान्यधीयते।
छन्दोगास्तेषु सर्वेषु न कश्चिन्नियतः स्वरः।।[1]

सायणाचार्य ने भी इन्हीं का समर्थन करते हुए अपना मत व्यक्त किया है-

अष्टो हि ब्राह्मणग्रन्थाः, प्रौढं ब्राह्मणमादिमम्।
षड्विंशाख्यं द्वितीयं स्यात् ततः सामविधिर्भवेत्।।
आर्षेयं देवताध्यायो भवेदुपनिषत् ततः।
संहितोपनिषद् वंशो ग्रन्था अष्टावितीरिताः।।[2]

इस प्रकार ताण्ड्य महाब्राह्मण के साथ ही षडविंश, सामविधान, आर्षेय, देवताध्याय, छान्दोग्य तथा संहितोपनिषद् संज्ञक ब्राह्मणों का भी सम्बन्ध कौथुम शाखा से बतलाया जाता है। कौथुम और राणायनीय शाखाओं में मात्र उच्चारण की दृष्टि से ही भिन्नता प्रतीतं होती है इसलिये इन सभी ब्राह्मण ग्रन्थों को उस शाखा से भी सम्बन्धित मान लिया जाता है। ये सभी उपलब्ध हैं। ताण्ड्य सहित सभी आठ ब्राह्मण उपलब्ध और मान्य हैं। तलवकार सहित जैमिनीय शाखा के अब तक मात्र तीन ब्राह्मण ग्रन्थों का ही प्रकाशन हुआ है जो ये हैं- 1. जैमिनीय ब्राह्मण, 2. जैमिनीय आर्षेय ब्राह्मण और 3. जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण।

---

1. तन्त्रवार्तिक- 1.3.2.1. आनन्दाश्रम संस्करण, पृष्ठ सं. 140
2. सामविधान ब्राह्मण-भाष्य उपक्रमणिका.

इनके अतिरिक्त डॉ. वटकृष्ण घोष ने कतिपय ऐसे सामवेदीय ब्राह्मणों के उद्धरण उपलब्ध कराये हैं जो यद्यपि मूल रूप में प्राप्त नहीं होते हैं किन्तु उनके उद्धरण विभिन्न ग्रन्थों में मिलते हैं।[1] इनमें भी शाट्यायन और भाल्लवि ब्राह्मण ग्रन्थ प्रमुख हैं। शाट्यायन ब्राह्मण के सत्तर उद्धरणों में से अधिकांश ऋग्वेद के सायण-भाष्य[2] तथा ताण्ड्य महाब्राह्मण के सायण भाष्य[3] में प्राप्त होते हैं। इनके अलावा भी शाट्यायन के उद्धरणों को जैमिनीय ब्राह्मण और ब्रह्मसूत्र के शांकरभाष्य[4] में भी देखा जा सकता है। इसके अधिकांश उल्लेखों के जैमिनीय ब्राह्मण में प्राप्त होने से ऐसा प्रतीत होता है कि सम्भवतः शाट्यायन और जैमिनि ब्राह्मण ग्रन्थ बाद में एकीकृत कर दिये गये होंगे। प्रो. कलान्द ने भी ऐसी ही सम्भावना व्यक्त की है।[5]

सामवेद की भाल्लविशाखा का उल्लेख भी ताण्ड्य महाब्राह्मण में किया है। इसके अतिरिक्त इसके उद्धरण हमें कतिपय श्रौतसूत्रों, महाभाष्य (4.2.104) तथा काशिका (4.2.66; 4.3.105) में भी मिलते हैं।

परम्परा की दृष्टि से सामवेद के ब्राह्मणग्रन्थों को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। इस प्रकार ब्राह्मण के परम्परागत लक्षण का पालन करने वाले ग्रन्थों को 'ब्राह्मण' ग्रन्थ और ब्राह्मण के सदृश ग्रन्थों को 'अनुब्राह्मण' कह कर सम्बोधित किया जा सकता है।

'अनुब्राह्मण' शब्द विषयक जानकारी हमें पाणिनि की अष्टाध्यायी से प्राप्त होती है जहाँ 'अनुब्राह्मणं' शब्द का प्रयोग 'अनुब्राह्मणवादीनि'[6] सूत्र के अन्तर्गत परिलक्षित होता है। वहाँ पर इसका अभिप्राय है ब्राह्मण सदृश ग्रन्थ।

विद्वानों ने इन सामवेद के आठ ब्राह्मणों में से 'ताण्ड्य' और 'षड्विंश' को ब्राह्मण कहा है तथा शेष छः अन्य-सामविधान, आर्षेय, देवताध्याय, उपनिषद्, संहितोपनिषद् और वंश ब्राह्मणों को 'अनुब्राह्मण' की संज्ञा प्रदान की गई है।[7]

1. वटकृष्ण घोष, कलेक्शन ऑफ फ्रैग्मेण्ट्स फॉम लास्ट ब्राह्मणाज' कलकत्ता, 1935
2. ऋ.सं. 1.105.10.7.8.91.1.8.91.6. पर सायण-भाष्य
3. ताण्ड्य ब्राह्मण- 4.2.40.4.3.2.4.5.14.4.6.23. पर सायण-भाष्य,
4. ब्रह्मसूत्र-3.3.25;3.3.26;4.1.16;4 1.17 पर शंकर-भाष्य,
5. पंचविंश ब्राह्मण की भूमिका, पृष्ठ 18
6. अष्टाध्यायी, 4.2.62
7. द्रष्टव्य-सत्यव्रत सामश्रमी-आर्षेय ब्राह्मण का मुखपृष्ठ; ताण्ड्यपरिशिष्टभूतानि वा अनुब्राह्मणानि वा अपराण्यपि सप्ताधीयन्ते-निरुक्तालोचन, पृ. सं. 197.'

सायणाचार्य के द्वारा उल्लिखित क्रम से सामवेदीय ब्राह्मणग्रन्थों का परिचय इस प्रकार है-

ताण्ड्य ब्राह्मण

इस ब्राह्मण ग्रन्थ के आकार-प्रकार की विशालता और वर्ण्यविषयों की गरिमा के कारण इसे महाब्राह्मण तथा प्रौढ़ ब्राह्मण के नाम से भी जाना जाता है। ताण्ड्य महाब्राह्मण पंचपंचिकात्मक है। काशिका में प्रयुक्त 'चत्वारिंशब्राह्मण' शब्द ताण्ड्य ब्राह्मण के ही चालीस अध्यायों वाले इसके स्वरूप को बतलाने के उद्देश्य से किया गया है,[1] ऐसा प्रतीत होता है। सत्यव्रत सामश्रमी ने भी स्पष्ट रूप से दृढ़ता के साथ ताण्ड्य ब्राह्मण के चत्वारिंशदध्यायात्मक स्वरूप का समर्थन किया है।[2] षड्विंश ब्राह्मण को स्पष्ट रूप से ताण्ड्य ब्राह्मण का भाग स्वीकार किया गया है।

इस ब्राह्मण के रचयिता कौन हैं? इस सन्दर्भ में स्वयं ताण्ड्य ब्राह्मण से कुछ भी ज्ञात नहीं होता है। परम्परा से हमें यह अवश्य ज्ञात होता है कि 'तण्डि' नामक किसी सामवेद के आचार्य के द्वारा प्रोक्त होने के कारण यह 'तण्डि' अथवा 'ताण्ड्य' ब्राह्मण के नाम से प्रसिद्ध है।[3] सामविधान ब्राह्मण[4] में सम्प्रदाय-प्रवर्तक आचार्यों की जिस परम्परा का उल्लेख है, तदनुसार तण्डि

---

1. काशिका- 5.1.62
2. अध्यायानाम् संकलनया चत्वारिंशदध्यात्मकम् कौथुमब्राह्मणं सम्पद्यते ताण्ड्यनाम।' त्रयीपरिचय. पृ. 121, 'पञ्चविंशं षडविंशं ब्राह्मणं च छान्दोग्योपनिषच्च- मिलित्वा ताण्ड्यब्राह्मणं भवति।'-सातवलेकर-सामवेद भूमिका, पृ. सं.-13
3. चिन्नस्वामि शास्त्री, ताण्ड्य ब्राह्मण, पुरस्तान्निवेदनम्, पृ. 2
   इस परम्परा का समर्थन जैमिनि ब्राह्मण के उस अंश से होता है, जहाँ कहा गया है-'तदु होवाच ताण्ड्यः'
   -आपस्तम्ब श्रौतसूत्र में इसे 'ताण्ड्यकम्' कहा गया है.
   -लाट्यायन श्रौतसूत्र में 'पुराणं ताण्ड्यम्' उल्लिखित है. (8.10.17.)
   -कलान्द ने यद्यपि यहाँ किसी दूसरे प्राचीन ब्राह्मण का संकेत माना है, किन्तु उनके समर्थन में युक्ति नहीं है।
   -भाष्यकार अग्निस्वामी ने ताण्ड्य ब्राह्मण को ताण्ड्य प्रवचन नाम दिया है।
4. सामविधान ब्राह्मण-3.9.3.

और शाट्यायन बादरायण के शिष्य थे। शतपथ ब्राह्मण[1] में अग्निचिति के सन्दर्भ में ताण्ड्य नामक आचार्य का उल्लेख है। इसी प्रकार ऋषि तण्डि से प्रारम्भ होने वाले गोत्र का उल्लेख वंश ब्राह्मण[2] में है। इनमें सामविधान ब्राह्मण में मिलने वाले उल्लेख को विशेष रूप से प्रामाणिक माना जाता है क्योंकि तण्डि और शाट्यायन शाखाओं का युगपद् अन्यत्र भी नाम-निर्देश हुआ है।[3] कौथुम की उपशाखाओं में भी ताण्ड्य का विशेष रूप से महत्त्व माना जाता है क्योंकि शंकराचार्य ने छान्दोग्योपनिषद् का निर्देश ताण्डिशाखियों की उपनिषद् के रूप में ही किया है।[4]

विद्वानों के द्वारा ताण्ड्य ब्राह्मण का रचना-काल विक्रम से तीन सहस्र वर्ष पूर्व स्वीकार किया गया है। यद्यपि ताण्ड्य ब्राह्मण का प्रमुख विषय सोमयाग का प्रतिपादन है लेकिन तत्कालीन, सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक एवं भौगोलिक दृष्टि से भी यह अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। तत्कालीन परिस्थितियों में यति एवं व्रात्य भारतीय समाज के ऐसे आचार-व्यवहार से हीन लोग थे जिनकी वैदिक कर्मकाण्ड के प्रति किसी प्रकार की आस्था न थी। पुनः उन्हें संस्कारवान् बनाने के लिये व्रात्यस्तोम यागों का विधान किया गया है, यज्ञ के आत्म-यज्ञात्मक स्वरूप इत्यादि का वर्णन मिलता है। इसमें प्रतिपादित सत्य, यश आदि के भाव मनुष्य को श्रेष्ठ आचरण करने हेतु प्रेरित करते हैं अतः इस दृष्टि से भी ताण्ड्य ब्राह्मण का स्थान अतिमहत्त्वपूर्ण है।

षड्विंश ब्राह्मण

सामवेद की कौथुम शाखा से सम्बन्धित द्वितीय महत्त्वपूर्ण ब्राह्मण ग्रन्थ के रूप में षड्विंश ब्राह्मण को जाना जाता है। इसे ताण्ड्य ब्राह्मण का भाग माना गया है। आचार्य सायण ने भी भाष्योपक्रमणिका में इसे 'ताण्डकशेषब्राह्मण' कहा है। वर्तमान में हमें षड्विंश ब्राह्मण के अन्तर्गत छः अध्याय प्राप्त होते हैं

---

1. शतपथ ब्राह्मण-5.1.2.2.
2. वंश ब्राह्मण-2.6
3. अन्येऽपि शाखिनः ताण्डिनः शाट्यायिनः ब्रह्मसूत्र, शांकरभाष्य
4. यथा ताण्डिनामुपनिषदि - ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य - 3.3.36.

और षष्ठ अध्याय की विषय-वस्तु शेष पाँच अध्यायों से भिन्न है। इस छठे अध्याय में प्रायश्चित्त और शकुनादि अद्भुत कर्मों का वर्णन है। अद्भुत ब्राह्मण के नाम से उस अंश की स्वतन्त्र मान्यता भी है। इसमें इष्ट-प्राप्ति के साधनभूत कर्मों का निरूपण प्रथम पाँच अध्यायों में है और तत्पश्चात् अनिष्टपरिहार के साधनों का निरूपण षष्ठ अध्याय में है।

सामविधान ब्राह्मण

सामवेदीय ब्राह्मणों में सामविधान ब्राह्मण को तृतीय स्थान प्राप्त है। इस ब्राह्मण में प्रतिपादित विषय धर्मशास्त्र के क्षेत्र में समाविष्ट हैं। याज्ञिक कृत्यों के अतिरिक्त सांस्कृतिक दृष्टि से उपयोगी तथ्यों का भी वर्णन मिलता है। जप, यज्ञ और स्वाध्याय यज्ञ के रूप में यज्ञ का जो उत्तरोत्तर विस्तृत विकसित रूप आरण्यकों एवम् उपनिषदों में उभरा है, उसके मूल बिन्दु सामविधान ब्राह्मण में निहित हैं।

आर्षेय ब्राह्मण

सामवेद के ब्राह्मण ग्रन्थों में आर्षेय ब्राह्मण को चतुर्थ स्थान पर माना गया है। इस ग्रन्थ के आरम्भ में ही कहा गया है।[1]

अथ खल्वयमार्षप्रदेशो भवति

इससे यह ज्ञात होता है कि इसमें सामवेद से सम्बद्ध ऋषियों के विषय में वर्णन किया गया है, किन्तु यथार्थ तो यह है कि न तो इसमें सामगान के ऋषियों के बारे में कहा गया है और न ही इसमें ऋषि-गायकों की विस्तृत सूची प्रस्तुत की गई है। इसमें मात्र गानों के नाम उनके प्रसिद्ध नामान्तरों के साथ दिये गये हैं। प्रायः गानों के नाम उन ऋषियों के नाम पर हैं जिन्होंने उनकी योजना की है। यह कहना उचित प्रतीत होता है कि इस ब्राह्मण की विषयवस्तु ऋषियों से सम्बन्धित है। इनके ऋषियों के नाम एवं गोत्र के ज्ञान से मिलने वाले फल के विषय में आर्षेय ब्राह्मण के अनुसार स्वर्ग, यश, धनादि का वर्णन किया गया है।

---

1. आर्षेय ब्राह्मण – 1.1.1.

आर्षेय ब्राह्मण में ग्रामगेय गानों का उल्लेख संहिता के क्रम में दिया गया है। इस ब्राह्मण का प्रतिपादन सूत्र शैली में किया गया है। यह सामवेद के अनुब्राह्मणों का वैशिष्ट्य है।

देवताध्याय ब्राह्मण

यह ब्राह्मण ग्रन्थ आकार-प्रकार की दृष्टि से अत्यन्त लघु है। इसमें कुल चार खण्ड हैं और कुछ हस्तलिखित एवं प्रकाशित संस्करणों में केवल तीन खण्ड ही मिलते हैं। इसका मुख्य विषय है-निधन भेद से सामों के देवताओं का निरूपण करना। आचार्य सायण के अनुसार इसकी विषय वस्तु है-देवताओं के नामों के सन्दर्भ में संकलन, छन्दो वर्णों और देवताओं का निरूपण, सामाश्रित छन्दों के नामों की निरुक्तियाँ और गायत्र साम की आधारभूत सावित्री के विभिन्न अंगों का विविधदेवरूपता का वर्णन करना। सम्पूर्ण देवताध्याय ब्राह्मण में सूत्र शैली का ही प्रयोग दिखाई देता है।

उपनिषद् ब्राह्मण

इस 'उपनिषद् ब्राह्मण' को 'छान्दोग्य ब्राह्मण' के नाम से भी जाना जाता है। इसमें कुल दस प्रपाठक हैं जिसमें प्रथम दो प्रपाठकों में गृह्य कृत्यों में विनियुक्त मन्त्रों का संकलन किया गया है। इस कारण इस अंश को 'मन्त्रपर्व' या 'मन्त्रब्राह्मण' भी कहा जाता है। शेष आठ प्रपाठकों को ही छान्दोग्योपनिषद् कहा जाता है।

छान्दोग्य ब्राह्मण में कुल प्राप्त गृह्य मन्त्रों की संख्या 268 है। गोभिल गृह्यसूत्र और खदिर गृह्यसूत्र दोनों में ही गृह्यकृत्यों के वर्णन में पठनीय मन्त्रों में छान्दोग्य ब्राह्मण का ही सन्दर्भ देते हैं। छान्दोग्य ब्राह्मण में मन्त्रपाठ के अतिरिक्त आठ प्रपाठकों एवं अध्यायों प्रसिद्ध छान्दोग्योपनिषद् निबद्ध है जो कौथुमशाखा से सम्बन्धित है जिसमें तत्त्वविज्ञान और उसमें उपयोगी कर्म तथा उपासनाओं का विस्तृत वर्णन किया गया है। इस उपनिषद् अंश पर शंकराचार्य और आनन्दतीर्थ दोनों ही भाष्यकारों के भाष्य उपलब्ध हैं। इसमें प्राप्त शौव उद्गीथ में भौतिक प्रयोजनों से प्रेरित होकर यज्ञानुष्ठान और साम-गान करने वालों पर

व्यंग्य किया गया है। सम्भवतः व्यंग्य के माध्यम से मनुष्य को उचित आचार-व्यवहार की ओर उन्मुख करने का प्रयत्न किया गया है।

संहितोपनिषद् ब्राह्मण

संहितोपनिषद् ब्राह्मण की रचना संहिता के निगूढ़ अर्थ का प्रकाशन करने हेतु की गई है। संहितोपनिषद् ब्राह्मण में निहित 'संहिता' शब्द का अभिप्राय किसी विशेष क्रम से संग्रहीत मन्त्र मात्र नहीं है। इसका तात्पर्य विद्वानों ने उस साम-गान से ग्रहण किया है जिसका गान विशेष स्वर-मण्डल से अनवरत रूप से किया जाता हो। इस सन्दर्भ में सायण का कथन इस प्रकार है-

"सामवेदस्य गीतिषु, समाख्या' इति न्यायेन केवलगानात्मकत्वात् पदाभावेन प्रसिद्धा संहिता यद्यपि न भवति तथापि तस्मिन् साम्नाः सप्तस्वरा भवन्ति। क्रुष्ट प्रथमद्वितीयतृतीयचतुर्थमन्द्रातिस्वार्या इति। तथा मन्द्रमध्यमताराणीति त्रीणि वाचः स्थानानि भवन्ति। एतेषां यः सन्निकर्षः सा संहिता।"[1]

किन्तु द्विजराज भट्ट ने 'संहिता' शब्द से 'आर्चिक' ग्रन्थ का अभिप्राय ग्रहण किया है-'अत्र संहिताशब्देन आर्चिकग्रन्था उच्यन्ते। अध्यापकाध्येतृणां सम्यक् हितकर्यः संहिताः। अथवा सन्ततप्रकारेण द्विपदावसानेनैव अधीयानाः संहिताः। अथवा उपवीतानन्तरं शरीरावसानपर्यन्तं सन्ततमधीयन्त इति संहिताः।'

किन्तु द्विजराज भट्ट-कृत इस व्याख्या को विद्वानों ने स्वीकार नहीं किया है। संहितोपनिषद् ब्राह्मण के अन्तर्गत संहिता का वर्गीकरण 'देवहू' 'वाक् शबहू' और 'अमित्रहू' इन तीन रूपों में किया गया है। यह संहिता का विभाजन मन्द्रादिस्वरजन्य उच्चारण पर आधारित है जो बिना गान-विधि के सम्भव नहीं है। जबकि द्विजराज भट्ट ने मात्र संहिताओं के दो स्वरूपों-आर्चिक संहिता एवं गान संहिता को ही माना है।[2]

इस ब्राह्मण ग्रन्थ पर सायणाचार्य का 'वेदार्थ प्रकाश' तथा द्विजराजभट्ट

---

1. संहितोपनिषद् ब्राह्मण – भाष्यभूमिका.
2. इह पूर्वस्मिन् आर्चिकसंहिता प्रयोगविधिः सम्यगुक्तः। तदुत्तरं गानसंहिताविधिः वक्तव्यः – संहितोपनिषद् ब्राह्मण, भाष्य-पृष्ठ 33.

कृत भाष्य मिलते हैं। सायण ने मात्र प्रथम खण्ड पर ही भाष्य रचा है जबकि द्विजराजभट्ट द्वारा प्रणीत भाष्य सभी खण्डों पर उपलब्ध है तथा अनेक स्थलों पर वह भाष्य सायण के भाष्य की तुलना में अधिक उपयोगी सिद्ध होता है। इसमें जीवन के विविध पक्षों हेतु आचार की दृष्टि से उपयोगी सामग्री सन्निहित है। इसके सन्दर्भ निरुक्त एवं मनुस्मृति प्रभृति ग्रन्थों में भी प्राप्त होते हैं।

वंश ब्राह्मण

इस सामवेदीय ब्राह्मण में सामवेद के अध्यापन-क्रम को अग्रसारित करने वाले ऋषियों एवं वंशपरंपरा का वर्णन किया गया है। सामवेद की परम्परा स्वयम्भू ब्रह्मा से प्रारम्भ हुई- इस सम्बन्ध में यह भी कहा गया है कि कश्यप ने अग्नि से, अग्नि ने इन्द्र से, इन्द्र ने वायु से, वायु ने मृत्यु से, मृत्यु ने प्रजापति से और प्रजापति ने ब्रह्मा से सामवेद को प्राप्त किया। इस प्रकार सामवेद की यह परम्परा विभिन्न देवों के माध्यम से कश्यप ऋषि से प्रारम्भ होकर शर्वदत्त गार्ग्य तक गई।

जैमिनीय शाखा के ब्राह्मण ग्रन्थ

इस शाखा के पूर्ण रूप से तीन ब्राह्मण ग्रन्थों का प्रकाशन हुआ है और ये ही हमें अपने सम्पूर्ण स्वरूप में मिलते हैं जिनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं-1. जैमिनीय ब्राह्मण, 2. जैमिनीयार्षेण ब्राह्मण और जैमिनीयोपनिषद्-ब्राह्मण। विद्वज्जनों ने यह भी माना है कि देवताध्याय, वंश और सामविधान ब्राह्मण यद्यपि कौथुम-राणायनी शाखा के हैं लेकिन इनका सम्बन्ध जैमिनीय शाखा से भी रहा है। सामविधान ब्राह्मण के अनेक साम हमें जैमिनीय शाखा की संहिता में भी प्राप्त होते हैं। इसके अतिरिक्त सामविधान ब्राह्मण में 'तण्डि' के साथ 'जैमिनि' का नामोल्लेख भी हुआ है। इसी प्रकार संहितोपनिषद् ब्राह्मण जैमिनि शाखा सहित अन्य सभी शाखाओं में प्रचलित है।

जैमिनीय शाखा के ब्राह्मण ग्रन्थ भी ऋगादि से सम्बद्ध अन्य ब्राह्मणों के समान शैली में ही रचे गये हैं जबकि अन्य सामवेदीय ब्राह्मणों का निरूपण सूत्र शैली में हुआ है।

सामवेद के ब्राह्मण-ग्रन्थों के अध्ययन से यह प्रतीत होता है कि इनमें व्यक्ति, परिवार, समाज, अर्थ, राजनीति, उपासना आदि विभिन्न क्षेत्रों को प्रकाशित किया गया है। मानव-जीवन से सम्बन्धित इन सभी क्षेत्रों के अन्तर्गत आचारसम्बन्धी तत्त्वों का वर्णन भी इन ग्रन्थों में प्राप्त होता है। आचार का विशिष्ट सम्बन्ध मनुष्य के वैयक्तिक जीवन से है क्योंकि मनुष्य जिस प्रकार के कर्म करता है उसी प्रकार उसके जीवन का निर्माण होता है। संक्षेप में हमें यह समझना चाहिये कि मानव सत्कर्मों का सम्पादन करके उन्नति की ओर जाता है और दूषित कर्मों के करने से निकृष्टता को प्राप्त करता है। वैयक्तिक जीवन के सत्य, अहिंसा, दान, स्वस्ति, शान्ति इत्यादि गुण पारिवारिक जीवन के लिए भी अति आवश्यक हैं जिनका सामवेदीय ब्राह्मण ग्रन्थों में स्थान-स्थान पर प्रतिपादन किया गया है।

सत्य

सामवेद के ब्राह्मण ग्रन्थों में हमें पग-पग पर सत्य के मार्ग का अनुसरण करने हेतु प्रेरित किया गया है। ताण्ड्य महाब्राह्मण में सत्य का पालन करने के लिए कहा गया है कि "सत्य धारण के पात्र बनो"[1]

क्योंकि "मैं सत्य के आगार में आसीन होता हूँ।"[2]

और आगे भी सत्य के महत्त्व का वर्णन करते हुए कहा गया है-सत्य के धाम हो। वह स्वर्गिक सुख का प्रकाशक है।[3]

षड्विंश में भी यह वचन मिलता है-

'त्रिषत्या हि देवाः।'[4]

देवत्व की प्राप्ति में सहायक तत्त्वों का प्रतिपादन करते हुए यह भी कहा गया है कि उन लोगों ने ही देवत्व को प्राप्त किया, जिनके मन, वाणी और कर्म तीनों ही सत्य से युक्त रहे हैं। यज्ञ की देवी 'स्वाहा' सत्य से ही उत्पन्न हुई।[5]

1. ऋतपात्रमसि - 1.2.3 - ताण्ड्य ब्राह्मण.
2. ऋतस्य सदने सीदामि - ताण्ड्य ब्राह्मण - 1.2.2.
3. ऋतधामासि स्वर्ज्योतिः - ताण्ड्य ब्राह्मण.
4. षडविंश ब्राह्मण - 1.1.9.
5. स्वाहा वै सत्यसम्भूता -षडविंश ब्राह्मण - 5.7.2.

छान्दोग्य उपनिषद् में सत्य शब्द का निर्वचन करते हुए तीन अक्षरों-सकार, तकार और य का सम्बन्ध क्रमशः अमृत, मर्त्य और दोनों के नियामक से माना गया है।[1]

ऋत, सत्य और ज्ञान की महत्ता

षड्विंश ब्राह्मण में एक आख्यायिका आती है जिसके अनुसार, "जब देवगण असुरों से भयभीत हो गये तो प्रजापति के समीप गये। प्रजापति ने उनके भय के अपनयन का उपाय मुख्य रूप से ऋत, सत्य, ज्ञान, ओंकारोपासना और त्रिपदा गायत्री के जप को बतलाया गया।"[2]

सामविधान ब्राह्मण में भी एक स्थल पर विधान किया गया है कि सत्य बोलना चाहिये और अनार्यों के साथ भाषण से बचना चाहिये।[3]

देवताध्याय ब्राह्मण में भी एक स्थान पर सत्य और ज्ञान के सम्बन्ध में प्रार्थना की गई है-'सत्य और ज्ञान मेरी रक्षा करें।'[4]

षड्विंश ब्राह्मण में ज्ञान का गौरव इस प्रकार बतलाया गया है-"ज्ञान के गौरव से मनुष्य देवत्व की कोटि में पहुँच जाता है।"[5]

इसी में आगे भी ज्ञान के महत्त्व को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि 'ज्ञानपूर्वक यज्ञानुष्ठान करने वालों का यज्ञ निर्दोष होता है।'[6]

वाणी की शुद्धता तथा मन और वाणी की एकता का प्रतिपादन

सामवेद के ब्राह्मणग्रन्थों में ऐतरेय एवं शतपथ इत्यादि की भांति वाणी विषयक शुद्धता और पवित्रता पर विशेष बल दिया गया है। तभी तो देवताध्याय

---

1. तानि ह वा एतानि त्रीणि अक्षराणि सतीयमिति तद् सत् तत् अमृतम्, अथ यत ति तन्मर्त्यम, अथ यत् यम् तेन उभे यच्छति। - छान्दोग्योपनिषद् - 8.3.5.
2. तस्य प्रजापतिरेतद् भेषजमपश्यत् ऋचं च सत्यं च ब्रह्म च ओङ्कारं च त्रिपदां च गायत्रीं च ब्रह्मणो मुखमपश्यत-षड्विंश ब्राह्मण - 5.5.3.
3. सत्यं वदेत्, अनार्यैर्न सम्भाषेत - सामवि. ब्राह्मण - 1.2.7.
4. ब्रह्म सत्यं च पातु माम् - देवताध्याय ब्राह्मण - 1.4.5.
5. अथ हैते मनुष्यदेवाः ये ब्राह्मणाः शुश्रूवांसोऽनूचानास्ते मनुष्यदेवाः' - षड्विंश ब्राह्मण - 1.1.29.
6. एवं विदुषो ह वै यज्ञो न व्यथते - षडविंश ब्राह्मण - 2.7.9.

ब्राह्मण में यह निर्देश किया गया है कि 'वाणी की शुद्धि के लिए किसी पापपूर्ण कृत्य का कथन भी नहीं करना चाहिये।'[1] वाणी की यह शुद्धि तभी सम्भव है, जब मानसिक ध्यान कर उसका प्रयोग किया जायें अर्थात सोच-विचार कर बोला जाये। वाणी और मन की एकता रथ के दोनों पहियों की तरह परस्परश्रित है। मनुष्य के वाचन सम्बन्धी व्यवहार के प्रसंग में जैमिनीय ब्राह्मण में बड़ी सुप्रसिद्ध सूक्ति प्राप्त होती है जो इस प्रकार है-"ऊँचे मत बोलो, भूमि अथवा दीवारों के भी कान होते हैं।"[2]

आतिथ्य

इस सम्बन्ध में सामविधान ब्राह्मण का निर्देश है कि अतिथि रूप में प्राप्त आगन्तुकों को आवश्यकतानुसार दान अवश्य करना चाहिये। यदि गृह में कुछ भी न हो तो केवल जल-दान से उन्हें तृप्त करना चाहिये।[3]

सोम राजा को अतिथि मानकर उसे सम्मान देने हेतु आतिथ्येष्टिका विधान भी किया गया है।

दान-दक्षिणा के महत्त्व को स्पष्ट करते हुए षड्विंश में यह कहा गया है कि जैसे आहुतियों से देवों को प्रसन्न किया जाता है वैसे ही दान-दक्षिणा से मनुष्य देवों को यजमान प्रसन्न कर लेता है।[4] यज्ञ-कृत्य में दान दक्षिणा का महत्त्व बतलाते हुए कहा गया है कि दक्षिणा युक्त यज्ञ से ही यजमान को सभी फल होते हैं।[5]

---

1. यो वै पापं कीर्त्तयति तृतीयमवांशे पाप्मनो हरति - देवाध्याय ब्राह्मण - 5.6.10.
2. मोच्चैरिति होवाच कर्णिनी वै भूमिरिति - जैमिनीय ब्राह्मण.
3. भृत्यातिथिशेषभोजी काले दारानुपेयाद यथाशक्ति चातिथिभ्यो दद्यादप्युदकमन्ततः एवं व्रतो "यदिन्द्राहं यथा त्वम्" इत्येते सदा प्रयुञ्जीत सुवर्महाः सुवर्मया इत्येते च पर्वणि तथा हास्याग्निहोत्रमविलुप्तं सदा हुतं सदर्शपूर्णमासं भवति।।
   - सामवि. ब्राह्मण - 1.3.7.
4. आहुतय एव भागधेयम् देवानां दक्षिणा मनुष्यदेवान् आहुतिभिर्ह देवान् प्रीणाति। दक्षिणाभिर्मनुष्यदेवान् सुश्रूषवोऽनूचानान् ब्राह्मणान् प्रीणाति।
   - षड्विंश ब्राह्मण - 1.1.30.
5. एतेन दक्षिणावता यं कामं कामयते तमभ्यश्नुते - ताण्ड्य ब्राह्मण - 16.1.13.

गोदान के महत्त्व को प्रदर्शित करते हुए ताण्ड्य ब्राह्मण में एक आख्यायिका के माध्यम से गोसहस्रात्मिका दक्षिणा की भूयसी प्रशंसा की गई है।[1]

ताण्ड्य ब्राह्मण में एक स्थल पर यह भी कहा गया है कि विश्वजित् में सर्वस्व दान करने के बाद किसी से कुछ याचना करना वैसे ही है जैसे कच्चे फल खाना।[2]

पवित्रता और कर्मण्यता

मनुष्य सन्मार्ग पर चल कर ही स्थायी ऐश्वर्य की प्राप्ति कर सकता है। सन्मार्ग जीवन को पवित्र रखता है। वेदों में भी यही प्रतिपादित किया गया है कि उद्योगी पुरुष को ही श्री मिलती है। पुरुषार्थी की ही विजय होती है। देवता भी पुरुषार्थी व्यक्ति की सहायता करते हैं। अतः सामवि. ब्राह्मण में पवित्रता और कर्मण्यता का धार्मिक जीवन के अंगों के रूप में प्रतिपादन किया गया है।[3]

दूसरों की प्रशंसा करनी चाहिये न कि निन्दा

ताण्ड्य ब्राह्मण में महाव्रत याग के सन्दर्भ में यह वर्णन मिलता है कि एक शूद्र क्षत्रियों की निन्दा करता है और ब्राह्मण उनकी प्रशंसा। ये निन्दक और प्रशंसक क्रमशः 'अपगर' और 'अभिगर' कहलाते हैं। शूद्र और आर्य (ब्राह्मण) के निन्दा-प्रशंसा विवाद के अन्त में ब्राह्मण की विजय होती है।[4]

---

1. ताण्ड्य ब्राह्मण - 20.15.9.11.
2. संवत्सरं न याचेदामाद्यमिव वा एतद्यः सद्योदत्तं प्रत्यत्ति सद्यो वै देवानां संवत्सरः।।
   - ताण्ड्य ब्राह्मण - 16.6.11.
3. प्रथमं चरित्वा शुचिः पूतः कर्मण्यो भवति द्वितीयं चरित्वा यत्किंचिदन्यन्महापातकेभ्यः पापं कुरुते तस्मात् प्रमुच्यते तृतीयं चरित्वा सर्वस्मादेनसो मुच्यते।।
   - सामवि. ब्राह्मण - 1.2.11.
4. शततन्त्रीको भवति शतायुर्वै पुरुषः शतवीर्य्यः।। तमुल्लिखेत् 'प्राणाय त्वाऽपानाय त्वा व्यानाय त्वेति प्राणापान व्यानानेव तदाप्त्वाऽवरुन्धते'।।
   - ताण्ड्य ब्राह्मण - 5.6.13-14.

यश एवं प्रतिष्ठा

आर्षेय ब्राह्मण में स्पष्ट कहा गया है कि साम गानों के ऋषिनामों और उनके गोत्रों के ज्ञान से स्वर्ग, धन के साथ-साथ यश की प्राप्ति भी होती है।[1] इसलिए इस ब्राह्मण का अध्ययन प्रातः प्रातराश से पूर्व करना चाहिये।[2]

त्रयोविंशतिरात्रसत्र के विषय में ताण्ड्य ब्राह्मण में उल्लिखित है कि प्रजापति ने इस सत्र के द्वारा लोकों में प्रतिष्ठा प्राप्त की थी अतएव यह प्रतिष्ठा का साधन-भूत है।[3] इसी में अगले अध्याय में यह भी कहा गया है कि प्रथम त्रयस्त्रिंशद्रात्र सत्र में व्यक्ति प्रतिष्ठा की कामना से ही प्रवृत्त होता है। षष्ठ एकोनपञ्चाशद्रात्र को भी प्रतिष्ठार्थियों के द्वारा अनुष्ठेय माना गया है।[4]

शत्रुओं को समूल नष्ट करें

नीतिशास्त्रों में कहा गया है शत्रु मन में ईर्ष्या आदि का भाव रखने वाले होते हैं और चोरी-छिपे आक्रमण अथवा हिंसा करने की बात सोचते हैं अतः ऐसे व्यक्तियों पर न तो विश्वास करना चाहिए और न ही उसे अपने समीप आने देना चाहिये। शत्रु छोटा हो या बड़ा, उसकी उपेक्षा कदापि नहीं करनी चाहिये क्योंकि विष और अग्नि थोड़ी मात्रा में होने पर भी घातक और नाशक होते हैं। ताण्ड्य ब्राह्मण में गौ नामक सप्ताह का प्रयोजन 'शत्रु विजय' बतलाया गया है।[5]

षड्विंश ब्राह्मण में शत्रु हिंसा के प्रयोजन से श्येन याग का अनुष्ठान करने का विधान बतलाया गया है।[6] श्येन के नाम पर इसके नामकरण के आधार को

---

1. ऋषीणां नामधेयगोत्रोपधारणम् स्वर्ग्यं यशस्यं धन्यं पुण्यं पुत्र्यं पशव्यं ब्रह्मवर्चस्यं स्मार्तमायुष्यम् - आर्षेय ब्राह्मण - 1.1.1.2.
2. प्राक् प्रातराशिकमित्याचक्षते - वहीं - 1.1.4.
3. ताण्ड्य ब्राह्मण - 23.18.1-3.
4. ताण्ड्य ब्राह्मण - 24.16.2.
5. गवा वै देवा असुरानेभ्यो लोकेभ्योऽनुदन्तैभ्योलोकेभ्यो भातृव्यं नुदते य एवं वेद-तां. ब्रा. 162.2.
6. अभिचरन् यजेत षड्. ब्रा. 4.2.2

स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि वह पक्षियों में क्षेपिष्ठ अर्थात् सर्वाधिक तीव्रगामी होता है। श्येन (वाज) जैसे पक्षी समूह पर टूटकर उन्हें मारने के लिए दबोच लेता है वैसे ही याग भी यजमान के शत्रु को दबोच लेता है। षड्विंश ब्राह्मण में ही षष्ठ अध्याय के द्वितीय खण्ड में शत्रुविजय के निमित्त होम-विशेष को प्रतिपादित किया गया है।[1] देवपुर दशरात्र अनुष्ठान के प्रसंग में देवों ने असुरों पर विजय प्राप्त करने का संकेत दिया है।

अगम्यागमन की प्रवृत्ति का निषेध किया गया है

ब्राह्मण ग्रन्थों में अगम्यागमन को पशु-प्रवृत्ति कहा गया है। इस सम्बन्ध में कहा गया है कि प्रजापति ने अपनी पुत्री उषस् के प्रति अधिगमन किया। उनका वीर्य भूमि पर स्खलित हो गया, जिससे पशुओं की उत्पत्ति हुई।[2] ऐतरेय ब्राह्मण मे भी इस घटना का उल्लेख है।[3] मैत्रायणी संहिता के अनुसार प्रजापति की अनाचारेच्छा समझकर उषस् हरिणी का रूप धारण करके भागी तब प्रजापति मृग का रूप धारण करके भागे। इस पर क्रुद्ध होकर रुद्र ने इन पर शर-सन्धान किया।[4] इस प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थों में अगम्यागमन को दण्डनीय अपराध माना गया है।

पाप-पुण्य

मनुष्य के पापमय जीवन का प्रारम्भ कुसंगति से होता है। कुसंगति के कारण ही उसकी बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है और निकृष्ट कर्म करने लगता है जिन्हें ही पाप की संज्ञा दी जाती है। ताण्ड्य ब्राह्मण में इस प्रकार के व्यक्तियों को व्रात्य कहा गया है जो अपने कुलक्रमागत आचार-व्यवहार से भ्रष्ट और पतित व्यक्ति हैं और जो विहित आचरणों से रहित और निषिद्ध कर्मों में लिप्त हैं।

---

1. आर्षेय कल्प - 8.27
2. प्रजापतिरुषसमध्यैस्त्वा दुहितरं तस्य रेतः परापतत् तदस्यां न्यषिच्यत्
   - तां. ब्रा. - 8.2.10
3. प्रजापतिर्वै स्वां दुहितरमभ्यध्यायद् दिवमित्यन्य आहुरुषसमित्यन्ये - ऐ. ब्रा. 3.33
4. मैत्रायणी सं. 4.2

कृषि और वाणिज्यादि कर्मों को किये बिना ही बलपूर्वक भोजन आदि लेने वालों को भी इसी श्रेणी में रखा गया है। सायणाचार्य के मत में व्रात्य यज्ञों का प्रयोजन ही इनकी व्रात्यता का निर्हरण बतलाया गया है।[1] इन याज्ञिक कृत्यों के अनुष्ठान से और स्तोत्रपाठ करने से उनकी पापराशि भस्म हो जाती है और वे पुनः श्रेष्ठता को प्राप्त कर लेते हैं। यागगत दान-दक्षिणा के अनंतर वे शुद्ध होकर त्रैविद्य वृत्ति को प्राप्त कर लेते हैं।[2]

छान्दोग्य ब्राह्मण में ब्रह्मवेत्ता के निष्पाप होने के संबंध में कहा गया है कि पापकर्म से वह वैसे ही असम्पृक्त रहता है, जैसे कमल-पत्र जल से आश्लिष्ट नहीं होता।[3]

पापी के विनाश के विषय में छान्दोग्योपनिषद् ब्राह्मण में यह भी कहा गया है कि प्राणोपासक के प्रति पाप करने की कामना वाला वैसे ही नष्ट हो जाता है जैसे मृत्तिकाखण्ड पाषाणखण्ड से टकराकर चूर-चूर हो जाता है।[4] जैमिनियोपनिषद् ब्राह्मण में भी यही पंक्ति प्राप्त होती है।[5]

इस प्रकार पंचाग्नि-विद्यावेत्ता के पुण्य-प्राप्ति के सम्बन्ध में वर्णन मिलता है कि पंचाग्नि का वेत्ता पतितों से सम्पृक्त होने पर भी पापलिप्त नहीं होता और पुण्यलोक का भागीदार होता है।

सामवेद के ब्राह्मण ग्रन्थों में पुण्यात्माओं के मध्य हीन कहे जाने वाले लोगों के निमित्त आङ्गिरस द्विरात्र नामक यज्ञ का विधान किया है, इस अनुष्ठान को करके वे उत्कृष्ट स्थान प्राप्त कर लेते हैं। इसी भांति 'प्रथम एकोनपंचाशद् रात्र या विधृति सत्र को भी पापनिवृत्ति का हेतु बताया गया है[6] और समस्त

---

1. तां. ब्रा. - 17.1.16 की सायणकृत अवतरणिका।
2. व्रात्यात्वापादकं पापं निमृज्य शुद्धास्सन्तो गच्छन्ति त्रैविद्यवृत्तिं प्राप्नुवन्ति - वहीं, सायणकृत अवतरणिका
3. यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्ते एवमेवं विदि पापं कर्म न श्लिष्यते
   -छा.ब्रा. 4.14.3
4. यथाऽश्मानमाखणमृत्वा विध्वंसत एवंहेवं स विध्वैंसते।
   य एवंविदि पापं कामयते यश्चैनमभिदासति स एषोऽश्माखणः।। छा.ब्रा. 1.2.0.
5. जैमि. ब्रा. - 1.1.7.5.4.
6. तां. ब्रा. - 24.11.3

एकोनपञ्चाशद्रात्र अनुष्ठान के माध्यम से श्रेष्ठता की प्राप्ति होती है ऐसा जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण में एक आख्यायिका का प्रतिपादन हुआ है जिसके माध्यम से यह कहा गया है कि ओंकार में प्रवेश के कारण ही देवगण पाप से बच सके।[1]

दुष्कृत्य एवं अपराध से मुक्त होने हेतु प्रायश्चित्त करना चाहिये

सामान्य जीवन के व्यवहार में संभावित निंदनीय कृत्यों को दूर करने हेतु साम विधान ब्राह्मण के प्रथम प्रपाठक (पञ्चम से अष्टअनुवाक पर्यन्त) में दुष्कृत्यों के प्रायश्चित्त विहित हैं। पञ्चम अनुवाक में अश्लील भाषण, ब्राह्मणों, बन्धुओं एवं उपाध्यायादि से परुष भाषण, अनध्याप्य अध्यापन, अयाज्य-याजन, अमेध्य-दर्शन एवं घ्राण, अभोज्य भोजन, सुरा पान, भ्रूण हत्या, ब्रह्महत्या और सुवर्णादि की चोरी से सम्बन्धित प्रसंगों हेतु प्रायश्चित्तों को समाविष्ट किया गया है। अपराध की गुरुता के अनुसार प्रायश्चित्त कार्य में साधनों की मात्रा और अवधि भी बढ़ जाती थी। प्रायश्चित्त की दृष्टि से मंत्रों को अतिमहत्त्व प्रदान किया गया है क्योंकि इन्हें समस्त पाप शोधनों में समर्थ माना गया है।[2]

षष्ठ अनुवाक के अन्तर्गत परधनापहरण और अगम्यागमन सम्बन्धी प्रायश्चित्त बतलाये गये हैं जैसे ब्राह्मण का धन अपहरण करने पर, गुरु अथवा ब्राह्मण की पत्नी के साथ सम्बन्ध करने पर इत्यादि। सप्तम अनुवाक में चार प्रकार के अपराधों के सन्दर्भ में प्रायश्चित्त कथित हैं। प्रथम श्रेणी में दान एवं प्रतिग्रह से सम्बन्धित अपराध, द्वितीय श्रेणी में हत्या एवं ताड़ना सम्बन्धी अपराध, तृतीय श्रेणी में कामजन्य तथा चतुर्थ श्रेणी में जीविका सम्बन्धी अपराधों को रखा गया है जिनके उदाहरण इस प्रकार है-

प्रथम श्रेणी : अदत्त-आदान अथवा बिना किसी विपत्ति के दान-ग्रहणादि।

द्वितीय श्रेणी : हत्या और ताड़ना सम्बन्धी अपराध

---

1. जैमिनीय उपनिषद् ब्रा. 1.4.4-11
2. अनादेशे मन्त्रा बलवन्तस्तपोऽन्विता पावना भवन्ति - सामविधान ब्रा. 1.5.2

तृतीय श्रेणी : ब्रह्मचारी के द्वारा स्त्रीगमन, अग्रज के अविवाहित रहते हुए अनुज का विवाह कर लेना आदि।

चतुर्थ श्रेणी : अन्य वर्णों के लिए नियोजित व्यवसायों से जीविकोपार्जन करना।

अष्टम अनुवाक में रसादि-विक्रय, अश्वादि-प्रतिग्रह, अदत्त कन्या के साथ विवाह, गवादि अभिघात सम्बन्धी अपराधों हेतु प्रायश्चित्त विधान किया गया है। कुछ ऐसी स्थितियों में भी प्रायश्चित्त का निर्देश है जो वास्तव में अपराध की श्रेणी में नहीं आती हैं यथा दुःस्वप्न दर्शन, अक्षि-स्पन्दन, गृह-दाह, मूषकों के द्वारा अन्न-भक्षण, कूर्चनाश, गृहगत-उपकरण-विनाश और पुत्र भृत्यादि का कष्ट पाना। संभवतः ब्राह्मण ग्रन्थों में विहित प्रायश्चित्त-विधान अदृष्टजन्य अमंगल की आशंका और उसके निवारण की भावना से किया गया है।

शान्ति

षड्विंश ब्राह्मण के षष्ठ अध्याय में अनिष्ट और अपशकुन की शान्ति का विधान किया गया है। इस प्रसंग में विभिन्न प्रकार की अनिष्टकारी प्रवृत्तियों के निवारण-हेतु स्वस्तिवाचन और होम इत्यादि करने का वर्णन मिलता है, साथ ही ब्राह्मण-भोज और दक्षिणा-दान का भी विधान किया गया है।

जीवन के प्रति आशावादी दृष्टिकोण और पूर्णायु प्राप्ति की कामना

सामवेदीय ब्राह्मणों में जीवन के प्रति आशावादी दृष्टिकोण प्रकट हुआ है। छान्दोग्योपनिषद् ब्राह्मण में यह कहा गया है कि "अन्तःकरण में स्थित आशा की भावना से ही मनुष्य स्मरणीय विषय का स्मरण करता है, प्रिय पत्नी, पुत्र और अन्य समृद्धियों की इच्छा से कर्मानुष्ठान में संलग्न होता है।[1] इसलिए उपनिषद् के ऋषि ने आशावान् बनने हेतु प्रेरणा करते हुए कहा है-"

---

1. आशेद्धो वै स्मरो मन्त्रानधीते कर्माणि कुरुते पुत्रांश्च पुत्रांश्च पशुंश्चेच्छत इमंच श्लोकममुं चेच्छत आशामुपास्स्व इति-छा. उप. 7.14.1

"आशायुक्त व्यक्ति जीवन में जो कुछ चाहता है। अन्ततः उसे प्राप्त कर लेता है।"[1]

सामवेद के ब्राह्मण ग्रन्थों में जहाँ-जहाँ अमरता की प्राप्ति के विषय में वर्णन मिलता है, वहाँ पर अमृतत्व का अभिप्राय सम्पूर्ण आयु को प्राप्त करना बताया गया है। उदाहरण के लिए ताण्ड्य ब्राह्मण में शतरात्र सत्र को अमृतत्व-प्राप्ति का साधनभूत कहा गया है क्योंकि इसके अनुष्ठान से ही देवों ने मृत्यु के भय से मुक्त होकर अमरता को प्राप्त किया, अमृतत्व से यहाँ सम्पूर्ण आयु अभिप्रेत है।[2]

इसी प्रकार मनुष्य को किस प्रकार अमरता प्राप्त होती है इस सम्बन्ध में भी ताण्ड्य ब्राह्मण में शंका का समाधान करते हुये यह कहा गया है कि दैविक अष्टादशरात्र के अनुष्ठान से व्यक्ति मृत्यु-भय से मुक्त होकर अमृतत्व लाभ करता है।[3] अमरता का अभिप्राय यहाँ भी सम्पूर्ण आयु की प्राप्ति से है।[4]

षड्विंश ब्राह्मण में वैश्वदेह त्रयोदशाह के प्रसंग में कहा गया है कि राजा सोम को गृहपति बनाकर इस सत्र का अनुष्ठान किया गया था। अन्य सत्रयागों की भांति यह भी गवामयन की विकृति है। इसके अनुष्ठाता पुत्र पौत्रादि के साथ शतवर्षीय आयुष्यलाभ भी करते हैं।[5]

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि सामवेदीय ब्राह्मण ग्रन्थों में मनुष्य के श्रेष्ठ वैयक्तिक आचार का प्रतिपादन स्वस्थ, संतुलित, आशापूर्ण और रोचक शब्दावली के माध्यम से किया गया है जो मनुष्य को अपने अंदर श्रेष्ठ के सर्जन करने हेतु प्रेरित करती है।

---

1. अमोघा हास्याशिषः प्रार्थना सर्वाः भवन्ति। यत्प्रार्थितं सर्वं तदवश्यं भवति। - वही, 7.14.1. पर शांकरभाष्य।
2. देवा वै मृत्योरबिभयुस्ते प्रजापतिमुपाधावँ स्तेभ्य एतेन शतरात्रेणमृत्वं प्रायच्छदेत द्वाव मनुष्यस्या मृतत्वं यत् सर्व मायुरेति वसीयान् भवति सर्वमायुर्य्यन्ति वसीयाँसो भवन्ति य एत दुपयन्ति।। तां.ब्रा. - 24.19.2
3. देवा वै मृत्यो रबिभयुस्ते प्रजापति मुपाधावँ स्तेभ्य एतेनाष्टादश रात्रेणामृतत्वं प्रायच्छत्।। तां.ब्रा. 23.12.2
4. एतद्वाव मनुष्यस्यामृतत्वं यत् सर्व मायुरेति वसीयान् भवति।। तां. ब्रा. 23.12.3
5. प्रजावन्तो जीवा ज्योतिरश्नुवते य एता उपयन्ति।।षडविंश ब्रा. - 4.6.5.

पारिवारिक आचार

सामवेदीय ब्राह्मणों से ज्ञात पारिवारिक जीवन में सुख और सौमनस्य का विशिष्ट स्थान दिखायी देता है। वैयक्तिक मानवीय आचारों की श्रेष्ठता के कारण ही सम्भवतः परिवार में परस्पर सामंजस्य परिलक्षित होता है। सन्तान अपने माता-पिता तथा विशेष फलों की अधिकारी बनती थी। पारिवारिक शिष्टाचार के विषय में एक स्थल पर वर्णन मिलता है-' अङ्गिरा के वंशज ऋषि शिशु उत्कृष्ट मंत्रद्रष्टा माने जाते थे। उन्होंने विद्याभिमानवश अपने पितरों को पुत्र कहकर आमन्त्रित किया। पितरों ने उनसे कहा-शिशी। पुत्ररूप में हमें सम्बोधित करके तुमने अधर्म आचरण किया है।' पर शिशु ने उत्तर दिया-मैं मंत्रद्रष्टा होने के कारण तुम्हारा पिता ही हूँ, अतएव मैंने अधर्माचरण नहीं किया। इस आख्यान के माध्यम से पारिवारिक सदस्यों के मध्य ज्ञान की महत्ता प्रकट की गई है।

इस काल में विवाह की विभिन्न पद्धतियों में देव विवाह का विशेष प्रचलन दिखायी देता है। इस सम्बन्ध में ताण्ड्य ब्राह्मण के अन्तर्गत श्यैत और नौधस सामों की घनिष्ठता का प्रतिपादन इन दोनों के मध्य देवविाह दिखलाकर किया गया है।[1] सपिण्ड और सगोत्र विवाह निषिद्ध थे।[2]

छान्दोग्योपनिषद् में प्राप्त विवरण से यह भी ज्ञात होता है कि पुरुष एक से अधिक विवाह तो कर सकते थे किन्तु एक से अधिक स्त्रियों के साथ विवाह करने वाले पुरुष से सभी पत्नियों से समान व्यवहार करने की अपेक्षा की जाती थी। वह न तो किसी पत्नी का परित्याग कर सकता था और न ही किसी अन्य प्रकार से उसकी उपेक्षा ही कर सकता था।[3]

सामवेद के ब्राह्मण ग्रन्थों में मिलने वाले वर्णन के द्वारा स्त्रियों की सम्मानजनक स्थिति होने के भी संकेत मिलते हैं। ताण्ड्य ब्राह्मण में सर्पराज्ञी द्वारा दृष्ट ऋचा का विनियोग प्रदर्शित करते समय ऋषिका के नाम से पहले

---

1. तां. ब्रा. - 7.10.3
2. गोभिल गृह्यसूत्र - 3.4.4.5
3. न कांचन परिहरेत् तद व्रतम् - छान्दोग्योपनिषद् - 2.9.3

'ब्रह्मवादिनी' विशेषण का प्रयोग हुआ है।[1] स्त्रियों के सम्बन्ध में बलात्कार आदि अपराधों का कोई उल्लेख नहीं मिलता है। स्त्रियाँ याज्ञिक मीमांसा में सम्मिलित होती थीं।

परिवार में विवाह वयस्क अवस्था प्राप्त करने पर ही होते थे। बाल-विवाह का अपवाद स्वरूप एकमात्र उदाहरण हमें छान्दोग्योपनिषद् में ही मिलता है, जो उ॑षस्ति चाक्रायण की पत्नी आटवी है[2] जिसे शांकरभाष्य में 'अनुपजातपयोधरा' अर्थात् अविकसित यौवना कहा गया है।

परिवार के सदस्य परस्पर मर्यादित आचरण करते थे, कलह इत्यादि से बचने का प्रयत्न करते थे सम्भवतः इसीलिए भाइयों के मध्य सम्पत्ति-विभाजन किया जाता रहा होगा। बड़े भाई का अनुसरण उसके छोटे भाई करते थे तभी तो ताण्ड्य ब्राह्मण में उल्लेख मिलता है कि किसी क्षत्रिय परिवार में एक के राजा होने पर अन्य भाई उसका आनुचर्य निभाते थे।[3] संयुक्त परिवार प्रथा थी।

पारिवारिक आचार की दृष्टि से यह तथ्य महत्त्वपूर्ण है कि परिवार में भृत्यों तक से सद्व्यवहार किया जाता था और उन्हें पहले भोजन कर देने की परम्परा होती है।[4]

शैक्षणिक आचार

सामवेदीय ब्राह्मण ग्रन्थों के रचनाकाल में शिक्षा का अत्यधिक महत्त्व था। संभवतः इसी कारण अध्ययन न करना ब्रह्मबन्धुता का कारण माना गया है।[5] इस ब्राह्मण ग्रन्थ से तत्कालीन समाज में प्रचलित अध्ययन के विषयों का भी वर्णन मिलता है। इनमें चारों वेदों, इतिहासपुराण, वेदों का वेद (व्याकरण),

---

1. प्रत्यंचः प्रपद्य सार्पराज्ञ्या ऋग्भिः स्तुवन्ति। तां. ब्रा. – 4.9.4
2. छा. उप. 1.10.1
3. एतेन वै चित्ररथं कापेया अयाजयंस्तमेकाकिनमन्नाद्यस्याध्यक्षमकुर्वंस्तस्माच्चैत्ररथी नामैकः क्षत्रपति र्ज्जायतेऽनुलम्ब इव द्वितीयः।। तां. ब्रा. 20.12.5
4. सां. ब्रा. 1.3.7
5. जानश्रुतिर्ह पौत्रायणः श्रद्धादेयो बहुदायी बहुपाक्य आस स ह सर्वत आवसथान्मापयांचक्रे सर्वत एव मेऽन्नमत्स्यन्तीति।। – छा.उप. 6.1.1

श्राद्धकल्प, गणित, उत्पातज्ञान, निधिशास्त्र, तर्कशास्त्र (वाकोवाक्य), एकायन (नीतिशास्त्र), देवविद्या, ब्रह्मविद्या, भूतविद्या, क्षत्रविद्या, नक्षत्रविद्या, सर्पविद्या (गारुडमन्त्रशास्त्र) और देवयजनविद्या (नृत्यसंगीतादि) मुख्य थे।[1] षड्विंश ब्राह्मण में वेद के कार्य और उसके अनुष्ठानविधि के ज्ञानपूर्वक अनुशीलन की प्रशंसा की गई है।[2]

यहाँ पर अध्ययन के स्थान का ज्ञान 'आचार्यकुल' शब्द में सन्निविष्ट है क्योंकि छान्दोग्योपनिषद् में एक विद्यार्थी के लिए 'आचार्यकुलवासी' शब्द का उल्लेख मिलता है।[3] छान्दोग्योपनिषद् में 'आचार्यवान्पुरुषोवेद:' प्रभृतिवाक्यों के द्वारा आचार्य की महिमा का वर्णन किया गया है।[4] इसके माध्यम से यह बतलाने का प्रयास किया गया है कि श्रेष्ठ आचार्य के सम्पर्क से ही मनुष्य सच्चे अर्थों में ज्ञान प्राप्त कर सकता है। इसी ब्राह्मण ग्रन्थ में यह भी विधान किया गया है कि आचार्य से ग्रहण की गई विद्या के द्वारा ही मनुष्य परम कल्याण को प्राप्त करता है।[5]

सामान्यत: बारह वर्ष की अवस्था में उपनयन के अनन्तर चौबीस वर्ष की अवस्था तक सभी वेदों के अध्ययन पूर्ण हो जाने का उल्लेख भी छान्दोग्योपनिषद् में मिलता है। आचार्यकुल के अतिरिक्त समय-समय पर राजाओं के द्वारा आहूत विद्वत्सम्मेलनों का भी उल्लेख मिलता है, उन्हें समिति कहा गया है।[6] छान्दोग्य में ऐसी पांचाल-समिति का भी उल्लेख मिलता है।

जैमिनीय उपनिषद् के अन्तर्गत सुदक्षिण क्षैमि, प्राचीनशालि और दो जाबालों से सम्बन्धित एक आख्यायिका मिलती है जिसके माध्यम से यह स्पष्ट

---

1. यो ह वै वसिष्ठं वेद वसिष्ठो ह स्वानां भवति वाग्वाव वसिष्ठ:।। – छा.उप.7.1.2
2. यज्ञो वा अथ जज्ञ इत्याहुरेष वावजात एषोऽवलुप्तजरायुरेष आर्त्विजीनोय एतं वेदमनुब्रते यदा वा एतं वेदमनुब्रूतेऽथ हैनं श्रृण्वन्त्यसावन्व वोचतेति तद्वै स जायते।। – षड्विंश ब्रा. 1.3.16
3. छा.उप. 2.23.1
4. छा.उप. 6.14.1
5. आचार्यात् हैव विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापयति। छा.उप. 4.9.3
6. वही 5.3.1 तथा 5.11.1-7

किया गया है कि तत्कालीन युग में ब्राह्मणों अथवा द्विजों के साथ द्विजों से इतर विद्यार्थियों के भी विद्या-संस्थानों में प्रवेश किये जाते थे लेकिन उन्हें अपनी योग्यता के प्रदर्शन के लिए कठिन संघर्ष करना पड़ता था। इस आख्यायिका में सुदक्षिण क्षेमि, प्राचीनशालि और दो जाबालों सभी का सहपाठी के रूप में प्रस्तुतीकरण किया गया है। इनमें से प्राचीनशालि और दो जाबालों के द्वारा बिना अर्थज्ञानपूर्वक वेदपाठ करते रहने के कारण सुदक्षिण क्षेमि उनसे प्राय: यज्ञविषयक विवाद करता रहता था, जिससे वे चिढ़ जाते थे। एक दिन तीनों ने सुदक्षिण क्षेमि को 'शूद्र दुरनूचान' कहकर अपमानित किया। सुदक्षिण ने कुरुपांचालों की समिति के सम्मुख उन्हें शास्त्रार्थ करने की चुनौती दी। उस समिति के मान्य विद्वानों में से कोई भी इनके उत्तर न दे सका। अन्त में एक विद्वान् व्यक्ति काण्डविय की खोज की गई, जिन्होंने सभी प्रश्नों के समुचित उत्तर देकर विद्वन्मण्डली को सन्तुष्ट किया।[1]

संहितोपनिषद् ब्राह्मण के तृतीय खण्ड में विद्यादान की दृष्टि से अधिकारियों का उल्लेख हुआ है। इसमें ऐसा निर्देश है कि अध्ययन के अधिकारियों का निर्णय योग्यता-परीक्षा के अनंतर ही किया जाता था। संहितोपनिषद् ब्राह्मण ने सामवेद की दृष्टि से अर्ह और अनर्ह का निरूपण करते हुये कहा है कि विद्या-दान हेतु छः सुपात्र हैं-

1. ब्रह्मचारी अर्थात् ब्रह्मचर्य विधि से आचार्य कुल में रहते हुये और आचार्य की आज्ञा का पालन करने वाले वे शिष्य जो सावित्री से लेकर महानाम्नीपर्यन्त अध्ययनव्रत का निर्वाह करें, 2. धनदायी, 3. मेधावी, 4. श्रोत्रिय, 5. प्रिय और 6. प्रतिग्रहिता अर्थात् एक गुरु से प्राप्त विद्या दूसरे गुरु को देकर नवीन विद्या सीखने में समर्थ छात्र। इन छः प्रकार के विद्यार्थियों को ज्ञान का तीर्थस्वरूप माना गया है।[2]

इसके अन्तर्गत ऐसे शिष्यों को अनर्ह घोषित किया गया है जिनमें ज्ञान के पुरस्करण की क्षमता नहीं होती थी। ऐसे अनुर्वर मस्तिष्क वाले छात्रों के

1. जैमनीयोपनिषद् ब्रा. 3.2.2-5
2. ब्रह्मचारी धनदायी मेधावी श्रोत्रियो विद्ययावा विद्यां य: प्राह तानि तीर्थानि षण्ममेति।।
   - संहितोपनिषद् ब्राह्मण - 3.11

लिए ब्राह्मणकार ने 'ऊसर' शब्द का प्रयोग किया गया है। भले ही विद्या के साथ मर जाना पड़े किन्तु अयोग्य छात्रों को ज्ञान न दान करने का विधान किया गया है।[1] अन्य अनर्ह शिष्यों की परिगणना करते हुये 'अहंकारी' व्यक्तियों को भी विद्या-दान की दृष्टि से निषिद्ध माना गया है।[2]

गुरु को अपने अच्छे और बुरे शिष्यों के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिये, इस विषय को स्पष्ट करते हुये यह कहा गया है कि गुरु को चाहिये कि वह अयोग्य छात्र से बचे और सत् शिष्य की अवमानना न करें।[3] इसी प्रकार पिता के द्वारा विद्या किसको प्रदान की चाहिये, इस शंका का निवारण करते हुये छान्दोग्योपनिषद् में यह कहा गया है कि पिता को अपने ज्येष्ठ पुत्र अथवा सुयोग्य शिष्य को ही विद्या दान करना चाहिये। यदि समुद्रपरिवेष्टित और धन से परिपूर्ण धरा पाने की आशा हो तो भी अपात्र शिष्य को विद्या नहीं दी जानी चाहिये।

इन सामवेदीय ब्राह्मणग्रन्थों में बतलाये गये नियमों से ऐसा प्रतीत होता है कि ब्राह्मणकार अनधिकारियों से ज्ञान को संरक्षित रखने की दिशा में अत्यन्त सचेष्ट थे। संभवतः इसी कारण, ब्राह्मण के प्रति विद्या के मुख से कहलाया गया है कि "मैं तुम्हारी निधि हूँ, तुम मेरी सब प्रकार से रक्षा करो।"[4]

इसी ब्राह्मण ग्रन्थ में एक स्थल पर विद्यार्थी को ही कर्तव्य के प्रति निर्देश करते हुये यह भी कहा गया है कि विद्यार्थी का यह परमकर्तव्य है कि वह श्रवण रन्ध्रों को पीड़ित किये बिना वेदामृत प्रदान करने वाले गुरु से कभी द्रोह न करे और उसे माता-पिता के समान समझे।[5] इनका ग्रहण, निरुक्तकार यास्क ने भी अपने निरुक्त में किया है जो इन श्रुतिवाक्यों की अतिशय लोकप्रियता की सूचना देते हैं।

विद्यार्थी को विद्या अर्जन करते समय एवं उसके पश्चात् अपने जीवन

---

1. विद्यया सार्द्धं म्रियेत्। न विद्यामूषरे वपेत्। -संहितोपनिषद् ब्रा. 3.10
2. अनर्हते मानिने नैव मादाः। संहितोपनिषद् - 3.19
3. सतश्च न विमानयेत्। संहितोपनिषद् 3.19
4. विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम तवाहमस्मि। त्वं मा पालयस्व। संहितोपनिषद् ब्राह्मण-3.9
5. य आतृणोत्यवितथेन कर्णावातृप्तं कुर्वन्नमृतं सम्प्रयच्छन्। तं मन्येत पितरं मातरं च तस्मै न द्रुह्येत कतमच्चनाह।। - संहितो. ब्रा. 3.13

में किन-किन नियमों का पालन करना चाहिये और अपने अन्दर किन-किन गुणों का विकास करना चाहिये-इसका भी वर्णन संहितोपनिषद् ब्राह्मण में किया गया है। इस संदर्भ में विद्यार्थी द्वारा पालनीय आठ गुण इस प्रकार बतलाये गये हैं-

1. वित्ति अर्थात् प्रज्ञा अथवा आचार्य की दक्षिणा,
2. उपस्तव अर्थात् आचार्य से निवेदन,
3. दम,
4. श्रद्धा,
5. सम्यक् प्रश्न या संप्रश्न,
6. अनाकाशीकरण अर्थात् प्राप्त विद्या का असत् शिष्य के सम्मुख अप्रकाशीकरण,
7. योग तथा
8. आचार्य-शुश्रूषा।[1]

इसके अलावा विशिष्ट प्रकार के शिष्यों को विशिष्ट फलों का अधिकारी भी घोषित किया गया है जिनमें पर्णाशनकर्ता, पयोभक्षी, वीरासनसेवी, माता-पिता और गुरु की सेवा-शुश्रूषा का ध्यान रखने वाले और गुरुदक्षिणा में स्वर्ण आदि प्रदान करने वाले शिष्यों को परिगणित किया गया है।[2] इसी क्रम में आगे विद्या को 'अतिदान' कहकर उसके महत्त्व को भी बताया गया है।[3]

उपयुक्त विधि से ग्रहण की गई विद्या को सामविधान ब्राह्मण में स्वर्ग प्राप्ति का साधन स्वरूप माना गया है।[4]

---

1. अथैता वेदस्याष्टावुपनिषदो भवन्ति। वित्तिश्चोपस्तवश्च दमश्च श्रद्धाच संप्रश्नश्चानाकाशीकरणं च योगश्चाचार्यशुश्रूषा चेति।। - वही 3.20
2. दानेन सर्वान्कामानवाप्नोति चिरजीवित्वं च ब्रह्मचारी रूपवानहिंस्र उप पद्यते स्वर्ग्यं पर्णाशनात्। दिविचर: पयोभक्ष: स्थानवीरासना द्वित्रवान पितृ मातृ गुरु शुश्रूषा ध्यानवान स्वर्गी य: कांचन दाता यावानुवैरसस्तावानात्मा स: एष इमं एव लोका अयम् स लोक: सप्रतिष्ठित एव भवति प्रतिष्ठित इव ह्ययं लोक: अथ यदुत्तरं सा द्यौर्मूर्तिमत्सु गृहेष्वभिजायते।। वही. 4.1.11
3. त्रीण्याहुरतिदानानि गाव: पृथिवी सरस्वती। वही 4.12
4. कथं नु वयं स्वर्गं लोकमियाम" इति तेभ्य एतत् स्वाध्यायाध्ययनं प्रायच्छत, तपश्चैताभ्यां स्वर्गं लोकमायन्। सामविधान ब्रा. 1.1.17

अतः सामवेद के ब्राह्मण ग्रन्थों के माध्यम से गुरु-शिष्य सम्बन्धों पर प्रकाश डालते हुये श्रेष्ठ आचार-संहिता का प्रतिपादन किया गया है।

सामाजिक आचार

सामवेदीय ताण्डयादि ब्राह्मण ग्रन्थों के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि पारिवारिक जीवन की भांति सामान्य रूप से सामाजिक जीवन में भी सुख, समृद्धि और सुव्यवस्था स्थित थी। ताण्ड्य ब्राह्मण में एक स्थल पर यह उल्लेख मिलता है[1] पापी व्यक्ति प्रशस्य व्यक्तियों पर अभिक्रमण नहीं करते थे। दुर्भिक्ष आदि से परेशान लोग एक दूसरे पर अतिक्रमण नहीं करते थे। प्रजा में कोई व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति का धन नहीं छीनता था, सभी अपने-अपने क्षेत्रों में सीमित रहते थे।[2] ऐसा ताण्ड्य ब्राह्मण से हमें ज्ञात होता है। इसी प्रकार छान्दोग्योपनिषत् में एक स्थल पर राजा अश्वपति का कथन मिलता है जिन्होंने अपने राज्य में तस्करों, मद्यपों, आलसियों, अनाहिताग्नि लोगों, मूर्ख व्यक्तियों तथा परस्त्रीगामी पुरुषों के अस्तित्व का दृढ़ता से विरोध किया है।[2] छान्दोग्योपनिषत् में एक अन्य स्थल पर यह भी कहा गया है कि स्वर्ण-तस्कर, मद्यप, गुरुस्त्रीगामी और किसी की हत्या करने वाले तो पतित हैं ही, इनसे सम्बन्ध रखने वाला भी पतित हो जाता है।[3]

वैदिक संहिताओं के काल की अपेक्षा ब्राह्मण ग्रन्थों के युग में वर्ण-व्यवस्था अधिक स्थिर आधार पर प्रतिष्ठित दिखायी देती है। संहिताओं की भांति ब्राह्मणों में भी हमें ब्राह्मण वर्ण की समाज में सर्वोच्च प्रतिष्ठा थी। इस सम्बन्ध में साक्ष्य मिलते हैं। वे वेदों का अध्ययन करते थे, यज्ञों का अनुष्ठान करते थे और तपोमय जीवन व्यतीत करते थे। ताण्ड्य ब्राह्मण में भी कहा गया है कि

---

1. न श्रेयांसं पापीयानभ्यारोहति। न जनता जनतामभ्येति। नान्योन्यस्य प्रजा आददते यथाक्षेत्रं कल्पन्ते। तां.ब्रा. 2.1.4
2. न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः। नानाहिताग्निर्विद्वान् न स्वैरी स्वैरिणी कुतः।। छा.उप. 5.11.5
3. स्तेनो हिरण्यस्य सुरां पिबंश्च गुरोस्तल्पमावसन्ब्रह्महा चैते पतन्ति चत्वारः पंचमश्चाचरंस्तैरति। छा.उप. 4.10.9

"अध्ययन, अध्यापन, मंत्र पाठ और सामगान प्रभृति मुखसाध्य कर्म ब्राह्मणों के साथ सम्बद्ध रहे हैं।"[1] छान्दोग्योपनिषद् की अतिप्रसिद्ध आख्यायिका के माध्यम से सत्यभाषणादि नैतिक गुणों पर आधारित श्रेष्ठता को महत्त्व दिया गया है। इसमें सत्यकाम की निष्ठा से उनके आचार्य प्रसन्न हुये यह वर्णन सत्य के समाज में महत्त्व को सिद्ध करता है ब्राह्मणों के द्वारा सत्य-भाषण करना भी सत्यकाम जाबाल की आख्यायिका के द्वारा सुविदित है।[2]

महाव्रत के प्रसंग में शूद्र और आर्य वर्ण के विवाद में प्राप्य 'आर्यवर्णमुज्जापयन्ति', अर्थात् 'आर्य को जिता देते हैं' पर पश्चिम के वेदज्ञों ने समझे बिना ही दोषारोपण किया है। इसका अभिप्राय किसी जाति विशेष की विजय से न होकर विद्वान् और अविद्वान् की कलह में विद्वान् की पक्षधरता से है इसीलिए ताण्ड्यब्राह्मण में 'ब्राह्मणमुज्जापयन्ति'[3] कहने के स्थान पर 'आर्यवर्णमुज्जापयन्ति' कहा गया है।

समाज के अन्य वर्गों के मध्य भी सद्भाव और सामंजस्य प्रकट होता है। ब्राह्मण वर्ण और क्षत्रिय वर्ण के मध्य भी सद्भाव एवं सौहार्द्रपूर्ण सम्बन्ध अवश्य रहा होगा। अन्यथा इतने बड़े-बड़े यागों का सम्पादन संभव ही न होता। ताण्ड्य ब्राह्मण से हमें यह भी ज्ञात होता है कि क्षत्रिय समुदाय मूल रूप में राज्य की व्यवस्था से सम्बन्धित था और वैश्य वर्ण के लोग सामाजिक व्यवस्था की दृष्टि से ब्राह्मणों और क्षत्रियों का अनुगमन करते थे।[4]

जैमिनीयोपनिषद् के अन्तर्गत एक आख्यायिका मिलती है जिससे तत्कालीन विद्याध्ययन के सन्दर्भ में उस व्यवस्था का ज्ञान प्राप्त होता है जिसमें सुदृढ़ व्यवस्था होते हुये भी आचार्य विद्या-दान के प्रसंग में ब्राह्मण तथा अब्राह्मण शिष्यों के मध्य किसी प्रकार का भेदभावपूर्ण व्यवहार नहीं करते थे।[5]

---

1. ब्राह्मणो मुखेन वीर्यङ्करोति मुखतो हि सृष्टः।"
2. नैतदब्राह्मणो विवक्तुमर्हति-छान्दोग्योपनिषद् - 4.4.5
3. शूद्रार्य्यौ चर्म्मणि व्यायच्छेते तयोरार्य्यं वर्णमुज्जापयन्ति।। तां.ब्रा. 5.5.14
4. ब्राह्मणं चैव क्षत्राय व विशमनुगां करोति-तां.ब्रा. 3.9.2
5. Sharma. B.R.- This shows there was no injuction of a non dwya being admitted in the told of twice born at the time when this Brahmana was composed provided the student had mental and intellectual equipments for the study of the vedas - Jaiminiya upnishad Brahmana, Introduction. Page - 25

ताण्ड्य ब्राह्मण में चोर को समाज का शत्रु माना गया है। इसी प्रकार दस्यु के हृदय परिवर्तन से सम्बन्धित आख्यायिका भी इसमें प्राप्त होती है, वह भी सदाचार के पथ पर चल सकता था ओर इसी आख्यायिका में ब्रह्म-हत्या और मिथ्या व्यवहार को पाप घोषित किया गया है।[1] "इन्द के अत्यन्त प्रिय ऋषिसमूह वैखान की मुनिमरण नामक स्थान पर रहस्युसंज्ञक देवमलिम्लुच नामक दस्यु ने हत्याकर दी। ऋषियों के संधान हेतु निकले इन्द्र की अकस्मात् रहस्यु से भेंट हो गई। उन्होंने पूछा रहस्यु! तुमने क्या कहीं वैखानस को देखा है?"

"भगवान्। मैंने उनकी हत्या की है।" रहस्यु ने उत्तर दिया। इन्द्र को रहस्यु की सत्यावादिता पर अविश्वास और आश्ंचर्य दोनों की अनुभूति हुई। उन्होंने उससे पुनः प्रश्न किया-"रहस्यु! हत्या करके उसे स्वीकार कर लेना अतिकठिन कार्य है। तुमने इसे इतनी सरलता से कैसे कर लिया? रहस्यु ने उत्तर दिया- 'भगवन्! इस पाप-स्वीकृति से मैं मिथ्याचारजन्य पाप से मुक्त हो गया'।"

रहस्यु के इस हृदय-परिवर्तन और सत्य-भाषण से संतुष्ट होकर इन्द्र ने उससे वर मांगने के लिए कहा। रहस्यु ने अपने वंश में एक सच्चे और शुभ आचरणसम्पन्न वंशधर के उत्पन्न होने का वर मांगा। इन्द्र के वर से रहस्यु के वंश में तक्षु का जन्म हुआ।[2] इस आख्यायिका का ताण्ड्य और जैमिनीय दोनों ही ब्राह्मणों में उल्लेख है।

ताण्ड्य ब्राह्मण ने सत्रहवें अध्याय के प्रारम्भिक चार खण्डों में व्रात्य स्तोम यज्ञों का विधान किया है। इन यज्ञों के अनुष्ठान के प्रयोजन द्वारा

---

1. ये वै स्तेना रिपवस्ते - तां.ब्रा. 4.7.5
2. वैखानसा वा ऋषयः इन्द्रस्य प्रिया आसँस्तान्नरहस्यु र्देव मलिम्लुङ् मुनि मरणेऽमारयत्ते देवा अब्रुवन् क्व तर्षयोऽभूवन्निति तान् प्रैषमैच्छत्तान्नाविन्दत स इमान् लोकानैक धारेणापुनात्तान्मुनिमरणेऽविन्दत्तानेतेन साम्ना समैरयत्तद्वाव स तह्यर्यकामयत काम सनि साम वैखानसं काममैवेतेना वरुन्धे स्तोमः।। तां. ब्रा. 14.4.7

आचारहीन व्यक्तियों की शुद्धि करना है।[1] इन्हें इस ब्राह्मण ग्रन्थ के अन्तर्गत चार भागों में विभाजित किया गया है-1. निन्दित, 2. कनीयान् अर्थात् ऐसे आचारहीन व्यक्ति जिनकी अवस्था अधिक नहीं है, 3. ज्यायान् अर्थात् वयोवृद्ध आचारहीन जन तथा 4. हीनाचार। ताण्ड्य ब्राह्मणकार ने इनकी निन्दा इसलिए की है क्योंकि इनमें से निन्दित वे हैं जो किसी पाप के अध्यारोप के कारण गर्हित होकर व्रात्य बन गये।[2]

यहाँ स्थविर व्रात्य उन्हें कहा गया है जो नपुंसकता अथवा वार्धक्यवश नीचजनों में सम्मिलित हो गये।[3] ये सभी अपने कुलक्रमागत तथा सामाजिक आचार-व्यवहार से भ्रष्ट व्यक्ति प्रतीत होते हैं जो विहित आचरण नहीं करते थे और निन्दित निषिद्ध कर्मों में लिप्त रहते थे। ये ब्राह्मणोचित कोई कृत्य नहीं करते थे।[4]

ताण्ड्य ब्राह्मणकार ने इनकी निंदा इसलिए भी की है क्योंकि न तो ये कृषिकार्य करते थे और न ही वाणिज्य।[5]

ब्राह्मणों के द्वारा भोज्यान्न बलपूर्वक खा लेने के कारण इन्हें विषभक्षक भी कहा गया है।[6]

इनके विषय में यह भी वर्णित है कि ये शोभनार्थप्रतिपादक वाक्य में दोष निकालते थे, निरपराधियों को मारते-पीटते थे और अदीक्षित रहकर दीक्षितों के सामन बोलते थे।[7] इस प्रकार सामाजिक और धार्मिक दोनों ही दृष्टियों से इनका

---

1. एतद् वै व्रात्यधनं यस्मा एतद्वदति तस्मिन्नेव मृजानायन्ति।। तां.ब्रा. 17.1.16
2. अथैष षट् षोडशी ये नृशँसा निन्दिताः सन्तो व्रात्यां प्रवसेयु स्त एतेनयजेरन् - तां.ब्रा. 17.2.1
3. अथैष शमनीचा मेढ्राणां स्तोमो ये ज्येष्ठाः सन्तो व्रात्यां प्रवसेयुस्त एतेन यजेरन् - तां.ब्रा. 17.4.1
4. हीना वा एते हीयन्ते ये व्रात्यां प्रवसन्ति न हि ब्रह्मचर्यं चरन्ति। तां. ब्रा. 7.1.2
5. न कृषिं न वणिज्याँ षोडशो वा एतत् स्तोमः समाप्तुमर्हति।। वही 7.1.2
6. गरगिरो वा एते ये ब्रह्माद्यं जन्यमन्नमदन्त्यदुरूक्त-वाक्यं दुरुक्त माहुरदण्ड्यं दण्डेन घ्नन्त, श्चरन्त्यदीक्षिता दीक्षित वाचं वदन्ति षोडशो वा एतेषाँ स्तोमः पाप्मानं निर्हन्तुमर्हति यदेते चत्वारः षोडशा भवन्ति तेन पाप्मनोऽधि निर्मुच्यन्ते।। तां.ब्रा. 17.1.9
7. वही

व्यवहार निन्दनीय माना गया है। इसी ब्राह्मण ग्रन्थ में आगे एक स्थल पर साधु के वेश में रहने वाले भ्रष्ट और असामाजिक तत्वों का उल्लेख भी किया गया है।[1] सामविधान ने आचरण के गिरते हुए स्तर को ऊपर उठाने के लिए मनुष्यों को उनके दोषों से दूर करने के लिए विभिन्न प्रकार के प्रायश्चित्तों का भी विधान किया है। वास्तव में इनका उद्देश्य मनुष्य को आचरणसम्बन्धी शुद्धता की प्राप्ति कराना और मानसिक ग्लानि से मुक्ति दिलाना है।

आर्थिक आचार

किसी भी काल में सामाजिक दृष्टि से श्रेष्ठता प्राप्त करने के लिए यह अति आवश्यक है कि तत्कालीन अर्थव्यवस्था भी सुदृढ़ हो। उत्तरवैदिक युग में कृषि जीविका का प्रमुख साधन थी। ताण्ड्य ब्राह्मण में दो प्रकार की कृषि व्यवस्थाओं का उल्लेख मिलता है–अकृष्टपच्या और कृष्टपच्या।[2] अकृष्टपच्या की उपज के रूप में सायण ने नीवार का उदाहरण दिया है और कृष्णपच्याजन्य उपज धान कही गई है। 'मत्य' शब्द जुती हुई भूमि को समतल करने वाले कृषि यन्त्र के लिए व्यवहृत है। कुरु एवं पांचाल जनपदों की भूमि सदैव अत्यन्त समृद्ध रही है। छान्दोग्य में एक बार प्रबल अकाल पड़ने और अन्नाभाव से जनसमूह के पीड़ित होने का भी उल्लेख है। याज्ञिक कृत्यों में ब्राह्मणों को अच्छी दक्षिणा देने का विधान सामान्यत: प्रजा की आर्थिक समृद्धि की ही सूचना देता है।

राजनैतिक आचार

सामवेदीय ब्राह्मण ग्रन्थों में इस बात के संकेत मिलते हैं कि उस युग में राज्य की व्यवस्था राजन्यवर्ग के हाथों में थी। ऋग्वेदीय ब्राह्मण ग्रन्थों के समान 'एकराट्' की अवधारणा ताण्ड्यादि ब्राह्मण-ग्रन्थों में भी निहित है।

---

1. इन्द्रो यतीन् सालावृकेभ्य: प्रायच्छत्तमश्लीला वागभ्यवदत्सोऽशुद्धोऽमन्यत स एते शुद्ध शुद्धीये मपश्य ताभ्यामशुध्यत्।। तां.ब्रा. 19.4.7.
2. विषेण वै ताँ समामोषधयोऽक्ता भवन्ति याँ समाम्महादेव: पशून् हन्ति य हँ राजन्नोषधीभ्य इत्याहौषधीरेवास्मै स्वदयत्युभुय्योऽस्मै स्वदिता: पच्यन्तेऽकृष्ट पच्याश्च कृष्टपच्याश्च।। तां.ब्रा. 6.9.9

राजा की साम्राज्यवादी मनोवृत्ति के दर्शन हमें वाजपेय, राजसूय, अश्वमेधादि लोकप्रिय यज्ञों के माध्यम से होते हैं। ताण्ड्य ब्राह्मण में चित्ररथ कापेय को द्विरात्र यज्ञ के द्वारा एकक्षत्रपतित्वकी उपलब्धि का उल्लेख भी मिलता है।

ताण्ड्य ब्राह्मण में एक स्थान पर अपराधी राजा को प्रजा के द्वारा पदच्युत करने का उल्लेख इस बात का संकेत करता है[1] कि राजा के द्वारा किये गये अपराध को अपराध मानकर उसे दण्डित भी किया जाता था जो संभवतः राजा को अपराध की दिशा में प्रेरित होने से रोकने के लिए प्रतीत होता है।

राज्य के शासन-प्रबन्ध में अन्य व्यक्तियों की सहभागिता भी दिखलायी देती है। इस सन्दर्भ में राजा के अतिरिक्त अन्य व्यक्तियों की महत्त्वपूर्ण भूमिका का भी उल्लेख हुआ है।[2]

धार्मिक अथवा उपासनासम्बन्धी आचार

उत्तर वैदिक काल में उपासना का महत्त्वपूर्ण स्थान था। ब्राह्मण ग्रन्थों के अध्ययन से प्रतीत होता है कि उस काल में भी लोग कार्य को पूर्ण करने हेतु ईश्वर की सहायता की अपेक्षा करते थे और उसे जगत् की उत्पत्ति का कारण मानते थे। मनुष्य अपने कष्टों के निवारण के लिए स्तोत्रों के द्वारा प्रार्थना एवं उपासना करते थे। वैयाकरणिक दृष्टि से 'उप' उपसर्गपूर्वक 'आस्' धातु में 'युच्' (अनआदेश) 'टाप्' प्रत्यय के संयोग से 'उपासना' शब्द निष्पन्न होता है। कोशकारों ने इसका अर्थ-पूजा, आदर, आराधना, धार्मिक मनन आदि किया है।[3] 'उप' उपसर्ग का प्रयोग 'समीप' के अर्थ में और 'आस्' धातु बैठने के अर्थ में प्रयुक्त होती है अतः वामन शिवराम आप्टे ने इसका अर्थ "किसी के पास बैठना, ईश्वर देवता आदि के पास ध्यान के द्वारा अथवा उसकी मूर्ति के पास बैठकर किया जाने वाला आध्यात्मिक चिंतन और पूजन" भी किया

---

1. एतामेवापरुद्धराजन्याय कुर्य्याद्विड्वै सप्तदशस्तस्या राजा गर्भो विश एव तद्राजानन्निर्हन्त्यपावगतो रुध्यतेव गच्छत्यपरुद्धः।। ब्रा.ब्रा. 2.10.4
2. अष्टौ वै वीरा राष्ट्रं समुदयच्छन्ति-राजभ्राता च राजपुत्राश्च पुरोहितश्च महिषी च सूतश्च ग्रामणी च क्षत्ता च संग्रहीता च। एते वै वीरा राष्ट्रं समुदयच्छन्ति। तां. ब्रा. 19.1.4
3. मानक हिन्दी कोश-रामचंद्र वर्मा

है।[1] छान्दोग्योपनिषद् में 'अभिमत विशेष का प्रमादरहित ध्यान करना' उपासना माना गया है।[2] सामवेदीय ब्राह्मणग्रन्थों में विभिन्न प्रयोजनों और पद्धतियों के अनुसार उपासना सम्बन्धी वर्णन मिलता है जिनका आचारपरक विवेचन इस प्रकार है–

साम एवं उसकी भक्तियों की उपासना का फल साधु-सदृश विशिष्ट गुणों व धर्मों की प्राप्ति है

छान्दोग्योपनिषद् के प्रारम्भिक दो अध्यायों में उद्गीथ, ओंकार, हिंकार, स्तोमाक्षर, गायत्र, रथन्तर, वामदेव्य, बृहत्-वैरूप तथा वैराज साम, शाक्वर, रेवती, यज्ञायज्ञीय और राजन सामों का आधिभौतिक एवं आध्यात्मिक भावना से वर्णन किया गया है। इस प्रसंग में आधिवैदिक स्वरूप की दृष्टि से उद्गीथोपासना के विषय में कहा गया है–"पृथ्वी ऋक् है, अग्नि साम है, अन्तरिक्ष ऋक् और वायु साम है। आदित्य की शुक्ल ज्योति यदि ऋक है तो उसमें दृश्यमयी नीलवर्णरूपता साम।"[3] यहाँ आध्यात्मिक दृष्टि से साम की उपासना का निरुपण करते हुये कहा गया है कि वाणी ऋग्रूप है और प्राण साम रूप है। चक्षु यदि ऋक् है तो आत्मा साम है।[4]

साम की सम्पूर्ण उपासना में ही साधु दृष्टि निहित है क्योंकि लोक में साधु अर्थात् सज्जन के लिए साम और असाधु के लिए असाम शब्द प्रयुक्त किये जाते हैं। इस उपासना के फल के रूप में साधुसदृश विशिष्ट गुणों और धर्मों का कथन किया गया है।[5]

साम-उपासक के लिए विधि और निषेध

छान्दोग्यउपनिषद् के द्वितीय अध्याय में एकादश से प्रारम्भ करके बीस अध्याय पर्यन्त गायत्रादि राजनान्त सामों की उपासना के प्रसंग में इनके द्वारा

---

1. संस्कृत हिन्दी कोश – वामन शिवराम आप्टे
2. 'ध्यायान्नप्रमतः' – छान्दोग्योपनिषद् 1.3.12
3. छां.उप.1.6
4. वही – 1.7
5. वही – 2.1

मिलने वाले फलों का निरूपण किया गया है जैसे प्राणवत्ता, पूर्णायु, प्रशस्त जीवन, सन्तानसुख, पशु-समृद्धि, कीर्ति लाभ, ब्रह्मवर्चसादि की प्राप्ति। यहाँ पर फलों के कथन के साथ-साथ विधि और निषेध सम्बन्धी चर्चा भी की गई है। उदाहरण के लिए वामदेव साम के उपासक को अपनी अनेक पत्नियों में से किसी का भी परित्याग नहीं करना चाहिये।[1] बृहत्साम के उपासक को चाहिये कि वह तपते सूर्य की निंदा न करे।[2] वैरूप साम के उपासक के लिए वर्षणशील मेघों की निंदा करना निषिद्ध माना गया है।[3] इसी प्रकार अन्य सामों की उपासना करने वालों के लिए ऋतुओं, लोकों, पशुओं और ब्राह्मणों की निंदा वर्जित है। यज्ञायज्ञीय साम की उपासना करने वाले व्यक्ति के लिए मांसभक्षण का निषेध किया गया है।

सूर्योपासना का वर्णन

छान्दोग्योपनिषद् के तृतीय अध्याय में मधुविद्या स्वरूप सूर्योपासना का वर्णन किया गया है। यहाँ आदित्य की कल्पना देव-मधु के रूप में की गई है जो द्युलोक रूप तिरछे बांस पर अवलम्बित है। यहाँ अन्तरिक्ष छत्ते के रूप में, सूर्य-रश्मियाँ बच्चों के रूप में, चतुर्दिक प्रसारित किरणें मधु-नाड़ियों के रूप में और ऋक्, यजुष्, साम और अथर्व श्रुतियाँ मधुकर रूप में वर्णित हैं। ऋगादि वेद पुष्प और सोम अमृत जल है। समाहित दृष्टिवाला पुरुष आदित्य के मध्यवर्ती संचलित से सोम को देख लेता है। आदित्यान्तर्वर्ती लोहित और

---

1. स य एवमेतद्वामदेव्यं मिथुने प्रोतं वेद मिथुनी भवति मिथुनान्मिथुनात्प्रजायते सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महानप्रजया पशुभिर्भवति महान्कीर्त्या न कांचन परिहरेदव्रतम्।।
छां.उप. 2.13.2
2. स य एवमेतद्बृहदादित्ये प्रोतं वेद तेजस्यन्नादो भवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान्प्रजया पशुभिर्भवति महान्कीर्त्या तपन्तं न निन्देत्तद्व्रतम्।। वही - 2.14.2
3. स य एवमेतद्वैरूपं पर्जन्ये प्रोतं वेद विरूपाँश्च सुरुपाँश्च पशूनवरुन्धे सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान्प्रजया पशुभिर्भवति महान्कीर्त्या षर्षन्तं न निन्देत्तद्व्रतम्।।
वही 2.15.2

शुक्लादिरुप रसों के भी रस हैं, अमृतों के भी अमृत हैं।[1] इसके प्रथम अमृत में वसुओं, द्वितीय से रुद्रों, तृतीय से आदित्यों, चतुर्थ से मरुतों और पंचम से साध्यगण के जीवनधारण का कथन है। इन अमृतों की ज्ञानमयी उपासना स्वराज्यप्राप्ति आदि अनेक फलों का हेतु कही गई है।

गायत्री के द्वारा ब्रह्मोपासना का महत्त्व

छान्दोग्योपनिषद् में गायत्री को सभी की रक्षा करने वाली कहा गया है।[2] यहाँ गायत्री में त्राण और उपासक में गानधर्म का आधान किया गया है–अनेक छन्दों के रहते हुये भी प्रधानता के कारण गायत्री का ही ग्रहण ब्रह्मज्ञान के द्वार रूप से किया गया है। सोमहरण करने, अन्य छन्दों के अक्षरों के आनयन, इतर छन्दों में व्याप्त रहने और सभी सवनों में व्यापक होने से यज्ञ में गायत्री की प्रधानता है इसीलिए ब्रह्म भी माता के सदृश गुरुतरा गायत्री को छोड़कर अन्य किसी आलम्बन का ग्रहण नहीं करता। समस्त प्राणीवर्ग–स्थावर जंगम, वागादि सभी कुछ गायत्रीमय है। वह उनका गान के द्वारा नामोच्चारण और संरक्षण करती है।

प्राणोपासना का महत्त्व

गायत्र्याख्य ब्रह्म की उपासना के अंग स्वरूप प्राणों की उपासना का वर्णन भी किया गया है–हृदय में पाँच छिद्र (देवसुषि) हैं। इनमें से पूर्वदिग्वर्ती छिद्र का प्राण, चक्षु, आदित्य, तेज और अन्नाधार रूप से उपासक तेजस्वी और अन्नोपभोक्ता होता है।[3] 'दक्षिणछिद्र व्यानरूप है, श्रोत्र, चन्द्रमा, श्री और

---

1. ते वा एते रसानां रसा वेदा हि रसास्तेषामेते रसास्तानिवा एतान्यमृतानाममृतानि वेदा ह्यमृतास्तेषामेतान्यमृतानि। छा.उप. 3.5.4
2. गायत्री वा इदं सर्वं भूतं यदिदं किंच वाग्वै गायत्री वाग्वा इदं भूतं मायति च त्रायते च। छा.उप. 3.12.1
3. तस्य ह वा एतस्य हृदयस्य पंच देवसुषयः स योऽस्य प्राङ्सुषिः स प्राणस्तच्चक्षुः स आदित्यस्तदेतत्तेजोऽन्नाद्य मित्युपासीत तेजस्व्यन्नादो भवति य एवं वेद।। छा.उप. 3. 13.1

यश के रूप में उसका उपासक श्रीमान् और यशस्वी होता है।[1] अपानादि की उपासना के फल के रूप में ब्रह्मतेज, ओजस्विता आदि को बतलाया गया है।[2]

शाण्डिल्य विद्या का महत्त्व

यह ब्रह्म की उपासना की एक प्रणाली है तथा ऋषि शाण्डिल्य द्वारा प्रोक्ता होने के कारण इसे शाण्डिल्य विद्या कहा जाता है।

यह सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म है। यह उसी से उत्पन्न होता है, चेष्टा करता है और उसी में विलीन हो जाता है-इस प्रकार शान्त होकर उपासना करनी चाहिये।[4] 3

इस सन्दर्भ में आगे भी कहा गया है कि यह हृदयान्तर्वर्ती आत्मा ही ब्रह्म है, मृत्यु के अनंतर मैं इसी ब्रह्मभाव को प्राप्त करुँगा-[4] ऐसा निश्चययुक्त व्यक्ति निःसन्देह ईश्वर भाव को प्राप्त कर लेता है।

जीवन की यज्ञरूपता का निरूपण

सामवेद के छान्दोग्योपनिषद् और जैमिनीयोपनिषद् दोनों ब्राह्मणों में जीवन की यज्ञरूपता का वर्णन किया गया है। इनमें जीवन के प्रारम्भिक चौबीस वर्षों को प्रातः सवन, अगले चवालीस वर्षों को माध्यन्दिन सवन और उसके बाद के अड़तालीस वर्षों को तृतीय सवन कहा गया है। इस विभाजन का आधार छन्दों के अक्षरों की संख्या को माना गया है जो क्रमशः गायत्री (24) त्रिष्टुप् (44) और जगती (48) है।[5]

---

1. अथ योऽस्य दक्षिणः सुषिः स व्यानस्तच्छ्रोत्रँ स चन्द्रमाः तदेतच्छ्रीश्च यशचेत्युपासीत श्रीमान्यशस्वी भवति य एवं वेद।। वही - 3.13.3
2. अथ योऽस्य प्रत्यङ्सुषिः सोऽपानः सा वाक्सोऽग्निस्तदेतत् ब्रह्मवर्चसमन्नाद्य मित्युपासीत ब्रह्मवर्चस्यन्नादो भवति य एवं वेद।। वही 3.13.3
3. सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत्। छा. उप. 3.14.1
4. एष म आत्मान्तर्हृदय एतद्ब्रह्मैतमितः प्रेत्य अभिसंभवितास्मीति यस्यस्यादद्धा न विचिकित्सास्तीति ह स्माह - वही 3.14.4
5. पुरुषो वाव यज्ञस्तस्य यानि चतुर्विंशति वर्षाणि तत्प्रातः सवनं चतुर्विंशत्यक्षरा गायत्री गायत्रं प्रातः सवनं तदस्य वसवोऽन्वायत्ताः प्राणा वाव वसव एते हीदँ सर्वं वासयन्ति।। अथ यानि चतुश्चत्वारिंशद्वर्षाणि तन्माध्यंदिनँ सवनं चतुश्चत्वारिंशदक्षरा त्रिष्टुप्त्रैष्टुभ . .....।। अथ यान्यष्टाचत्वारिंशद्वर्षाणि तानितृतीयसवनमष्टा चत्वारिंशदक्षरा जगती जागतं तृतीयसवनं तदस्यादित्या।। छा.उप. 3.16

जीवन की यज्ञमयी उपासना में भोजनपान की इच्छा रहते हुए भी उनमें न रमना दीक्षा है। रमण उपसद् है। हँसना, भोजन करना और मैथुनरत होना शस्त्रपाठ है। तपस्या, दान, ऋजुता, अहिंसा और सत्य बोलना इस याग की दक्षिणा है। मरण अवभृथ स्नान है। इस प्रकार मानव-जीवन-यापन यज्ञानुष्ठान के सदृश माना गया है। जीवनयज्ञ की यह उपासना उपासक को 116 वर्ष की दीर्घायु प्रदान करती है, जैसा कि महिदास ऐतरेय-ऐतरेय ब्राह्मण के प्रथितयश प्रवचनकार को प्राप्त हुई थी।[1]

इस जीवनयज्ञ-दर्शन का प्रतिपादन अंगिरावंशज ऋषि घोर ने देवकीपुत्र कृष्ण के सम्मुख किया था और अन्त में तीन मंत्र भी बतलाये थे-

1. अक्षितमसि अर्थात् तुम नष्ट नहीं हो सकते,
2. अच्युतमसि अर्थात् तुम्हारा विनाश नहीं हो सकता, तथा
3. प्राणसंतशितमसि अर्थात् तुम अतिसूक्ष्म प्राण हो।

यज्ञोपासना को पूर्णता प्रदान करते हुये यह भी कहा गया है कि "आदिकारणभूत परब्रह्म का तेज सर्वत्र देदीप्यमान है। अज्ञानमय अन्धकार से अतीत उत्कृष्ट ज्योति को देखते हुये हमने सम्पूर्ण देवों के मध्य प्रकाशमय तथा सर्वोत्तम ज्योति रूप सूर्य को प्राप्त कर लिया है।"[2]

ब्रह्म की आधिदैविक और आध्यात्मिक दृष्टि से आकाश और मन रूप में उपासना

ब्रह्म की मनोरूप में उपासना के सन्दर्भ में चार पाद बताये गये हैं-वाक्, प्राण, चक्षु और श्रोत्र। इसी भांति अग्नि, वायु, आदित्य और दिशा रूप में चार पाद आकाश के भी बताये गये हैं। इसी क्रम में इस उपासना के फल के रूप

---

1. एतद्ध स्म वै तद्विद्वानाह महिदास ऐतरेयः स किंम एतदुपतपसि योऽहमनेन न पेष्यामिति स हषोडशं वर्षशतमजीवत् प्रह षोडशं वर्षशतं जीवति य एवं वेद।। वही 3.16.7
2. 'आदिप्रत्लस्य रेतसो ज्योतिः पश्यन्ति वासरम्। परो यदिध्यते दिवि।।
उद्वयं तमसस्परि ज्योतिः पशयन्त उत्तरम्। स्वः पश्यन्तः उत्तरं देवं देवत्रा सूर्यम्गन्म ज्योतिरुत्तरम्।। -वही

में उपासक को कीर्तिलाभ का वर्णन किया गया है। आदित्य रूप में ब्रह्म की उपासना करने से उपासकों को श्रुतिसुखद ध्वनियाँ आकर सुखद करती हैं।[1]

पापनाश, पूर्णायु की प्राप्ति व उज्ज्वल जीवनयापन हेतु अग्नि और पंचाग्नि विद्या सम्बन्धी उपासना

आदित्य के अन्तर्गत दृश्यमान पुरुष को गार्हपत्याग्नि तथा पृथ्वी, अन्न, अग्नि और आदित्य को उसकी देह कहा गया है।[2] इसकी उपासना से प्राप्त होने वाले फल हैं यथा पाप-प्रणाश, अग्निलोक और पूर्णायु की प्राप्ति, उज्ज्वल जीवनयापन और सन्तानपरम्परा की अविच्छिन्नता।[3]

पञ्चाग्निविद्या के रूप में द्युलोक, पर्जन्य, पृथ्वी और पुरुष का सन्दर्भ दिया गया है। इन सभी की समिधायें, धूम और ज्वाला आदि में भी निर्दिष्ट हैं। स्त्रीस्वरूप अग्नि से ही व्यक्ति की उत्पत्ति होती है। अन्त में मृतक-शरीर भी अग्नि को ही समर्पित कर दिया जाता है। पंचाग्नि विद्या का वेत्ता पतितों से सम्पृक्त होने पर भी पाप में लिप्त नहीं होता है और पुण्यलोक का भी भागी होता है।

नेत्रस्थ पुरुष की उपासना से ब्रह्मलोक की प्राप्ति

नेत्र में स्थित पुरुष की अमृत, अभय और ब्रह्मस्वरूप आत्मा के रूप में उपासना करने से देवमार्ग के द्वारा ब्रह्मलोक प्राप्त होता है। यह पुरुष सभी की ओर से शोभन पदार्थ प्राप्त करने के कारण 'संयद्वाम' तथा सभी प्राणियों के पुण्यफलों को वहन करने के कारण वामनी तथा भासमान होने से भामनी है।

नामोपासना के द्वारा यथेच्छ गति की प्राप्ति

यह उपासना नारद-सनत्कुमार संवाद के माध्यम से छान्दोग्य उपनिषद्

---

1. छा.उप. 3.18
2. अथ हैनं गार्हपत्योऽनुशशास पृथिव्यग्निरन्नमादित्य इति य एष आदित्ये पुरुषो दृश्यते सोऽहमस्मि स एवाहमस्मीति-वही 4.11.1
3. स य एतमेवं विद्वानुपास्तेऽपहते पापकृत्यां लोकी भवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति नास्यावरपुरुषाः क्षीयन्त उपवयं तं भुंजामः अस्मिँश्चलोकेऽमुष्मिँश्च च एतमेवं विद्वानुपास्ते।। वही 4.11.2

में वर्णित है। इसमें नारद ने सनत्कुमार से शोक से पार ले जाने वाले आत्मज्ञानोपदेश की प्रार्थना की जिसे स्वीकार करके सनत्कुमार ने पहले उनसे उनकी पूर्वार्जित ज्ञानराशि के विषय में जानकर तदनंतर ऋगादि को नामरूप बतलाया है और ब्रह्मबुद्धि से उसकी उपासना करने का निर्देश दिया है।[1]

शांकरभाष्य में ब्रह्मबुद्धि से नामोपासना का साम्य प्रतिमा की विष्णु बुद्धि से क्रियमाण उपासना से है-नाम वा ऋग्वेदों यजुर्वेद इत्यादि नामैवैतत्। नामोपास्व ब्रह्मेति ब्रह्मबुद्धया। यथा प्रतिमा विष्णुबुद्धध्योपास्ते तद्वत्।

इस नामोपासक की नामगत्यन्त यथेच्छ गति हो जाती है।[2]

ब्रह्मोपासना में वाणी, मन, संकल्प, चित्त, ध्यानादि का महत्त्व

छान्दोग्य उपनिषद् में उपासना की एक अन्य प्रणाली वाङ्मयी अर्थात् वाणी के द्वारा उपासना करने का भी वर्णन किया गया है क्योंकि धर्म-अधर्म, सत्य-असत्य और साधु-असाधु का विवेचन वाणी के द्वारा ही किया जाता है अतएव ब्रह्मबुद्धि से वाङ्मयी उपासना सम्बन्धी विधान किया गया है।[3]

मन आदि के साथ ही अन्न, जल, तेज, आकाश, स्मरण, आशा और प्राण को नामादि की अपेक्षा क्रमशः उत्तरोत्तर श्रेष्ठ बतलाकर उनकी ब्रह्मबुद्धि से उपासना का भी छान्दोग्य उपनिषद् में निर्देश किया गया है।[4] यथा-मनोविषयक उपासना का उपसंहार करते हुये कहा गया है-

मनो ह्यात्मा मनो हि लोको मनो हि ब्रह्म मन उपास्य इति।

हृदयकमल में ब्रह्म की उपासना के प्रसंग में कहा गया है कि इस शरीर

---

1. मे भगवदद्दृशेभ्यस्तरति शोकमात्मविदिति सोऽहं भगवः शोचामि तं मा भगवाच्छोकस्य पारं तारयत्वितितं तं होवाच यद्वै किंचैतदध्यगीष्ठा नामैवैतत्। वही - 7.1.3
2. स यो नाम ब्रह्मेत्युपास्ते यावन्नाम्नो गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यो नाम ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवो नाम्नो भूय इति नाम्नो वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवानब्रवीत्विति।। वही 7.1.5
3. वाग्वाव नाम्नो भूयसी वाग्वा ... धर्मं चाधर्मं च सत्यं चानृतं च साधु चासाधु च हृदयज्ञं चाहृदयज्ञं च यद्वै वाङ्नाभविष्यन्न धर्मो नाधर्मो व्यज्ञापयिष्यन् असत्यं नानृतं न साधु नासाधु न हृदयज्ञो नाहृदयज्ञो वागेव एतत्सर्वं विज्ञापर्यात वाचमुपास्वेति-वही-7.2.1
4. वही - 7.3.15

रूप ब्रह्मपुर में सूक्ष्म दहरपुण्डरीकगत अन्तर आकाश है, जो भौतिक आकाश के अनुरूप ही है। उसमें द्युलोक और पृथिवी दोनों स्थित हैं, सूर्य, चन्द्रमा, विद्युत्, नक्षत्र, आत्मा से सम्बद्ध अन्य वस्तुएँ, सम्पूर्ण भूत एवं कामनाएँ भी इसमें प्रतिष्ठित हैं।

देह की जरावस्था से यह आकाश नामक ब्रह्म जीर्ण न . होता और न ही देह के विनाश से ही वह विनष्ट होता है।[1] ऐसे दहर ब्रह्म का साक्षात्कार कराना ही इस उपासना का प्रयोजन है। ज उपासक के संकल्प मात्र से ही पिता, माता, भाई, बहन, मित्रादि गन्ध-माल्य, अन्न-पान, गीत-वाद्य और स्त्रियाँ उसके पास उपस्थित हो जाती हैं।[2]

सत्यसंज्ञक सेतुरूप ब्रह्मोपासना ही सर्वोच्च उपासना है

छान्दोग्य उपनिषद् में इस संदर्भ में यह कहा गया है कि निष्पाप आत्मा सेतुरूप है, क्योंकि वह लोकों के पारस्परिक संघर्ष को बचाती है। इसको पार करके ब्रह्मचर्य के द्वारा ब्रह्मलोक को प्राप्त करना ही प्रस्तुत उपासना का लक्ष्य है। इसके अनंतर पुरुष अन्धा होने पर भी आँख पा जाता है, विह्वल होने पर भी अविह्वल रहता है, रोगादि कष्टों से युक्त होकर भी पीड़ित नहीं होता है। अन्धकारस्वरूप रात्रि भी दिन हो जाती है क्योंकि ब्रह्मलोक सदा सर्वदा प्रकाशस्वरूप है।

गीता में भी इसके सम्बन्ध में कहा गया है-

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः

यज्ञ, अध्ययन और दान धर्म के तीन स्कन्ध हैं

सामवेदीय ब्राह्मणों में धर्म के तीन स्कन्ध माने गये हैं-यज्ञ अध्ययन और दान।[3]

धर्म की प्रतिष्ठा में आधारभूत प्रथम स्कन्ध में यज्ञ, अध्ययन और दान

---

1. छा.उप. 8.1
2. छा.उप. 8.4
3. त्रयोधर्मस्कन्धाः - छा. उप. 2.23.1

माना गया है और तृतीय स्कन्ध आचार्य कुलवासी ब्रह्मचारी की साधना से अनुस्यूत है। शांकरभाष्य से यह विदित होता है कि धर्म की यह स्कन्धत्रयी योजना विभिन्न आश्रमों के अनुरूप हुई है। इस दृष्टि से यज्ञ, अध्ययन और दान गृहस्थ-साध्य हैं और तप का अनुष्ठान सामान्यतः सभी के कल्याण साधक होने पर भी मुख्यतः वानप्रस्थियों द्वारा विधेय है।

यज्ञ के द्वारा देवों को देवत्व की प्राप्ति

ताण्ड्य ब्राह्मण से हमें यह ज्ञात होता है कि देववृन्द भी पहले मरणधर्मा थे।[1] यागानुष्ठान के द्वारा वे देवत्व को प्राप्त कर सके अतएव कोई भी यागानुष्ठान के बल से देवत्व की प्राप्ति कर सकता है।[2] इस प्रकार स्वरूप की दृष्टि से देवगण पूर्वकालिक पुण्यकर्माजन प्रतीत होते हैं जिनके मन, वचन और कर्म सत्याधिष्ठित हैं।[3]

सामान्यतः देवताओं के मानवीय क्रियाकलापों और व्यवहारों का ही वर्णन किया गया है किन्तु कहीं-कहीं इन्हें अतिमानुष स्वरूप भी देने की चेष्टा की गई है। उदाहरण के लिए छान्दोग्योपनिषद् के इस कथन में देवताओं को मनुष्य से कहीं बढ़कर प्रतिपादित किया गया है कि "देवगण भोजनपान से रहित हैं और वे अमृत को देखने से ही तृप्त हो जाते हैं।"[4]

यज्ञ में जप, तप और स्वाध्याय का महत्त्व

सामविधान ब्राह्मण में उन जपयज्ञ और स्वाध्याय यज्ञ के मूल स्वरूप को बिन्दुवत् निरूपित किया गया है जिसका विस्तार बाद के काल में विकसित आरण्यकों और उपनिषदों में दिखलायी पड़ता है। श्रौतयागों के समान इसमें भी स्वाध्याय और जप-तप को महत्त्व प्रदान किया गया है।[5]

---

1. तां.ब्रा. 23.12.2
2. एताभिर्वैदेवा देवत्वमगच्छन् देवत्वं गच्छन्ति य एता उपयन्ति - वही 23.6.2
3. देवता वाव त्रयस्त्रिंशोऽष्टौ वसव एकादशरुद्रा द्वादशादित्याः प्रजापतिश्व वषट्कारश्च त्रयस्त्रिशौ। तां. ब्रा. 6.25 तथा 22.0.4
4. न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्ति एतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति –छां.उप. 3.6.1
5. तेषामहीयन्ताजाः पृश्नयो वैखानसा वसुरोचिषो ये चापूता ये च कामेप्सवस्तेऽब्रुवन् कथं नु वयं स्वर्गं लोकमियाम इति। तेभ्यो एतत् स्वाध्याययनं प्रायच्छत् तपश्चैताभ्यां स्वर्गं लोकमेष्यथेति। ताभ्यां स्वर्गं लोकमायन्। सामवि. ब्रा. 1.1.17

सामविधान ब्राह्मण के प्रथम प्रपाठक के प्रथम अनुवाक में प्रजापति की उत्पत्ति, प्रजापति के द्वारा सृष्टि, सामस्वरों के देवता और उनके निमित्त यज्ञ वर्णन के अनंतर यज्ञ के अनाधिकारियों के लिए स्वाध्याय और तप का विधान किया गया है। इसी क्रम में पंचम से अष्टम पर्यन्त अनुवाकों में अश्लील-भाषण, चोरी, अगम्यागमन, अग्राह्यग्रहणादि के सम्बन्ध में प्रायश्चित भी बताये गये हैं जो आचार की दृष्टि से अति उपयोगी हैं।

ओंकार का महत्त्व

जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण में अनेक स्थलों पर ओंकार के महत्त्व को बतलाया गया है कि यही वह अक्षर है जिसके ऊपर कोई भी नहीं उठ सका। यही ओम् परम ज्ञान और बुद्धि का आदि कारण है। ओम् से आठ अक्षर वाले गायत्री छन्द की रचना हुई और गायत्री के द्वारा ही प्रजापति को अमरता प्राप्त हुई। इसी के द्वारा अन्य देवों और ऋषियों ने भी अमरता प्राप्त की।[1]

गायत्री को पवित्र ज्ञान के रूप में महत्ता

जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण से यह ज्ञात होता है कि गायत्री रूप में यह पवित्र ज्ञान ब्रह्म से प्रजापति को सीधे प्राप्त हुआ और तत्पश्चात् परमेष्ठी, सविता, अग्नि और इन्द्र के माध्यम से कश्यप को प्राप्त हुआ।[2] कश्यप से गुप्त लौहित्य तक ऋषियों की सुदीर्घ नामावली दी गई है। वंश ब्राह्मण में भी इसे पवित्र ज्ञान कहा गया है।

नमन का उपदेश

वंश ब्राह्मण ग्रन्थ के आरम्भ में ही ब्रह्मा, ब्राह्मणों, ऋषियों और देवों, वायु, मृत्यु, विष्णु और वैश्रवण को नमस्कार किया गया है।[3]

---

1. तदेतदमृतं गायत्रम्। एतेन वै प्रजापतिरमृतत्वमगच्छत्। एतेन देवाः एनेनर्षयः। – जैमि. उप.ब्रा. 3.7.3.1
2. जैमि. उप. ब्रा. 4.9.2.9
3. नमो ब्रह्मणे नमो ब्राह्मणेभ्यो नम आचार्येभ्यो नम ऋषिभ्यो नमो देवेभ्यो नमोवेदेभ्यो नमो वायवे च मृत्यवे च विष्णवे च नमे वैश्रवणाय-वंश ब्राह्मण-प्रथम-खण्ड

वेदों से अग्नि की उत्पत्ति

अग्नि के बिना यज्ञकृत्यों का सम्पादन नहीं किया जा सकता और याज्ञिक कृत्यों हेतु गार्हपत्य, दक्षिणाग्निऔर आहनीयाग्नि का विशेष महत्त्व है। षड्विंश ब्राह्मण में इनकी उत्पत्ति के विषय में कहा गया है कि ऋग्वेद से गार्हपत्य, यजुर्वेद से दक्षिणाग्नि और सामवेद से आहनीयाग्नि उत्पन्न हुई।[1] इन्हीं अग्नियों से बाद में सहस्र शिरों वाले, सहस्र नेत्रोंवाले और सहस्रचरणों वाले यज्ञपुरुष की उत्पत्ति हुई।

यागानुष्ठान के द्वारा स्वर्ग की प्राप्ति

सामविधान ब्राह्मण में एक आख्यायिका प्रतिपादित की गई है जिसके अनुसार देवता प्रजापति के पास गये। उनसे उन्होंने प्रश्न किया कि हमें स्वर्ग की प्राप्ति कैसे हो सकती है? इस पर प्रजापति ने उन्हें यज्ञानुष्ठान का निर्देश देकर कहा कि इससे तुम स्वर्ग की प्राप्ति कर सकते हो।[2] ऐसा कहकर यहाँ पर यज्ञ के द्वारा स्वर्ग की प्राप्ति का निर्देश किया गया है।

यज्ञ का सामूहिक अनुष्ठान, सद्भाव और सहकारिता की भावना

ताण्ड्यादिब्राह्मणों में इस सन्दर्भ में अनेक आख्यायिकायें मिलती हैं। जिनके उल्लेख निम्न प्रकार से हैं-

- देवों के द्वारा प्रारम्भ में सहकारिता की भावना से यागानुष्ठान, तदनंतर उनमें संघर्ष, सत्रियों के द्वारा सहकारितापूर्वक अर्या को गृहपति और आरुणि को होता बनाकर यागानुष्ठान करना (23.15)।
- आदित्यों एवं आंगिरसों के द्वारा सत्र का सामूहिक अनुष्ठान (2.4.2.2)।

---

1. ऋग्वैदाद्गार्हपत्यो यजुर्वेदाद्दक्षिणाग्निः सामवेदादाहवनीयः। षड्. ब्रा. 5.1.2.
2. ते देवाः प्रजापतिमुपधावन्। तेऽब्रुवन। कथं नु वयं स्वर्गं लोकमियाम इति। तेभ्य एतान् यज्ञक्रतून प्रायच्छद् – एतैः लोकमेष्यथ।' सामवि.ब्रा. 1.3

- खाण्डववन में दृति और वातवान के द्वारा मिलकर यागानुष्ठान की आख्यायिका (25.3.6)।
- साध्यगण संज्ञक देवों के द्वारा यागानुष्ठान (25.8.2)।
- सर्पों द्वारा सामूहिक रूप से सर्प-सत्र के अनुष्ठान (25.15.2.4) इत्यादि के द्वारा अनुष्ठान अथवा कार्य को परस्पर सहभागिता, सद्भाव और सहकारिता की भावना से करने की प्रवृत्ति द्योतित होती है।

ब्रह्मोपासना में श्रद्धा और तप का महत्त्व

छान्दोग्य उपनिषद् की अतिप्रसिद्ध आख्यायिका के माध्यम से श्रद्धा और तपस्या की अंगरूपता को स्पष्ट करते हुये कहा गया है-

श्रद्धातपसोर्ब्रह्मोपासनाङ्गत्वप्रदर्शनायाख्यायिका।

इसमें जननादिगत श्रेष्ठता की अपेक्षा सत्य-भाषण आदि नैतिक गुणों पर आधारित श्रेष्ठता को महत्त्व प्रदान किया गया है। सत्यकाम की निष्ठा से जहाँ उसके आचार्य प्रसन्न हुये, वहीं उनकी श्रद्धा और तपस्या से प्रसन्न होकर वृषभ, अग्नि, हंस और मद्गु ने उन्हें चतुष्पादसम्पन्न ब्रह्मतत्त्व का उपदेश दिया।

शांकरभाष्य में उपकोसल और श्वेतकेतु की आख्यायिका का प्रयोजन ब्रह्मोपासना में तप और श्रद्धा को साधनस्वरूप प्रतिपादित करना ही है। इसमें इस प्रकार वर्णन है कि 15 वर्ष तक निरंतर आचार्यकुल में रहने पर भी सत्यकाम ने अपने शिष्य उपकोसल को समावर्तन की अनुज्ञा नहीं दी। उनकी पत्नी ने भी उन्हें एतदर्थ प्रेरित किया तथापि जब आचार्य द्रवीभूत नहीं हुए, तब उपकोसल ने अनशन प्रारम्भ किया। अन्त में उपकोसल की परिचर्या से प्रसन्न होकर अग्नियों ने उसे ब्रह्मविद्या का उपदेश दिया।

तप का गौरव

ब्राह्मणग्रन्थकारों ने तपस्या का गौरव अनेक बार प्रदर्शित किया है। तप का अनुष्ठान करने से मानवीय चरित्र अत्यन्त उज्ज्वल हो उठता है। षड्विंश

ब्राह्मण में तप के महत्त्व का प्रतिपादन करते हुये कहा भी गया है कि इस भूतल पर जो कुछ है वह सब तपस्या से ही प्रादुर्भूत है।[1] तपस्या के महत्त्व को स्पष्ट करते हुये यह भी कहा गया है कि देवों को 'तपोमयी' साधना से ही समस्त सारभूत तत्त्व गार्हपत्याग्नि प्रभृति अग्नियाँ और अन्य सभी वस्तुएँ उत्पन्न हुई। सत्य ही इस पृथ्वी के अंक में जो कुछ श्रेष्ठ तथा प्रेष्ठ है, रमणीय और कमनीय है, शिव और सुन्दर है, वह सब उन्हीं तपस्वियों का अवदान है, जिन्होंने स्वेच्छया पीड़ा के पथ का वरण किया। ताण्ड्य ब्राह्मण में भी कहा गया है कि समस्त समृद्धियाँ तपोरत व्यक्तियों को ही प्राप्त हुई।[2]

अग्निष्टोम को श्रेष्ठता-प्राप्ति का साधन माना गया है

अग्निष्टोम की प्रशंसा करते हुए कहा गया है कि अग्निष्टोम के अनुष्ठान से सभी फल प्राप्त हो जाते हैं इसलिए यह मुख्य है, अन्य उक्थ्यादि से एक-एक फल की ही प्राप्ति होती है।[3] इस पर सायण ने भाष्य भी दिया है जो इसके महत्त्व को प्रदर्शित करता है।[4] ताण्ड्य ब्राह्मणकार ने इस अग्निष्टोम याग को ज्येष्ठ यज्ञ की गरिमा से विभूषित किया है[5] और इसे श्रेष्ठता प्राप्त करने के साधन के रूप में बतलाया है।[6]

ऋत्विक् और यजमान के आचरण-हेतु नियम

ऋत्विकों के विषय में सामान्य नियमों का विधान करते हुये उन्हें सभी कृत्य प्राङ्मुख होकर करने का आदेश दिया गया है जब तक कोई विशेष

1. देवा वै तपोऽतप्यन्त। तेषां तप्यमानां रसोऽजायत।
   पृथिव्यन्तरिक्षं द्यौरिति। तेऽभ्यतपन्। तेषां तप्यमानानां रसोऽजायत्। षड.ब्रा. 5.1.2
2. तपश्चितो देवाः सर्वामृद्धिमार्ध्नुवन्। तां. ब्रा. 15.5.3
3. एष वाव यज्ञो यद्ग्निष्टोमः। एकस्मा अन्यो यज्ञः कामायाह्रियते सर्वेभ्योऽग्निष्टोमः। तां.ब्र. 6.3.1-2
4. अग्निष्टोम इति सर्वफलसाधनत्वेन मुख्यत्वादेष एव यज्ञः।
   इतरे त्वेकैक फलसाधनत्वाज्जघन्या इत्यर्थः। तां. ब्रा. 6.3.1-2 पर सायण भाष्य
5. ज्येष्ठयज्ञो वा एष यदग्निष्टोमः। तां.ब्रा. 6.3.0
6. प्रजापतिः प्रजा असृजत ता अस्मै श्रैष्ठ्याय नातिष्ठन्त स एतमग्निष्टोममपश्यत्तमाहरत्ततोऽस्मै प्रजाः श्रैष्ठ्यायातिष्ठन्त। तां.ब्रा. 6.3.9

आदेश न हो। इसी प्रकार सभी ऋत्विकों के लिए यज्ञोपवीत-धारण, आचमन और यज्ञाङ्ग के प्रति आभिमुख्य आवश्यक माना गया है।

इसी प्रकार यजमान के प्रारम्भिक कृत्यों के सम्बन्ध में निर्देश है कि यज्ञशाला में अरणिमन्थनजन्य अग्नि की स्थापना कर, मण्डप के बाहर यजमान एक विशिष्ट शाला में नख-श्मश्रु-छेदन, उदुम्बर की टहनी से दन्तधावन कर स्नानादि करता है, अपराह्ण में दम्पति घृत एवं दधि ओदन का भक्षण करते हैं। यजमान मण्डप में पूर्वद्वार से तथा उसकी पत्नी पश्चिम की ओर से प्रवेश करती है।

तानूनप्त्र संज्ञक कृत्य के सन्दर्भ में यह भी ज्ञात है कि यजमान और ऋत्विक् एक दूसरे का अमंगल न करने का प्रण लेते थे।

ऋत्विकों आदि को अपने कार्यों का निर्वहन सावधानीपूर्वक करना चाहिये

षड्विंश ब्राह्मण में सोमयाग के प्रसंग में विभिन्न ऋत्विकों के कार्यों का वर्णन करते हुये यह कहा गया है कि प्रत्येक ऋत्विक् को अपने कर्म का सम्पादन बड़ी कुशलता से करना चाहिये। होता से यदि कोई कृत्य छूट जाता है तो उससे यजमान को वाणी की हानि होती है।[1] अध्वर्यु से कृत्य छूटने पर चक्षु की[2], ब्रह्मा से मन की[3], उद्गाता से करणीय कृत्य के छूट जाने पर श्रोत्रेन्द्रिय की[4] तथा चमसाध्वर्युओं से अज्ञानवश कृत्य छूट जाने पर लोमादि की हानि यजमान की होती है।[5]

यदि सभी ऋत्विक् अपने-अपने अनुष्ठेय कृत्यों को प्रमादरहित होकर सुसम्पन्न करते हैं तो यजमान को उपर्युक्त अंगों का लाभ होता है।

इस संदर्भ में यह भी कहा गया है कि यजमान की पशु-सम्पत्ति अध्वर्यु

---

1. यद्होता जहाति वाग्घ तद्यजमार्नजहाति। तां.ब्रा. 3.1.1
2. यदध्वर्यु र्जहाति चक्षु र्ह तद्यजमानं जहाति। तां.ब्रा. 3.1.2
3. यद् ब्रह्म जहाति मनो ह तद्यजमानं जहाति। तां.ब्रा. 3.1.3
4. यदुद्गाता जहाति श्रोत्रं द्व तद्यजमानं जहाति। तां.ब्रा. 3.1.4
5. यच्चमसाध्वर्यवो जहति लोमानि ह तद्यजमानं जहति ते यत्तत् कुर्वन्ति स्वानि लोमानि यजमानेदधति ते विष्वंचो लोमभिरमुष्मिंल्लोके संभवन्ति। तां.ब्रा. 3.1.7

पर, कीर्ति होता पर, स्वयं वह और सन्तानें उद्गाता पर और योगक्षेम ब्रह्मा पर अवलम्बित है।[1]

पुण्यात्माओं के मध्य हीन कहलाने वाले लोगों के निमित्त आङ्गिरस द्विरात्र नामक क्रतु का विधान किया गया है, इस अनुष्ठान को करके वे उत्कृष्ट स्थान प्राप्त कर लेते हैं।

याज्ञिक कृत्यों में त्रुटिहेतु प्रायश्चित्त कर्मों का विधान

सामवेदीय ब्राह्मण ग्रन्थों में यह भी वर्णन किया गया है कि ऋत्विकों को अपने कार्य में त्रुटि करने पर प्रायश्चित्तों का अनुष्ठान करना चाहिये। यजमान को यह ज्ञात कराने हेतु कि ऋत्विक् ने अपने कर्म का परित्याग किया है, षड्विंश ब्राह्मण में इस सन्दर्भ में समाधान प्रस्तुत करते हुये कहा गया है कि अध्वर्यु, होता, उद्गाता और ब्रह्मा का सम्बन्ध यजमान के क्रमशः पशुओं, कीर्ति, जीवन और सन्तानों तथा योगक्षेम से है। उनमें किसी की न्यूनता होने पर ऋत्विक् विशेषगत प्रमाद का निश्चय किया जा सकता है। इसके प्रायश्चित्त स्वरूप होम-विशेष और स्त्रक् में निबद्ध हिरण्य-दान विहित है। षड्विंश में इसे याग रूप ही कहा गया है।[2] इससे ऐसा प्रतीत होता है कि इन ग्रन्थों के काल तक सामान्य जीवन में व्यवहार की दृष्टि से प्रायश्चित्त प्रक्रिया अस्तित्व में थी।

आख्यायिकाओं के द्वारा निरूपित आचार

सामवेदीय ब्राह्मण ग्रन्थों में ऐतिहासिक प्रसंगों पर आधारित आख्यायिकाओं के माध्यम से मनुष्य को सत्कर्मों की ओर प्रेरित करने, दुष्कर्मों से बचाने हेतु प्रयत्न किया गया है। जैसे सत्यासत्य के मध्य निर्णय करने हेतु अग्निप्रवेश की पद्धति का उल्लेख है। व्रात्यसमूहों के शुद्धि संस्कार से सम्बन्धित प्रयत्नों पर आधारित अनेक आख्यायिकायें उल्लिखित हैं। राजा के आचार को स्पष्ट करने

1. पशवो हाध्वर्युमनुकीर्तिर्होतारं योगक्षेमो ब्रह्माणमात्मा च प्रजा चोद्गातारम्। षड् ब्रा. 3.1.10
2. अथ यदाह यज्ञो वाव यज्ञस्य प्रायश्चितिरिति पुनर्यज्ञ एव स एते उ ह त्वेवाहुती। यज्ञविभ्रष्टस्य प्रायश्चित्तिरिति। षड् ब्रा. 3.2.4

के प्रसंग में प्रजा के मध्य अस्थिरता और असंतोष तथा उनके निवारण के लिए प्रजापति के द्वारा किये गये प्रयत्न की सूचना दी गई है। इन्द्र के द्वारा ब्राह्मणों और क्षत्रियों के मध्य सहयोग की भावना स्थापित करने का भी उल्लेख है। जैमिनीय उपनिषद् में वर्णित शर्यात् मानव के ऐतिहासिक आख्यान में देवत्व पर मनुष्यत्व की विजय की घोषणा मिलती है। इसी प्रकार षड्विंश ब्राह्मण में प्राप्त सन्ध्योपासनापरक आख्यान में अनृत-भाषण-परित्याग, वेदानुशीलन, प्रणवोपासना एवं गायत्री साधना का प्रतिपादन किया गया है। वात्स प्रीर्भालन्दन की आख्यायिका के द्वारा श्रद्धा भावना की आवश्यकता पर बल दिया गया है। वाग् विषयक कतिपय आख्यायिकाओं में वाणी और सरस्वती को एकीकृत किया गया है।

इस प्रकार हमें सामवेदीय ब्राह्मण ग्रन्थों में उस उदात्त नैतिक भावना के दर्शन होते हैं जो मनुष्य के व्यवहार को नियंत्रित करके उसे गरिमामय जीवन जीने का मार्ग बतलाती हैं। मानव के जीवन को श्रेष्ठता प्रदान करने वाले अनेक कर्तव्यों और उत्तरदायित्वों का बोध कराने वाले भावों का भी इसमें मिश्रण किया गया है।

अथर्वेदीय गोपथ ब्राह्मण में निहित आचार

अथर्ववेद का एकमात्र उपलब्ध ब्राह्मण ग्रन्थ गोपथ ब्राह्मण है। काफी लम्बी अवधि तक इस ग्रन्थ का अथर्ववेद की किस शाखा से सम्बन्ध है, इस विषय में निश्चय नहीं किया जा सका। गोपथ ब्राह्मण में शौनकीया शाखा के मंत्रों का निर्देश प्रतीकों द्वारा किया गया है अतः इस ग्रन्थ का सम्बन्ध शौनकीया शाखा से माना जाने लगा था लेकिन वर्तमान में इसका किस शाखा से सम्बन्ध है यह निश्चित किया जा चुका है क्योंकि पतंजलि ने अपने व्याकरण महाभाष्य में अथर्ववेद के प्रथम मंत्र के रूप में 'शन्नो देवीरभिष्टये' इत्यादि मंत्र का उल्लेख किया है और यह मंत्र हमें पैप्पलाद शाखा के अथर्ववेद में ही मिलता है। इसका विवरण गोपथ ब्राह्मण में भी किया गया है जिसकी पुष्टि वेंकटमाधव की 'ऋग्वेदानुक्रमणी' से की जा सकती है।[1]

1. ऐतरेयस्माकं पैप्लादमथर्वणाम्। तृतीयं त्रित्रिप्रोक्तं जानन् वृद्ध इहोच्यते।
ऋग्वेदानुक्रमणी 0.1.13

गोपथब्राह्मण के नामकरण के सन्दर्भ में विभिन्न मत

विभिन्न विद्वानों ने अलग-अलग आधारों पर अपने मतों को स्थापित किया है जिनका संक्षेप में विवेचन इस प्रकार है-

1. ऋषि गोपथ को इस ब्राह्मण ग्रन्थ का प्रवक्ता माना गया है क्योंकि उन्हीं के नाम से इस ग्रन्थ की प्रसिद्धि हुई है। इस संबंध में यह तथ्य भी ध्यान देने योग्य है कि शौनकीय अथर्ववेद के चार सूक्तों का द्रष्टा ऋषि गोपथ को ही माना गया है (सूक्त संख्या-19.47, 19.48, 19.49 और 19.50)। इसके अतिरिक्त ऐतरेय, कौषीतकि एवं तैत्तिरीय आदि अन्य ब्राह्मण ग्रन्थों की प्रसिद्धि भी उनके प्रवचनकर्ता आचार्यों के नाम पर है।
2. वैयाकरणिक दृष्टि से भी गोपथ के नामकरण के संदर्भ में मत प्रचलित है। इसके अनुसार गोपथ शब्द 'गोप्ता' से निष्पन्न माना गया है। अथर्वाङ्गिरसों की प्रसिद्धि यज्ञ के गोप्ता अर्थात् रक्षक के रूप में है।[1] गोपथ शब्द की व्युत्पत्ति 'गुप्' धातु में 'अर्थ' के योग से बतायी गई है। इसी प्रकार इन्हीं गोपथों से सम्बन्धिते ग्रन्थ का नामकरण हुआ-गोपथ ब्राह्मण।
3. ब्राह्मण ग्रन्थों के अध्ययन से ऐसा ज्ञात होता है कि शतपथ ब्राह्मण से गोपथ ब्राह्मण ने काफी सामग्री ग्रहण की है इसीलिए नामकरण में भी उसी परम्परा का अनुवर्तन किया गया है। शतपथ ब्राह्मण के नामकरण में सौ अध्यायों की सत्ता को कारण माना गया है और 'गोपथ' के विषय में भी कुछ इसी भांति कहा गया है। 'गोपथ' का अर्थ है इन्द्रियाँ। इन इन्द्रियों की संख्या एकादश है। यहाँ पर गोपथ ब्राह्मण में भी इन्द्रियों के साम्य से ग्यारह प्रपाठक हैं। इस प्रकार संख्या-साम्य भी गोपथ के नामकरण में कारणस्वरूप माना जाता है।
4. डॉ. सूर्यकान्त ने भी इस विषय में अपना मत व्यक्त किया है जो

---

1. अथर्वाङ्गिरसो ही गोप्तारः- गोपथ ब्रा. 1.1.13

ऋग्वेद के सरमा-पणि सूक्त पर आधारित है।[1] उस सूक्त में कहा गया है कि देव-शुनी सरमा से प्राप्त सूचना के आधार पर इन्द्र ने पणियों के द्वारा छिपायी हुई गायों का उद्धार किया था। इन्द्र के इस साहसी कृत्य में अङ्गिरसों ने उनका सहयोग किया था। गायों के पथ को ऋषि अङ्गिरस जानते थे और यह उनका ब्राह्मण है।

इन सभी मतों के अवलोकन के पश्चात् ऐसा प्रतीत होता है कि इनमें प्रथम मत ही विश्वास करने योग्य प्रतीत होता है कि ऋषि गोपथ के प्रवक्ता होने के कारण ही इस ब्राह्मण ग्रंथ को 'गोपथ' नाम पड़ा।

विभाग एवं स्वरूप

आथर्वणपरिशिष्ट चरणव्यूह के द्वारा हमें यह ज्ञात होता है कि इस ब्राह्मण ग्रन्थ में कभी सौ प्रपाठक थे-

तत्र गोपथः। शतप्रपाठकं ब्राह्मणं आसीत्। तस्यावशिष्टे द्वे ब्राह्मणे पूर्वम् उत्तरं च।

लेकिन वर्तमान में गोपथ ब्राह्मण के दो भाग हैं-पूर्वभाग और उत्तर भाग। पूर्वभाग में पांच प्रपाठक हैं और उत्तरभाग में छः प्रपाठक हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण प्रपाठकों की कुल संख्या ग्यारह है। इन प्रपाठकों का अवान्तर विभाजन कण्डिकाओं में किया गया है। पूर्वभाग के पाँच प्रपाठकों के अन्तर्गत कुल 135 कण्डिकाएँ हैं। इसी प्रकार उत्तर भाग में कुल प्रपाठकों में 123 कण्डिकाएँ प्राप्त होती हैं।

गोपथ ब्राह्मण में आचारसम्बन्धी विवेचन

आर्थवण परम्परा का पालन करते हुए गोपथ ब्राह्मण में यत्र-तत्र सर्वत्र हमें आध्यात्मिक तत्त्वों की प्रचुरता दिखलायी देती है। यहाँ पर ऐसा प्रतीत होता है कि इसका प्रतिपादन करते हुये ब्राह्मणकार ने ओंकार, महाव्याहृतियों, गायत्री (सावित्री) मंत्र और मानसिक संयम को विशेष महत्त्व दिया है। इस

1. अथर्ववेद और गोपथ ब्राह्मण (ब्लूमफील्ड कृत), हिन्दी अनुवाद, भूमिका, 1964 ई. पृष्ठ - 9

सम्बन्ध में एक स्थल पर ओंकार के महत्त्व का निरूपण करते हुये कहा गया है कि ओंकार का एक सहस्र बार जप करने से समस्त कामनाओं की पूर्ति होती है।[1] गोपथ में वेद-पाठ के सन्दर्भ में भी ओंकार की महत्ता प्रदर्शित की गई है कि "बिना ओंकार के वेदमंत्रों का पाठ नहीं होता है। वह ऋक्, यजुष्, साम, प्रत्येक सूत्रग्रन्थ, ब्राह्मण ग्रन्थ और श्लोक में अनुस्यूत है।"[2]

अन्य ब्राह्मण ग्रन्थों के समान इसमें गायत्री की भी विशद मीमांसा की गई है और भूः भुवः, स्वः इन महाव्याहृतियों का भी वर्णन किया गया है। गायत्री को एकाक्षरा और श्वेतवर्णा स्वरूप का प्रतिपादन भी किया गया है।[3]

इसी में सविता और सावित्री के विषय में भी एक स्थल पर शंका करते हुये कहा गया है-सविता कौन है और सावित्री क्या है।[4] इस प्रश्न को उपस्थित करते हुये सावित्री की अनेकशः व्याख्या की गई है कि वाणी है सावित्री। एक अन्य उल्लेख के अनुसार अग्नि के रूप में सविता और पृथिवी के रूप में सावित्री का प्रतिपादन किया गया। इसी प्रकार अन्य स्थलों पर भी अन्य अनेक युग्मों जैसे वायु और अन्तरिक्ष, आदित्य और द्यु, चन्द्रमा और नक्षत्र, दिन और रात्रि, ग्रीष्म और शीत, मेघ और वर्षा, विद्युत् और गर्जना, प्राण और अन्न, वेद और छन्द, यज्ञ एवं दक्षिणा इत्यादि के माध्यम से सविता और सावित्री का विवेचन किया गया है। वेदमाता गायत्री की उपासना करने वाला उपासक अनंत पुण्य, श्री एवं कीर्ति का भाजन बनता है।[5]

गोपथ ब्राह्मण में यद्यपि प्रजापति का उल्लेख किया गया है तथापि ब्रह्म

---

1. तदेतदक्षरं ब्राह्मणो यं काममिच्छेत्, त्रिरात्रोपोषितः प्राङ्मुखी वाग्यतां बर्हिष्युपविश्य सहस्रकृत्व आवर्त्तयेत् सिद्ध्यन्त्यस्यार्थाः सर्वकर्माणि चेति ब्राह्मणम्। गो.ब्रा. 1.1.22
2. न मामनीरयित्वा ब्राह्मणा ब्रह्म वदेयुः यदि वदेयुः अब्रह्म तत् स्यात्। तस्मादोङ्कारः पूर्वमुच्यते। ओङ्कार ऋचि ऋग्भवति, यजुषि यजुः, साम्नि साम, सूत्रे सूत्रं ब्राह्मणे ब्राह्मणम्, श्लोके श्लोकः प्रणवे इति ब्राह्मणम्। गो.ब्रा. 1.1.23
3. गायत्री वै देवानामेकाक्षरा श्वेतवर्णा च व्याख्याता। वही 1.1.27
4. कः सविता। का सावित्री। वही 1.1.30.33
5. पुण्यां च कीर्तिं लभते सुरभीश्च गन्धान्। सोऽपहतपाप्मा। अनन्तां श्रियमश्नुत य एवं वेद, यश्वैवं विद्वानेवमेता वेदानां मातरं सावित्रीसम्पदमुपनिषदमुपास्ते। - गो.ब्रा. 1.1.38

का महत्त्व सर्वोपरि माना गया है, सृष्टि की उत्पत्ति ब्रह्म के द्वारा ही मानी गई है। इस सन्दर्भ में श्रम एवं तप का महत्त्व भी वर्णित है कि सृष्टि का प्रारम्भ ब्रह्म के तप और श्रम से हुआ। भृगु और अथर्वा प्रभृति ऋषियों ने भी श्रम और तप का अनुष्ठान किया। श्रम और तप से ही देवसृष्टि और लोकसृष्टि संभव हुई। इन्हीं से तीनों वेदों और महाव्याहृतियों का निर्माण हुआ।[1]

इस ब्राह्मण ग्रन्थ में कैवल्य की अवधारणा की भी प्रतिपादन किया गया है।[2]

यहाँ पर यज्ञक्रम, विभिन्न ऋत्विजों को वाणी आदि की प्राप्ति, अंगिरा की उत्पत्ति और ऋत्विजों के कृत्यों की विवेचना करते हुये यज्ञ के इक्कीस भेद बताये गये हैं।[3] और आगे इसी क्रम में इनका पृथक्-पृथक् उल्लेख भी किया गया है।[4]

ऋत्विजों को अपने कार्यों का सम्पादन कुशलतापूर्वक करना चाहिये क्योंकि अकुशल ऋत्विजों से यज्ञ नष्ट हो जाता है।[5]

गोपथ ब्राह्मण में यह भी कहा गया है कि अथर्ववेदियों के बिना सोमयागों का सम्पादन नहीं हो सकता।[6] यज्ञ का स्वरूप, गति और तेज ऋक्, यजुष्

---

1. गो.ब्रा. 1.1.6
2. गो.ब्रा. 1.1.30
3. सप्तसुत्याः सप्त च पाकयज्ञा हविर्यज्ञाः सप्त तथैक विंशतिः। सर्वे ते यज्ञा अङ्गिरसोऽपि यन्ति नूतना यानृषयो सृजन्ति ये च सृष्टा पुराणे।। - गो.ब्रा. 1.5.15
4. सायं प्रातर्होमौ स्थालीपाको नवश्चयः।
   बलिश्च पितृयज्ञश्चाष्टका सप्तमः पशुः। इत्येते पाकयज्ञाः।
   अग्न्याधेयमग्निहोत्रं पौर्णमास्यमावास्ये।
   नवेष्टिश्चातुर्मास्यानि पशुबन्धोऽत्र सप्तमः।। इत्येते हविर्यज्ञाः।।
   अग्निष्टोमोऽत्यग्निष्टोम उक्थ्यः षोडशिमांस्ततः।
   वाजपेयोऽतिरात्रश्चाप्तोर्यामात्र सप्तमः। इत्येते सुत्याः।। - गो.ब्रा. 1.5.23
5. यद् वै यज्ञे कुशला ऋत्विजो भवन्त्यचरितिनो ब्रह्मचर्यमपराध्यां वा तद् वै यज्ञस्य विरिष्टमित्याचाक्षते। वही 1.1.13
6. नर्ते भृग्वङ्गिरोविद्भ्यः सोमः पातव्यः। ऋत्विजः पराभवन्ति, यजमानो रजसापवध्यति, श्रुतिश्चापध्वस्ता तिष्ठति। गो.ब्रा. 1.1.20

और साम पर आधारित बतलाया गया है।[1] इसी प्रकार ऋग्वेदीय मण्डलों से यज्ञ के पार्थिवरूप का, अन्तरिक्ष का यजुष् से और सामवेद से द्युलोक का आप्यायन होता है और अथर्ववेद से जलरूप का। ब्रह्मा अथर्ववेदीय मंत्रों से यज्ञ के हानिकारक तत्वों को शान्त करते हैं।[2]

विभिन्न इन्द्रियों की दृष्टि से वैशिष्ट्य का निरूपण गोपथ ब्राह्मण में हुआ है। तदनुसार होता वाणी से, अध्वर्यु प्राण और अपान से, उद्गाता नेत्रों से और ब्रह्मा मन से यज्ञ का सम्पादन करता है।[3] 'चत्वारि श्रृङ्गा' प्रभृति इस मंत्र की यज्ञपरक व्याख्या करते हुये ब्राह्मणकार ने 'महोदेवः' शब्द की व्याख्या करते हुये यज्ञ को ही महान् देवता बतलाया गया है।[4] इसी क्रम में आगे ब्रह्म को 'सर्ववेत्ता' भी कहा गया है।[5] मानव-शरीर के विभिन्न अंगों से यज्ञ की समानता प्रदर्शित करने की ब्राह्मण ग्रन्थों की परम्परा का अनुपालन गोपथ ब्राह्मणकार ने भी किया है। ब्राह्मणकार ने आधे-अधूरे मन से कार्य करने का भी निषेध किया गया है। मन के महत्त्व को और भी स्पष्ट करते हुये कहा गया है कि आदमी जो मन से सोचता है वही होता है।[6]

द्वितीय प्रपाठक में ब्रह्मचारी के कर्तव्यों का विस्तार से निरूपण है। ऐन्द्रिक रागों और आकर्षणों से उसे बचना चाहिये। स्त्री-सम्पर्क, दूसरों को कष्ट पहुँचाने, ऊँचे आसन पर बैठने से उसे बचना चाहिये। संरक्षित धर्म ही उसकी रक्षा करते हैं।[7] सूक्ति रूप में प्रतिपादित यही अंश कालान्तर में लौकिक संस्कृत में "धर्मो रक्षति रक्षितः" के रूप में परिवर्तित हो गया, ऐसा प्रतीत होता है।

---

1. गो.ब्रा. 1.2.9
2. तद् यथेमां पृथिवीमुदीर्णां ज्योतिषा धूमायमानां वर्षं शमयति, एवं ब्रह्मा भृग्वङ्गिरोभिर्व्याहतिभिर्यज्ञस्य विरिष्टं शमयति। गो. ब्रा. 1.2.9
3. मनसैव ब्रह्मा ब्रह्मत्वं करोति। गो.ब्रा. 1.2.11
4. गो.ब्रा. 1.2.16
5. एष ह वै विद्वान् सर्वविद् ब्रह्मा यद् भृग्वङ्गिरोविदिति ब्राह्मणम्। गो.ब्रा. 1.2.10
6. स मनसा ध्यायेद्, यद् वा अहं किञ्च मनसा ध्यास्यामि तथैव तद् भविष्यति। तद्ध स्म तथैव भवति। गो.ब्रा. 1.2.4
7. धर्मो हैनं गुप्तो गोपायति। गो.ब्रा. 1.2.4

यज्ञ-दीक्षा के प्रकरण में अनेक नैतिक नियमों का उल्लेख है। श्रेष्ठ बुद्धि से युक्त व्यक्ति को ही 'दीक्षित' माना गया है।[1]

इस प्रकार निष्कर्षस्वरूप यह कहा जा सकता है कि आचार-दर्शन की दृष्टि से गोपथ ब्राह्मण का स्तर उच्च एवं उदात्त है।

---

1. श्रेष्ठां धियं क्षियतीति। तं वा एवं धीक्षितं सन्तं दीक्षित इत्याचक्षते परोक्षेण।
गो.ब्रा. 1.3.19

नवम अध्याय

ब्राह्मणग्रन्थों में विहित श्रौतयागों में आचार-चेतना

ब्राह्मण ग्रन्थों में निहित श्रौतयागों में सन्दर्भित आचार-दर्शन को समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम तत्कालीन समाज में प्रचलित यज्ञ के स्वरूप को भी समझें। इनके समुचित ज्ञान के बिना इनमें प्रतिपादित आचार-विषयक-विवरण को समझना सम्भव नहीं है। हमें ज्ञात है कि प्राचीन यज्ञ-प्रधान भारतीय समाज में प्रायः दो प्रकार के यज्ञ प्रचलित थे। प्रथम श्रौतयज्ञ जिनका विधान ब्राह्मण ग्रन्थों में किया गया था तथा द्वितीय स्मार्त (पाक-यज्ञ), जिनका विधान गृह्य एवं धर्मसूत्रों में प्राप्त होता है। श्रौतयज्ञों के दो भेद हैं-हविर्यज्ञ तथा सोमयज्ञ। दूध-दही-घी पुरोडाश (जौ या चावल के आटे से बनाई गई बाटी) से सम्पन्न होने वाले यागसोम याग कहलाते हैं जैसे अग्निष्टोम। सोमयाग भी श्रौतयागों का आवश्यक अंग होता है। सोमयाग के चार भेद हैं। एकाह, अहीन, साद्यस्क तथा सत्र। एक दिन में सम्पन्न होने वाले सोमयाग को एकाह, दो से ग्यारह दिन में होने वाले यज्ञ को अहीन और तेरह दिन से एक हजार वर्ष तक चलने वाले सोमयाग को सत्र कहते हैं (बारह दिन में होने वाले याग अहीन और सत्र दोनों ही है।)

एकाह की सम्पन्नता में वस्तुतः पाँच दिन लग जाते हैं क्योंकि सोम के अभिषव से पूर्व चार दिन तक तैयारी चलती रहती है। यदि संकल्प से लेकर अवभृथ (स्नान) तक सम्पूर्ण कृत्य एक ही दिन में सम्पन्न हों तो उस एकाह यज्ञ को साद्यस्क्र कहते हैं। एकाह सोमयाग की सात संस्थाएँ हैं-अग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, अतिरात्र, अत्यग्निष्टोम, वाजपेय और आप्तोर्याम। अग्निष्टोमादि विशेष सामगानों के नाम हैं, उनमें से जो साम किसी एकाह याग में गाया जाने

वाला अन्तिम साम यज्ञायज्ञिय (अग्निष्टोम) होता है, वह अग्निष्टोम एकाह सोमयाग कहा जाता है।

अग्निष्टोम सभी सोमयागों की प्रकृति है अर्थात् अग्निष्टोम के ढांचे में स्वल्प परिवर्तन करके अन्यान्य सोमयाग निष्पन्न होते हैं। इनके अतिरिक्त लगभग एक दर्जन सव और राजसूय, अश्वमेध, पुरुषमेध, सर्वमेध आदि भी विशेष प्रकार के सोमयाग हैं। सोमयाग के लिए विशाल देवयजन (यज्ञशाला) का निर्माण किया जाता है। सामान्यतः यज्ञशाला में समभूमि पर मेखलायुक्त आहनीय आदि अग्निस्थान बनाकर तथा अग्निस्थापित करके उसमें आहुतियाँ दी जाती हैं। कभी-कभी आहनीय आदि अग्निस्थलों पर ईटों से ऊँचा स्थण्डिल (चबूतरा) बनाकर उस पर मेलखा बनाकर तथा अग्नि स्थापित कर आहुति दी जाती हैं। इस प्रकार का स्थण्डिल-निर्माण चिति या चयन कहा जाता है। चिति के अनेक प्रकार हो सकते हैं। किन्तु वर्तमान में सुपर्ण-चिति या श्येन-चिति अधिक प्रचलित है। सचिति सोमयाग में प्राकृत विधियों के अतिरिक्त अनेक वैकृत विधियों का समावेश हो जाता है। कुछ वर्ष पूर्व ही नान्देड में एक हजार ईंटों की चितिसहित अतिरात्र सोमयाग और बंगलौर में तीन हजार ईंटों की चिति सहित आप्तोर्याम याग सम्पन्न हुआ था। अहीनात्मक द्वादशाह (बारह दिन में अनुष्ठेय सोमयाग) अहीनों की और सत्रात्मक द्वादशाह सत्रों की प्रकृति है। सत्र भी दो प्रकार के हैं - रात्रि-सत्र और अयन-सत्र। बारह दिन से सौ दिन तक होने वाले याग रात्रि-सत्र और सौ से अधिक दिन तक चलने वाले याग अयन-सत्र कहे जाते हैं।

अग्निष्टोम के द्वारा जिस सोमयाग की समाप्ति (संस्था=समाप्ति) होती है, उसको अग्निष्टोम संस्था कहते हैं। अग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी और अतिरात्र नामक चार संस्थाओं को ज्योतिष्टोम संस्थाएँ कहा जाता है क्योंकि इन चारों संस्थाओं में ज्योति नामक स्तोमों का गान किया जाता है। त्रिवृत, पञ्चदश, सप्तदश और एकविंश इन चार स्तोमों को ज्योति कहा जाता है। अग्निष्टोम नामक प्रथम संस्था में बारह स्तोत्र होते हैं। उक्थ्य में पूर्वोक्त बारह के अतिरिक्त तीन स्तोत्रों की संख्या पन्द्रह हो जाती है, षोडश में एक स्तोत्र अतिरिक्त होकर स्तोत्रों की संख्या सोलह हो जाती है। अग्निष्टोम के बारह स्तोत्र तथा षोडशी का

एक स्तोत्र-कुल मिलाकर तेरह स्तोत्र होते हैं। वाजपेय में स्तोत्रों की संख्या सत्रह, अतिरात्र में पच्चीस और आप्तोर्याम में तैंतीस हो जाती है। स्तोत्र (सामगान द्वारा देवता की स्तुति) के पश्चात् शस्त्र (ऋचाओं द्वारा देवता की स्तुति) का पाठ किया जाता है अतः किसी याग में जितने ही स्तोत्र होते हैं, उतने ही शस्त्र होते हैं।

दर्शपूर्णमास याग के अनुष्ठान के लिए चार ऋत्विज् - ब्रह्मा - होता - अध्वर्यु इत्यादि पर्याप्त होते हैं। वरुणप्रघास चातुर्मास्य में प्रतिस्थाता नामक नया ऋत्विक् आ जाता है और ऋत्विक्-संख्या पाँच हो जाती है। सोमयाग तीनों वेदों में साध्य है अतः तीनों वेदों के ऋत्विजों, समन्वयकारकों तथा परिकर्मियों का समावेश ऋत्विक् समुदाय में किया गया है। प्रधान ऋत्विकों के चार गण होते हैं - ब्राह्मगण - होतृगण - अध्वर्युगण और उद्गातृगण। प्रत्येक गण में चार-चार ऋत्विज् प्रथम-द्वितीय-तृतीय-पादी होते हैं जो इस प्रकार हैं -

स्थिति	ब्रह्मगण	होतृगण	अध्वर्युगण	उद्गातृगण
प्रथम	ब्रह्मा	होता	अध्वर्यु	उद्गाता
द्वितीय	ब्राह्मणाच्छंसी	मैत्रावरुण	प्रतिप्रस्थाता	प्रस्तोता
तृतीय	आग्नीध्र	अच्छावाक	नेष्टा	प्रतिहर्ता
पादी	पोता	ग्रावस्तुत्	उन्नेता	सुब्रह्मण्य

सोलह प्रधान ऋत्विजों के अतिरिक्त एक सोम प्रवाक, दस चमसाध्वर्यु तथा एक या अनेक सदस्य भी होते हैं।

श्रौतयागों में निहित आचार-दृष्टि का उन्मीलन सर्वप्रथम इसी बिन्दु से हो जाता है कि दोनों का मूलाधार मानव-जीवन है जिसकी अविकल समानान्तरता का ध्यान यज्ञों के विधि-विधान का निर्धारण करते समय रखा गया है। यद्यपि मीमांसकों ने याग-फल के रूप में 'अपूर्व' तथा 'अदृष्ट' पर विशेष बल दिया है, जिसका प्रतिफल यजमान को याग-सम्पादन के तत्काल बाद न मिलकर, मरणोत्तर प्राप्त होता है, किन्तु ब्राह्मण ग्रन्थों का अनुशीलन करने पर यह विचार अंशतः ही सही ठहरता है। ऐहिक जीवन भी उदात्त बने, इसका प्रत्याख्यान

कहीं भी नहीं किया गया है। याग-सम्पादन से यजमान और उसकी पत्नी के वर्तमान जीवन में भी आध्यात्मिक समुन्नयन और भौतिक विभव का संवर्धन हो - एतदर्थ ब्राह्मण ग्रन्थों के विचारक ब्रह्मवादी सचेष्ट दिखलाई देते हैं। षड्विंश ब्राह्मण में इसीलिए समग्र मानव-जीवन की यज्ञरूपता को निरूपित करते हुए वाणी और प्राण का होता, चक्षु और अपान को अध्वर्यु, मन को ब्रह्मा, श्रवणेन्द्रिय को उद्गाता, नेत्रों में विद्यमान अन्तः आकाश एवं पुरुष को सदस्य एवं अन्य अंगों को चमसाध्वर्यु कहा गया है।[1] आचार-दर्शन की प्रतिष्ठा भी इन्हीं इन्द्रियों एवं अन्य अंगों की सम्यक् क्रियाशीलता की पीठिका पर की गई है।

ताण्ड्यमहाब्राह्मण के 'विश्वसृजामयन' संज्ञक याग का निरूपण करते समय भी जीवन और उसके उन तत्त्वों पर विशेष बल दिया गया है, जो एक स्वस्थ आचार-दर्शन के नियामक, कारण अथवा प्रयोजक हैं। तदनुसार यह वह यज्ञ है जिसमें तपस्या, ब्रह्म, इरा, कान्ति, अमृत, भूत एवं भविष्यकाल, विभिन्न ऋतुओं और उनसे सम्बद्ध वस्तुओं, सत्य, ऋत, ओज, यशस्, ऐश्वर्य (भग), ऊर्जा, वाक्, प्राण, दिष्टि (आन्तरिक श्वसन), बल, आशा, अहोरात्र और मृत्यु ने विभिन्न ऋत्विजों और द्रव्यों का स्थान ग्रहण किया।[2] आशा इस जीवन-यज्ञ की ही प्रेरणा नहीं है, अपितु सदाचार की भी प्रेरणा है।

छान्दोग्योपनिषद्, जो वास्तव में ताण्ड्यमहाब्राह्मण की ही अंग है, में

---

1. वाङ् मे होता समोपह्वयतां ...... चक्षुर्मेऽध्वर्युः समोपह्वयतां ...... मनो मे ब्रह्मा समोपह्वयतां ...... श्रोत्रं म उद्गाता समोपह्वयतां ..... योऽयमन्तश्चक्षुष्याकाशः स मे सदस्यः ...... अङ्गानि मे चमसाध्वर्यवस्तेमोपह्वयताम् .... प्राणो मे होता समोपह्वयतां .... व्यानो मे ब्रह्मा समोपह्वयताम् .... लोमानि में चमसाध्वर्यव ....।

   -षड् ब्रा. 2.6-7.2, 2

2. एतेन वै विश्वसृज इदं विश्वमसृजन्त यद्विश्वमसृजन्त तस्मा विश्वसृजः विश्वमेना ननु प्रजायते य एतदुपयन्ति तपो गृहपतिर्ब्रह्म ब्रह्मेरापत्न्यमृतमुद्गाता भूतं प्रस्तोता भविष्यत् प्रतिहर्त्तर्त्तव उपगातार आर्त्तवाः सदस्याः सत्यं होतमैत्रावरुण ओजो ब्राह्मणाच्छँसी त्विषिश्चापचितिश्च नेष्टा पोतारौ यशोऽच्छावाकोऽग्निरेवाग्नीद्भगो ग्रावस्तु दूर्गुन्नेता वाक् सुब्रह्मण्यः विशास्ता बलं ध्रुवगोपमाशाहविष्येप्यहोत्राविध्मवाहौ मृत्युः शामितैते दीक्षन्ते - ताण्ड्य ब्राह्मण 25.18.3.

जीवन की गतिशीलता को ही यज्ञ कहा गया है - 'एष ह वै यज्ञो योऽयं पवते, एष ह यन्निदं सर्वं पुनाति' (4.16.1)। इसी उपनिषद में मानव-जीवन को तीन सवनों वाला यज्ञ बतलाया गया है (3.16.17) तदनुसार जीवन के आरम्भिक 24 वर्ष प्रात: सवन, आयु का अगला मध्यम भाग माध्यन्दिन सवन तथा 48 वर्षों से आगे का जीवन भाग तृतीय सवन है। 'अयं खलु क्रतुमय: पुरुष:' कहकर भी छान्दोग्योपनिषद् में इसी विचार बिन्दु की पुष्टि की गई है। आचार-दर्शन का प्रयोजन भी मानव-जीवन के इन्हीं विचार-बिन्दुओं की पुष्टि की करना। आचार-दर्शन का उद्देश्य भी मानव-जीवन के इन्हीं भागों को परिष्कृत करना है। हमारे इस जागतिक जीवन के स्वप्न, आकाक्षाएँ ही यागानुष्ठान के प्रयोजन रूप में अन्वित हुई हैं - इन्हीं स्वप्नादि को नियमित, नियन्त्रित और सत्यपथानुवर्तित करना ही आचार-दर्शन का भी मूल उद्देश्य है।

इनके अतिरिक्त 'विधि' और 'निषेध' की प्रक्रिया भी यागानुष्ठान और आचार-दर्शन, दोनों में ही समान रूप से उपलब्ध होती है। 'रामादिवद् वर्तितव्यं न रावणादिवत्' (राम के समान व्यवहार करना चाहिए, न कि रावण के समान) - यह दृष्टि मूलत: दोनों ही व्यापारों में सन्निहित रहती है। श्रौतयागों में भी उपादेय की ग्रहण-विधि और अनुपादेय की निषेधाज्ञा ही सम्पूर्ण क्रिया-कलाप के मूल में निविष्ट होती है।

यह ठीक है कि यागानुष्ठान के प्रयोजनों में स्वर्गादि का उल्लेख बहुधा हुआ है; वाजपेय, राजसूय और अश्वमेधादि यज्ञों का अनुष्ठान साम्राज्यादि कामनाओं से किया भी जाता है, और अन्य बहुत-से यागों में धन, जन और पशु-समृद्धि की आकांक्षाएँ अन्तर्निहित हैं, लेकिन मात्र इन्हीं को यज्ञानुष्ठान का मूल उद्देश्य नहीं माना जा सकता। सृष्टि-व्यापार की समानान्तर नाटकीय प्रस्तुति, जैसा कि कुछ आधुनिक विद्वानों ने श्रौतयागों की व्याख्या में कहा है, भी सम्पूर्ण सत्य नहीं है। श्रौतयागों के समग्र क्रिया-कलाप पर गम्भीरता से विचार करने पर यह सत्य सरलता से सामने आ जाता है कि इनके अनुष्ठान का एक विशिष्ट प्रयोजन उन आचारों का प्रत्यक्ष-परोक्ष विधान करना भी है, जो व्यक्ति और समाज के जीवन को सदाचार की ओर उन्मुख करते हुए उसे उदात्त बनाने में उपादेय सिद्ध हो सके। यह प्रक्रिया मनोविज्ञान और मनोव्यवहार को

ध्यान में रखते हुए यागों में निर्धारित है। शब्दप्रधान होते हुए भी वेद, इस सन्दर्भ में अत्यन्त व्यावहारिक दृष्टिकोण को स्वीकार करता है। वहाँ मानव-जीवन में उपादेय नैतिक चेतना को यागों के क्रिया-कलाप में इस प्रकार समाविष्ट कर दिया गया है कि वह राजाज्ञा की तरह भारस्वरूप नहीं प्रतीत होती, और नहीं काव्यादिवत् मनोरञ्जन की राशि में विलीन ही हो जाती है। ब्राह्मणग्रन्थों में, यह नैतिक चेतना, विविध याज्ञिक अनुष्ठानों के मध्य इस प्रकार सूक्ष्मता से पिरो दी गई है और विविध विधियों और अर्थवादों और समुदाय, दोनों को ही वह अपने लिये ग्राह्य लगती है। इसका अनुगमन स्वभाव का अंग बन जाता है।

वैदिक श्रौतयागों पर भारी-भरकम पुस्तकों का प्रणयन करने के बाद भी वास्तविकता यही है कि अधिकांश पश्चिमी विद्वान् यज्ञ-संस्था को समझ नहीं सके, क्योंकि इस तरह की कोई संस्था उनके अपने धर्मों में थी ही नहीं। कभी वे श्रौतयागों की व्याख्या आदिवासी धर्मों के सन्दर्भ में करने लगते हैं, और कभी नृतत्त्वविज्ञान अथवा समाजविज्ञान की अधकचरी मान्यताओं के परिप्रेक्ष्य में यज्ञों की व्याख्या के ताने-बाने बुनने लगते हैं, जिससे नैतिकता और सदाचार सम्बन्धी मूल्यवान याज्ञिकविधि-निषेध उनकी दृष्टि से प्रायः ओझल हो जाते हैं। श्रौतयागों में निहित आचार-चेतना की ओर पश्चिमी वेदविद्वानों के द्वारा किए गए दुर्लक्ष्य का एक और कारण यह है कि पाप एवं पुण्य को समझने की उनकी दृष्टि बाइबिल - चाहे ओल्ड टेस्टामेण्ट हो या न्यू टेस्टामेण्ट - के विवरणों से ऊपर नहीं उठ पाती। इस दुर्लक्ष्य के मूल में कहीं अज्ञान है, तो कहीं भेदभाव भी है। यही कारण है कि कीथ, ओल्डेनबर्ग, मैक्डॉनेल प्रभृति बहुसंख्य पाश्चात्य विपश्चितों की मण्डली ने श्रौतयागों में किसी नैतिक चेतना के अस्तित्व को प्रायः नकारा ही है। ये प्राच्यविद्, जो प्रायः अपनी ही कपोलकल्पनाओं में आत्ममुग्ध दिखलाई देते हैं, न केवल ब्राह्मण ग्रन्थों में ही अपितु सम्पूर्ण भारतीय दर्शन में ही नैतिकता के अस्तित्व को अस्वीकार करते दिखते हैं। उदाहरण के लिए कीथ के इन वाक्यों को यहाँ प्रस्तुत नहीं किया जा सकता है - 'नीति शब्द के असली अर्थ में तो ब्राह्मण-साहित्य में एक भी नीतिविषयक सिद्धान्त नहीं मिलता। सत्कर्म क्या है, इस प्रश्न का वैदिक आत्माओं की उन कल्पनाओं पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा दिखता था, जिनकी

रूपरेखा अब तक खींची गई है। भारतीय दर्शन की मुख्य विशेषता ही यह है कि इसमें सदाचार का प्रश्न कभी भी गम्भीर विचारणा का विषय नहीं बन पाया।'[1] इसके बाद कीथ भारतीय नैतिक चेतना और ईरानी नैतिक चेतना की तुलना करते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि 'भारत की विचारधारा यहाँ की जलवायु तथा जीवन एवं जातीय सम्मिश्रण की विभिन्न दशाओं के कारण क्रिया की ओर न मुड़कर कल्पना की ओर प्रवण हुई, और जीवन को पाप और पुण्य के मध्य एक युद्ध समझने की अपेक्षा उसके भीतर एकत्व को देखने की ओर अग्रसर हुई .....। भारत में इसे परमसत्ता माना गया, जिसमें सब कुछ निहित रहता है – भला और बुरा – दोनों, भौतिक और आध्यात्मिक दोनों। . ..... सच पूछो तो ब्राह्मण ग्रन्थ नैतिकता का उपदेश आनुभविक आधारों तक पर ही नहीं करते। देवताख्यान, जिनका कि उनमें वर्णन भरा पड़ा है, कर्म के नैतिक पक्ष के प्रति उदासीन हैं। देवता अपने लाभ के लिए मनमाना पाप कर डालते हैं। .... इन्द्र तो पक्का निर्लज्ज है...... प्रजापति सगोत्रीयगमन करता है और अपना मुँह काला करते समय पशुरूप धारण कर लेता है।..... दूसरे देवता भी एक दूसरे से खार खाये रहते हैं। वे प्रेम और मैत्री से प्रभावित न होकर एक दूसरे की निन्दा से प्रभावित होते हैं।'[2] इसी प्रकार के विचार ओल्डेनबर्ग ने भी व्यक्त किये हैं।[3] विण्टरनित्स, मेयर तथा फ्रेजर ने भी इसी विचार-सरणि को अपनाया है, लेकिन उनका फोकस अधिकतम स्त्रियों से सम्बद्ध नैतिकता पर रहा है।[4]

उपर्युक्त उद्धरणों में सतही औपनिवेशिक मान्यता और पक्षपात की मानसिकता स्पष्ट रूप से परिलक्षित की जा सकती है। भारतीय धार्मिक ग्रन्थों में किसी भी अच्छाई पर इन स्वयम्भू पाश्चात्य विद्वानों की दृष्टि पराधीनता के काल में जा ही नहीं सकती थी, क्योंकि उसका दुष्प्रभाव उन ईसाई मिशनरियों के धर्मान्तरण-अभियान पर पड़ता, जो भारतीयों की अशिक्षा और निर्धनता का

1. दि रिलीजन एण्ड फिलॉसफी ऑफ दि वेद एण्ड उपनिषद्स, कीथ, ए.बी. (हिन्दी अनुवाद-) द्वितीय भाग, पृष्ठ 583, 1965, मोतीलाल बनारसीदास
2. बही, पृ. 585-586.
3. जूर्नाल एशियातिक सन् 1915, पृ. 177 तथा आगे.
4. फ्रेजर; इण्डियन थॉट – पास्ट एण्ड प्रेजेण्ट, पृ. 271-306.

लाभ उठाते हुए उन्हें ईसा की भेड़ों में सम्मिलित करने के लिए बेताबी से जुटे थे। साथ ही उस यूरोपीय राज्याकांक्षा के दम्भ और उन्मादग्रस्त औपनिवेशिक शासन पर पड़ता, जो भारत-जैसे देशों के सर्वविध शोषण को ही मुख्य लक्ष्य मान रहा था। मिथ्या श्रेष्ठता के इस दुरभिमानजन्य आवरण के कारण इन पश्चिमी विद्वानों की श्रौतयागों में निहित आचारगत उन मानकों पर भी दृष्टि नहीं पड़ी, जो सूर्य के प्रकाश की भाँति जरा-सा दृष्टिपात करते ही सामने आ जाते हैं।

श्रौतयागों में सदाचार-पारिपालन का यह क्रम दीक्षणीया इष्टि से ही आरम्भ हो जाता है, जिसमें यजमान और उसकी पत्नी को स्पष्ट निर्देश दिया गया है कि वे केवल सत्य भाषण ही करें-

ऋतं वाव दीक्षा सत्यं दीक्षा तस्माद्दीक्षितेन सत्यमेव वदितव्यम्[1]

इसमें आये 'ऋतम्' और 'सत्यम्' की व्याख्या करते हुए भट्टभास्कर[2] ने क्रमशः इन्हें मानसिक और वाचिक यथार्थ बतलाया है। भाष्यकार गोविन्दस्वामी ने इन्हें क्रमशः 'यथार्थवादित्व' और 'यथादृष्टार्थवादित्व' कहा है वाणी की यह पावनता ब्रह्मवादियों की दृष्टि में इतनी महत्त्वपूर्ण है कि उसका सामानाधिकरण्य उन्होंने यज्ञ और कृष्णाजिन से स्थापित करते हुए तीनों को भलीभाँति पार कराने वाली (सुतर्मा) नौका कर दिया है- "यज्ञो वै सतुर्मा नौः, कृष्णाजिनं वै सतुर्मा नौः वाग्वै सुतर्मा नौर्वाचमेव तदारुह्य तथा स्वर्ग लोकमभिसन्तरति।"[3]

ब्राह्मण ग्रन्थों के प्रवक्ता इस सामाजिक यथार्थ से परिचित हैं कि यदि समाज को आचारगत उथल-पुथल से बचाना है तो उनके योगक्षेम की चिन्ता की जानी चाहिए। योगक्षेम के अभाव में सामाजिक आदर्श, सद्भाव प्रभृति सभी मूल्य आहत हो उठते हैं- 'अयोगक्षेमः प्रजा विन्देत्ताः प्रजाः परिप्लवेरन्।'[4]

अतिथि-सत्कार की भावना सामाजिक आचार की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कड़ी है। सोमयागों में की जाने वाली आतिथ्याइष्टि के माध्यम से यही सन्देश

1. ऐतरेय ब्राह्मण-1.6.
2. तैत्तिरीय ब्राह्मण पर भाष्य.
3. ऐतरेय ब्राह्मण - 3.2
4. वही - 3.3

दिया गया है-'आतिथ्यं निरूप्यते सोमे राजन्यागते।'[1] लेकिन अतिथि सत्कार के अवसर पर भी पशु-हिंसा नहीं करनी चाहिए-ऐतरेय ब्राह्मण ने इसीलिए किसी पशु की हिंसा का विधान न करके अग्नि-मन्थन का विधान किया है-'अग्निं मन्थन्ति सोमे राजन्यागते।'[2]

सामाजिक आचार का एक अन्य महत्त्वपूर्ण उपादान है सहकारिता का भाव या मिल-जुल कर चलना। किसी भी अवसर पर पारस्परिक विचार-विमर्श के आधार पर निर्णय लेना। श्रौतयागों में इसके दो अनुकरणीय उदाहरण मिलते हैं। इनमें से पहला है पारस्परिक विचार-विमर्श के माध्यम से, अपने मध्य विद्यमान अराजकता को दूर करने के लिए-क्योंकि असुरों से पराजय उसी कारण हो रही थी, किसी को राजा चुन लेना-प्रतीकात्मक रूप से उन्होंने सोम को अपना राजा चुना-'ते देवा अब्रुवन्नराजतया वै नो जयन्ति, राजानं करवामहा इति। तथेति। ते सोमं राजनमकुर्वन्।'[3] पश्चिमी विद्वानों ने, अभी एक दो शताब्दी पूर्व इसे ही 'समाजिक अनुबन्ध' (सोशलकांट्रैक्ट) का सिद्धान्त कहा है। पारस्परिक सहकारिता की भावना का दूसरा उदाहरण है 'तानूनप्त्र' संज्ञक कर्म। श्रौतयाग का अनुष्ठान वास्तव में एक टीम वर्क तथा सामूहिक कृत्य है। इसे चाहकर भी कोई एक व्यक्ति नहीं कर सकता। इस 'टीमवर्क' के लिए, जिसे सुदीर्घकाल तक चलना है, यजमान और उसकी पत्नी समस्त प्रमुख ऋत्विजों, सदस्यों और चमसाध्वर्युओं सहित अन्यान्य सहयोगियों, जिनकी संख्या काफी अधिक होती है, के मध्य परस्परिक एकजुटता अत्यन्त आवश्यक है। ऋत्विजों के मध्य भी पारस्परिक संवादहीनता की स्थिति अत्यन्त घातक है। परस्परिक टकराव की इस स्थिति से बचने के लिए, और समस्त ऋत्विजों के मध्य आपसी एकता को बनाये रखने के लिए 'तानूनप्त्र संज्ञक कृत्य का विधान श्रौतयागों में मिलता है। प्रायः सभी ब्राह्मणग्रन्थों और श्रौतसूत्रों में इसका विशद निरूपण किया गया है। यह इस प्रकार की शपथ है, जो आज्य अथवा घृत-स्पर्शपूर्वक ली जाती है। इसका प्रयोजन आपसी वैमनस्य का

1. वही-3.4
2. वही-3.4
3. वही-3.3

निराकरण है। इस सन्दर्भ में उल्लिखित आख्यायिका से विदित होता है कि देवों ने अपने आत्मस्वरूप स्त्री-पुत्रादि को एतदर्थ वरुण के घर में एक साथ रख दिया था। इसमें आया 'तनु' शब्द प्रिय स्त्री-पुत्रादि का उपलक्ष्यक है।[1] एक अज्ञातकर्तृक टीकाकार ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है- 'अध्वर्युप्रभृतिषोडशर्त्विजो यजमानश्च मिथो द्रोहशून्या भवन्त द्वेषादिशून्या एवं वयं यथाविधयाग कार्यसम्पादनाय' यतिष्याम इत्याकार: स्वीकार इति। एवं तनू: न याति इत्यस्मिन्नर्थे तानूनप्त्रशब्दो वर्तते। तत् तानूनप्त्रं शरीररक्षणमित्यर्थ:।'[2]

श्रम और तपस् की प्रतिष्ठा

श्रौतयागों में यागानुष्ठान के साथ ही श्रम और तपस् की भी प्रतिष्ठा दिखलाई देती है-देवाश्चवैयज्ञेन श्रमेण तपसाऽऽहुतिभि: स्वर्गं लोकमजयन्'[3]

एक द्वादशा ह के प्रसंग में भी तपस्या का गौरव निरूपित है-

प्रजापतिरकामयत् प्रजायेय, भूयान् स्यामिति; स तपोऽतप्यत

(ऐतरेय ब्राह्मण 19.1)

'सर्वजनहिताय, सर्वजनसुखाय' की भावना

सोमयाग के आनुष्ठानिक प्रसंग में एक प्रातरनुवाक के निर्धारण में, यह ध्यान विशेष रूप से रखा गया है कि उसके पाठ से उन सभी देवों को सन्तोष प्राप्त हो, सभी के मन में प्रसन्नता का संचार हो, जो उसके सन्दर्भ में आशान्वित थे।[4] यह प्रकरण श्रौतयागों में निहित सार्वजनीन कल्याण-भावना का द्योतक है।

---

1. तेऽमन्यन्तसुरेभ्यो वा इदं भ्रातृव्येभ्यो यन्मिथो विप्रिया: स्मो यो न इमा: प्रियास्तनुवस्ता: - तैत्ति.सं. - 6.2.2.1.
2. ऐतरेय ब्राह्मण - 4.7 (पृ. 146) की पाद-टिप्पणी
3. ऐतरेय ब्राह्मण - 7.3.
4. ऐतरेय ब्राह्मण - 7.6

यज्ञ में जुआड़ियों के लिए कोई स्थान नहीं

भृगु और अङ्गिरा प्रभृति ऋषियों के द्वारा अनुष्ठित एक सत्रयाग में से कवष ऐलूष को इसलिए निकाल दिया था क्योंकि वह कितव (जुआड़ी) था।[1]

मित्रता, निष्ठा और स्वामिभक्ति की महत्ता

मरुत्वतीय शास्त्र की प्ररोचना में उपलब्ध एक उपाख्यान से ज्ञात होता है कि वृत्र के साथ चल रहे संघर्ष में इन्द्र को छोड़कर सभी देवता चले गये, लेकिन मरुतों ने उन्हें नहीं छोड़ा। इसीलिए इस शस्त्र का विधान किया गया है[2], ताकि मित्रता, निष्ठा और स्वामिभक्ति-सदृश महनीय मूल्यों को समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त हो। ऋग्वेद की निम्नलिखित ऋचा में भी घटना का सन्दर्भ दिया गया है-

वृत्रस्य त्वा श्वसथादीषमाणा विश्वे देवा अजहुर्ये सखायः।
मरुद्भिरिन्द्र सख्यं ते अस्त्वथेमा विश्वाः पृतना जयासीति।।[3]

बहुपतित्व उचित नहीं

अपने पति के प्रति स्त्री की अक्षीण निष्ठा का प्रत्येक युग में महत्त्व रहा है। बहुविध कारणों से, उत्तरवैदिक काल में एक पुरुष की एकाधिक पत्नियों के होने की जानकारी तो मिलती है, लेकिन बहुपतिप्रथा प्रायः प्रशंसनीय नहीं मानी गई है। ऐतरेय ब्राह्मण में एक स्तोत्र के तृच पर आधृत होने के प्रसंग में प्राप्य आख्यायिका में इसका सपष्ट उल्लेख मिलता है-'तस्मादेकस्य बह्व्यो जायाभवन्ति, नैकस्यै बहवः सह पतयः।''[4] इसी विचार का समर्थन चातुर्मास्ययागों में से एक 'वरुणप्रघासपर्व' के अनुष्ठान के समय क्रियमाण

---

1. वही, 8.1.
2. वही - 12.9.
3. ऋ. सं. - 8.9.6.7
4. ऐतरेय ब्राह्मण - 12.12। 'न द्वितीयो हि साध्वीनां क्वचिद् भर्तोपदिश्यते' के रूप में मनुस्मृति (5.162) में भी इसका अनुमोदन किया गया है।

एक कृत्य से होता है। इसमें, अग्नि-सम्मार्जन से पूर्व प्रतिप्रस्थाता नामक ऋत्विक् यजमान-पत्नी को करम्भपात्र होम के लिए लाते समय पूछता है कि अपने पति के अतिरिक्त अन्य किस व्यक्ति से उसका सम्बन्ध है? (केन चरसि?) उस समय पत्नी संख्या बताती है या तिनके से संकेत करती है।[1] यह माना जाता है कि सही जानकारी न देने पर उसके सगे-सम्बन्धियों को कष्ट होता है। सम्भवतः यह धारणा रही होगी कि पाप-स्वीकरण से उसका परिमाण घट जाता है। लेकिन इस कृत्य का मूल प्रयोजन अपने पति के प्रति अनन्य निष्ठा रखने का स्मरण कराना मात्र प्रतीत होता है।

जीवन की बहुविध स्थितियों का सामना करने की शिक्षा

श्रौतयाग अपने अनुष्ठाताओं को जीवन में प्रत्येक स्थिति अथवा परिस्थिति का सोत्साह सामना करने की शिक्षा और साहस प्रदान करते हैं। मानव-जीवन, भले ही वह किसी विशिष्ट सम्राट् का ही क्यों न हो, मात्र अच्छी-अच्छी सुखद स्थितियों से ही नहीं गुजरता। उसमें केवल पुष्प-शैया और मधुर तथा स्वादिष्ट आहार ही नहीं मिलते-कभी-कभी असन्तोषप्रद स्थितियाँ भी सामने आती हैं। उनका सामना करने की प्रेरणा और अभ्यास भी कुछ श्रौतयागों में निहित है। उदाहरण के लिए 'विश्वजित् संज्ञकयाग'[2] जिसका उल्लेख इस अध्याय के आरम्भ में ही किया गया है, में यजमान को अपने ज्येष्ठ पुत्र की सम्पत्ति तथा उसके भाग को छोड़कर , भूमि तथा भू श्रमिकों के अतिरिक्त अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति दान में देनी पड़ती है। इसके पश्चात् वह गोवत्स के लाल चर्म का परिधान धारण करता है। याग के अनन्तर यजमान उदुम्बर (गूलर) वृक्ष के नीचे तीन दिनों तक निषादों की बस्ती में रहकर, नीवार, श्यामाक (साँवा)से निर्वाह करता है। तीन दिनों तक वह वैश्यों तथा अगले तीन दिनों तक क्षत्रियों के साथ रहता है। वर्ष भर वह भिक्षा भी नहीं माँग सकता। इस अवधि में उसे अयाचित रूप से प्राप्त वस्तुओं से ही जीवन-निर्वाह करना पड़ता है। इस विधान का प्रयोजन यही प्रतीत होता है कि जो व्यक्ति यागानुष्ठान के माध्यम से

---

1. काण्वशतपथ ब्राह्मण - 9.5.1.12-27.
2. लाट्यायन श्रौतसूत्र - 8.1.19-26; जैमिनीय श्रौतसूत्र - 4.3.10-16; ताण्ड्य ब्राह्मण - 16.6.3-4; 5 तथा 16.6.7; 16.6.8-9; 16.6.11; 16.6.7 पर सायण-भाष्य; 16. 6.13-14.

श्रेष्ठ होना चाहता है, उसे इस प्रकार के कठोर जीवन की आँच में भी तपना चाहिए।

एक अन्य श्रौतयाग, इससे भी बढ़कर, अपने अनुष्ठाताओं को, जिनमें स्वाराज्यकामी जैसे अभिजात और विशिष्ट यजमान सम्मिलित हैं, पशु-जीवन के कठोर अनुभवों की आँच में भी सन्तप्त करने के विधान से संवलित है। याग है गोसव, जिसकी समानता वाजपेय, राजसूय और वरुणसव-सदृश बड़े-बड़े श्रौतयागों के साथ स्थापित की गई है। यो वै वाजपेयः स राजसूयो यो राजसूयः स वरुणसवोऽथैष गोसवः स्वाराज्यों वा एष यज्ञः।'[1] आपस्तम्ब श्रौत सूत्र में इसकी जो विधि मिलती है, उससे यह अत्यन्त विलक्षण याग प्रतीत होता है।[2] तदनुसार गोसवयाग के सम्पादन के अनन्तर एक वर्ष तक यजमान को पशुव्रत लेना पड़ता है। अभिप्राय यह कि इस अवधि में उसे पशु की भाँति आचरण करना पड़ता है- पशु के सदृश ही वह जल पीता है, घास चरता है। अन्य क्रियाएँ भी इसी प्रकार से वह करता है। गोसव के विषय में, कीथ का कथन है कि यह याग अपनी माता, बहन तथा अपने गोत्र की किसी भी स्त्री के साथ, अर्थात् जिनके साथ विवाह निषिद्ध है, उन स्त्रियों के साथ समागम को वैध करार देता है।[3] किन्तु, 'गोसव' के प्रसंग में उल्लिखित विधि-वाक्य 'उपमातरमियादुपस्वसारमुपसगोत्राम्' का वास्तविक अभिप्राय है अपनी माता, बहन अथवा अपने कुल-गोत्र की अन्य किसी महिला के पास पशु के सदृश चार पाँवों से प्रतीकात्मक रूप से चलकर जाना। वास्तव में इस याग का विधि-विधान किसी सभ्य मानव को बर्बरता की दिशा में अग्रसर करना नहीं है। इसके विपरीत इसका प्रयोजन है उस विशिष्ट को, जो स्वाराज्य-संस्थापना में सचेष्ट है, पशु-जीवन की कठिनाइयों से परिचित कराना तथा जीवन के सर्वाधिक निम्न स्तर का अभ्यास कराना, ताकि इस प्रकार की कठोर परिस्थितियों में भी, जो महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति के सम्मुख भी उपस्थित हो सकती है, सर्वथा अविचलित रहने की शिक्षा प्रदान करना।

---

1. ताण्ड्यमहाब्राह्मण - 19.13.1.
2. तैत्तिरीय ब्राह्मण 2.7.6. आपस्तम्बश्रौतसूत्र - 22.12.13 - 'तेनेष्ट्वा संवत्सरं पशुव्रतो भवति। उपावहायोदकं पिबेत्.......।'
3. कीथ : रिलीजन एण्ड फिलॉसफी ऑफ बेद एण्ड उपनिषदस, पृ. 594 (पूर्वोक्त सानुवाद संस्करण)

आचारहीन व्यक्तियों को सदाचार के पथ पर आनयन-हेतु विहित श्रौतयाग

ताण्ड्यमहाब्राह्मण के 17 वें अध्याय में कतिपय ऐसे याग विहित हैं, जिनका प्रयोजन आचारभ्रष्ट अथवा संस्कारहीन व्यक्तियों की, जिनकी उपनयनादि की अवस्था समाप्त हो गई है, सत्पथ पर पुनः लाना है। इन्हें इस ब्राह्मण ग्रन्थ में व्रात्य कहा गया है, जिनकी चार श्रेणियाँ निर्धारित की गई हैं-निन्दित, कनीयान्, ज्यायान् तथा हीनाचार।[1] ये सभी वस्तुतः अपने कुलक्रमागत आचार-व्यवहार से भ्रष्ट और पतित व्यक्ति हैं, जो विहित आचरणों से रहित और निषिद्ध कर्मों में लिप्त हैं। न खेती करते हैं और न वाणिज्य-व्यापार। भूख लगने पर, किसी के भी घर में घुसकर बलपूर्वक खाद्य सामग्री लेकर खाने लगते थे। ताण्ड्य ब्राह्मण में ही प्राप्त एक आख्यायिका के अनुसार देवों के स्वर्ग-गमन करने पर उनके अनुचर आचारहीन हो गये और वे भूतल पर इतस्ततः विचरण करने लगे। ऊपर उल्लिखित श्रेणियों में कनीयान् वे हैं, जो अल्पवयस्क रहे होंगे, 'ज्यायान्' से तात्पर्य उन वयोवृद्ध आचारहीनों से है, जिन्हें सुधार के मार्ग पर लाना कष्टसाध्य है। ये सभी लोग अच्छी बातों में दोष निकालते थे, निरपराध व्यक्तियों के साथ मार-पीट करते थे और स्वयं दीक्षारहित होते हुए भी दीक्षितों जैसे बोली बोलते थे।

इनकी व्रात्यता अथवा आचारहीनता के निर्हरण के लिए व्रात्ययज्ञों का विधान किया गया है। इनका पारिभाषिक नाम है- 'वात्यष्टोम (अथवा व्रात्यस्तोम) याग। सायणाचार्य की भाषा में इनका प्रयोजन है- 'व्रात्यत्वापादकं पापं निर्मृज्यद शुद्धास्सन्तो गच्छन्ति त्रैविद्यवृन्ति' (ताण्ड्य ब्राह्मण 17.1.16 पर सायण-भाष्य।) इन यागों की दक्षिणा में विहित वस्तुएँ भी कुछ अलग तरह की हैं, जैसे-'उष्णीश (पगड़ी), प्रतोद (बैलों को हाँकने के लिए, लौह निर्मित अग्रश्लाकावाला दण्ड), ज्याह्लोड (बाणरहित) केवल धनुर्दण्ड; बौधायन

1. हीना वा एते हीयन्ते ये व्रात्यां प्रवसन्ति न हि ब्रह्मचर्यं चरन्ति न कृषिं न वाणिज्याँ ... . गरगिरो वा एते ये ब्रह्माद्यं जन्यमन्नमदन्त्यदुरुक्तवाक्यं दुरुक्तमाहुरदण्ड्यं दण्डेन घ्नन्तश्च रन्त्यदीक्षिता दीक्षितवाचं वदन्ति ...... हीना वा एते हीयन्ते - ताण्ड्यमहाब्राह्मण - 17.1·5.

में इसे चमड़े के तरकश में रखे गये तीन बाण और एक चक्री), फलाकास्तीर्ण विपथ (काष्ठफ लकों से आस्तीर्ण रथ, जो टेढ़े-मेढ़े रास्तों पर भी चला जाता था), कृष्णशवास (काली किनारीवाली धोती), कृष्णवलक्ष अजिन (काला और सपेफद भेड़-चर्म), रजतनिष्क (चाँदी से निर्मित कर्णालङ्कार), बलूकान्त (लाल किनारे की धोतियाँ), दामतूष, दो-दो जूते और शुक्ल-कृष्ण अजिन। ये वस्तुएँ उन्हीं व्रात्यों को दे दी जाती थीं जो किन्हीं कारणोवंश अभी व्रात्य-चर्या से मुक्त होने की स्थिति में नहीं थे- 'व्रात्येभ्यो व्रात्यधनानि ये व्रात्यचर्याया अविरताः स्युर्ब्रह्मबन्धवे वा........(सायणभाष्य)। निश्चित ही इन यागों की आचारनिष्ठता अविसंवादी है।'

प्रायश्चित्त-विधान

श्रौतयागों में विहित विभिन्न प्रकार के प्रायश्चित्त कर्म भी इनकी आचारनिष्ठा के ही द्योतक हैं। समाविधान ब्राह्मण में कृच्छ्र, अतिकृच्छ्र और कृच्छ्रातिकृच्छ्र संज्ञक तीन व्रतों का भी प्रायश्चित प्रयोगों के रूप में ही विधान हैं। इन प्रायश्चित्त कर्मों का आधार अपराध अथवा त्रुटियों की गम्भीरता पर निर्भर दिखता है। उदाहरण के लिए अश्लील शब्दों का उच्चारण करने पर प्रायश्चित-हेतु 'दधिक्राणों अकारिषम्' प्रभृति साम का गान विहित है। कुछ प्रसंगों में, प्रायश्चित्त के रूप में विभिन्न दिनों के उपवास भी विहित हैं। सामविधान ब्राह्मण में ही परधनापरहण और अगम्या-गमन जैसे अपराधों के लिए अच्छे-खासे प्रायश्चित्तों का विधान है (सामविधान ब्राह्मण 1.6)। गुरु पत्नी के साथ अवैध सम्बन्ध करने पर अल्प भोजन, तीनों कृच्छ्रव्रतों का परिपालन तथा निर्दिष्ट सामों का गान विहित है। ब्राह्मणग्रन्थों में स्तेय एवं यौनापराधों के लिए सर्वाधिक प्रायश्चित्त सामविधान ब्राह्मण में ही विहित हैं, जिसका सम्पूर्ण प्रथम प्रपाठक इन्हीं के लिए समर्पित है।

श्रौतयागों के सन्दर्भ में, ब्राह्मणग्रन्थों में प्राप्य बहुसंख्यक आख्यायिकाएँ भी आचार अथवा नैतिकता की पाद-पीठिका पर ही प्रतिष्ठित हैं। उदाहरण के लिए ताण्ड्यब्राह्मण (8.1.4; 12.6.8; 13.6.9; 14.11.28; 17.5.1; 18.1.9; 18.9.6; 20.15.6; 22.14.2) में ऐसी अनेक आख्यायिकाएँ मिलती हैं,

जिनमें विविध प्रकार की मर्यादाएँ भंग करने के कारण इन्द्र को अप्रतिष्ठा और ग्लानि का भाजन बनना पड़ा। यतियों और वृत्र का वध करने के कारण इन्द्र की अप्रतिष्ठा हुई तथा नमुचि के साथ हुई सन्धि को भंग करने के कारण इन्द्र को अलोकप्रियता का भाजन बनना पड़ा।

सोमापहरण और अगम्या-गमन के जो प्रसंग मिलते हैं, वे या तो घटी प्राकृतिक घटनाओं के लाक्षणिक वर्णन हैं अथवा वे पूर्वपक्ष के वाचक हैं। उनमें निहित संकेत निषेधार्थक ही हैं - विध्यात्मक नहीं।

दूसरे की रचना को अपनी बतलाना भी नैतिक दृष्टि से अपराध ही है, जिसका दण्ड आङ्गिरस कल्याण को श्वित्र रोग के रूप में भुगतना पड़ा, क्योंकि उन्होंने ऊर्णायु गन्धर्व के द्वारा दृष्ट साम को अपना बतलाया था (तां. ब्रा. 12.11.10)।

ब्राह्मण ग्रन्थों में ही अतिपरिग्रह को भी दोष बतलाया गया है (तां. ब्रा. 18.4.9; 13.7.12)। श्रौतयागों में अनेक प्रसंग इसके भी द्योतक हैं, जब सत्रियों के मध्य पारस्परिक स्पर्धा के कारण उन्हें हानि उठानी पड़ी (तां. ब्रा. 7. 5.6)।

जैमिनीय ब्राह्मण (3.190) तथा ताण्ड्य ब्राह्मण (14.4.6-7) दोनों में ही एक ऐसी आख्यायिका भी मिलती है एकधन संज्ञक जल-राशि के सन्दर्भ में, जिससे ज्ञात होता है कि हत्या-सदृश जघन्य अपराध करने वाले दस्यु का हृदय भी कभी परिवर्तित हो सकता है तथा वह सदाचार के पथ पर चल सकता है। उसके अन्तः करण में सद्भावना के प्रसुप्त संस्कार पुनः उदबुद्ध हो सकते हैं। इस आख्यायिका के अनुसार इन्द्र के अत्यन्त प्रिय ऋषि-समूह वैखानसों की मुनिमरण नामक स्थान पर रहस्यु संज्ञक देवमलिम्लुच (दस्यु) ने हत्या कर दी। ऋषियों की खोज में निकले इन्द्र की रहस्यु से अकस्मात् भेंट हो गई। उन्होंने पूछा -'रहस्यु! तुमने क्या कहीं वैखानसगण को देखा है?'

-'भगवन्! मैंने ही उनकी हत्या की है' - रहस्यु ने उत्तर दिया। इन्द्र को रहस्यु की सत्यवादिता पर अविश्वास और आश्चर्य दोनों की अनुभूति हुई। उन्होंने उससे पुनः प्रश्न किया - 'रहस्यु! हत्या करके उसे स्वीकार कर लेना अति कठिन कार्य है। तुमने इस दुष्कर कार्य को इतनी सरलता से कैसे कर

लिया?' रहस्यु ने निवेदन किया – 'भगवन्! मैं ब्रह्म-हत्या और मिथ्या-व्यवहार दोनों ही पापों को ढो रहा हूँ। तथापि आपके सम्मुख इस पाप-स्वीकृति से मैं मिथ्याचारजन्य पाप से मुक्त हो गया हूँ।'

रहस्यु के इस हृदय-परिवर्तन और सत्यभाषण से सन्तुष्ट होकर इन्द्र से उससे वर माँगने के लिए कहा। रहस्यु ने अपने वंश में एक सच्चे और शुभाचरण-सम्पन्न वंशधर के उत्पन्न होने का वर माँगा। इन्द्र के इस वरदान-स्वरूप रहस्यु के वंश में तक्षु का जन्म हुआ। दुर्दान्त दस्यु के हृदय-परिवर्तन की यह आख्यायिका आचार की दृष्टि से निश्चित ही अत्यन्त प्रेरक है।

जैमिनीय ब्राह्मण (3.233-2.34) में ही स्त्री पर अधिकार करने की प्रतिद्वन्द्विता की एक आख्यायिका मेधातिथि साम के सन्दर्भ में प्राप्त होती है, जिसकी फलश्रुति अन्त में यह है कि गृहपति के कपट और मिथ्या आचरण के कारण यज्ञानुष्ठान से किसी को कोई लाभ नहीं होता।

निष्कर्ष

उपर्युक्त विवेचन से यह नितरां स्पष्ट हो जाता है कि ब्राह्मणग्रन्थों में निरूपित श्रौतयाग आचारात्मक दृष्टिकोण से भी निश्चित ही संवलित हैं।[1] इन परिमित पृष्ठों में तद्विषयक उपलब्ध सम्पूर्ण विवरण समाविष्ट नहीं किया जा सकता – मात्र उसकी एक रूपरेखा भर ही दी जा सकती है, लेकिन स्थालीपुलाकन्याय से यह रूपरेखा श्रौतयागों के आचार-दर्शन के साथ घनिष्ठ अन्तः सम्बन्ध को सिद्ध करने में पर्याप्त समर्थ है।...

---

1. The life is a duty and responsibility is the central teaching of the Brāhmaṇas. Man has a debt to pay the Gods. to the Rishis. to the manes. to men. and to the lower creatures..... Thus there is no lack of high moral sense and noble sentiments .... Prayer and good works constiture goddliness, which is the first requisite of a good life. Truthfulness in utterance and action is the foundation of moral life.
   -Apte. V.M., Relition and Philosophy (The Vedic Age, Page 449)

दशम अध्याय

वैदिक गृह्ययागों में सन्दर्भित आचार-चेतना

गृह्याग्निसाध्य इन यागों का विशद निरूपण गृह्यसूत्रों में मिलता है। इनमें गृहस्थ-जीवन से सम्बद्ध कर्मानुष्ठानों तथा उनमें निहित आचार-दर्शन के महत्त्वपूर्ण बिन्दुओं का वर्णन हुआ है। सम्प्रति यद्यपि गृह्ययाग स्मृति-परम्परा पर निर्भर होने के कारण स्मार्त रूप में अधिक प्रतिष्ठित हैं, लेकिन इनका भी मूलाधार श्रौत परम्परा ही मानी जाती है। पारस्कर गृह्यसूत्र के सर्वप्रथम भाष्यकार कर्काचार्य ने इनकी वेदमूलकता का निरूपण अत्यन्त स्पष्ट रूप में किया है - 'प्रत्यक्षा हि श्रुतयः श्रौतेषु, स्मार्तेषु च पुनः कर्तृसामान्यादनुमेयाः श्रुतयः। स्मार्तानामपि हि वेदमूलत्वमुक्तम्।'[1] कहा जाता है कि ब्राह्मण ग्रन्थों में गृह्यकर्मों से सम्बद्ध अंश लुप्त हो गये यद्यपि अनेक ब्राह्मणग्रन्थों में आज भी गृह्यग्निसाध्य कर्मों से सम्बन्धित कुछ सामग्री मिलती है। आचार्य आपस्तम्ब भी इसी मत हैं कि अष्टकाकर्मप्रभृति गृह्यानुष्ठानों का पाठ पहले था जो बाद में नष्ट हो गया, उनका प्रयोग से अनुमान कर लिया जाता है। कात्यायन श्रौतसूत्र के प्रारम्भ में भी यह विवाद उठाया गया है और अन्त में यही निष्कर्ष उल्लिखित है कि श्रौत कर्मों के साथ ही स्मार्त कर्म भी वैदिक ही हैं। फिर गृह्यसूत्रों में स्थान-स्थान पर सूत्रकारों ने विवादात्मक स्थलों को स्पष्ट करते समय 'इति श्रुतेः' का ही प्रामाण्य दिया है। सामवेदीय परम्परा में तो 'मन्त्रब्राह्मणम्' जिसमें गोभिलगृह्यसूत्र में विनियुक्त मंत्र ही संगृहीत हैं को ब्राह्मण ग्रन्थों में ही परिगणित किया जाता है। वेदकालीन लोकजीवन में घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध होने के कारण भी, गृह्यसूत्रों अथवा उनमें वर्णित गृह्ययागों में उपलब्ध आचार-दर्शन सम्बन्धी संकेतों का अनुशीलन यहाँ आवश्यक प्रतीत होता है।

---

1. पारस्करगृह्यसूत्र-1.1 पर कर्क-भाष्य.

गृह्ययागों में सर्वप्रमुख स्थान है गृह्यसंस्कारों का। 'संस्कार' शब्द के व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ ही इनका आचार-दर्शन से घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित कर देते हैं। 'सम' उपसर्गपूर्वक 'कृ' धातु से 'घञ्' प्रत्यय के योग से सम्पन्न अथवा निष्पन्न 'संस्कार' शब्द के विभिन्न अर्थ ये हैं - शिक्षा, संस्कृति, प्रशिक्षण, सौजन्य, पूर्णता, संस्करण, परिष्करण, शोभा, आभूषण, प्रभाव, स्वरूप, स्वभाव, क्रिया, छाप, शुद्धिक्रिया, धार्मिक अनुष्ठान, विचार, भावना, धारणा, कार्य का परिणाम तथा क्रिया की विशेषता इत्यादि हैं, जो आचार-दर्शन के घटक महत्त्वपूर्ण उपादान हैं। वीरमित्रोदय के संस्कारप्रकाश संज्ञक प्रकरण में 'संस्कार' की जो परिभाषा दी गई है, वह आचार-दर्शन के साथ उसके घनिष्ठ सम्बन्ध को प्रख्यापित करती है - 'आत्मशरीरान्यतरनिष्ठो विहिताक्रियाजन्योऽतिशयविशेषः संस्कारः।'

'संस्कार' के विषय में जिन विद्वानों ने गम्भीर विवेचन किया है, उनमें स्व. डॉ. राजबली पाण्डेय अन्यतम रहे हैं। अपनी एतद्विषयक चर्चित कृति[1] में यह स्पष्ट कहा है कि संस्कारों का प्रमुख उद्देश्य व्यक्तित्व के विकास के द्वारा मनुष्य का कल्याण और समाज तथा विश्व से उसका सामंजस्य स्थापित करना रहा है। जीवन एक कला है, जिसकी अभिव्यक्ति संस्कारों के माध्यम से होती है। संस्कार हमारे जीवन के विभिन्न अवसरों को पवित्रता प्रदान करते हैं। ये इस बात पर जोर देते हैं कि जीवन के विकास का प्रत्येक चरण केवल शारीरिक क्रिया नहीं है, प्रत्युत इसका सम्बन्ध मनुष्य की बुद्धि, भावना और आत्मिक अभिव्यक्ति से है जिनके प्रति हमें निरन्तर जागरूक रहना चाहिए। अतिपरिचय के कारण जीवन की घटनाओं के प्रति हमारे मन में उदासीनता, असावधानी और अवज्ञा आ जाती है। संस्कार व्यक्ति और समाज के मन से तन्द्रा और अवज्ञा का निराकरण करते हैं। संस्कारों के अभाव में जीवन की घटनाएँ शरीर की दैनिक आवश्यकताओं और आर्थिक व्यापार के समान आकर्षक, चमत्कारहीन और भावुक संगीत से रहित हो जाती हैं। संस्कारों के साथ मूल्यगर्भित विश्वास और विचार लगे रहते हैं, जिनके आधार पर अथवा जिनके लिए मनुष्य जीना चाहता है। इन्हीं विश्वासों और विचारों में समाज की

---

1. हिन्दू संस्कार, प्रस्तावना

नींव है और यहीं से उसको पोषण मिलता है। सामाजिक विनय, शक्ति और स्वतन्त्रा सभी का स्रोत इन्हीं में है। अभिप्राय यह कि संस्कार आचार-दर्शन के सर्वाधिक साधक अंग हैं, जो व्यक्ति और समाज के जीवन से अवांछित अपप्रभावों का निराकरण करते हैं, उनके स्थान पर वांछित और शुभप्रभावों का समावेश करते हैं, स्मृतिकार शंख और लिखित के अनुसार संस्कारों से संस्कृत तथा आठ आत्मगुणों से युक्त व्यक्ति ब्रह्मलोक में पहुंचकर ब्राह्मपद को प्राप्त कर लेता है-

संस्कारैः संस्कृतः पूर्वैरुत्तरैरनुसंस्कृतः।

नित्यमष्टगुणैर्युक्तो ब्राह्मणो ब्राह्मलौकिकः।

ब्राह्मं पदमवाप्नोति यस्मान्न च्यवते पुनः।।

संस्कारों का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य व्यक्ति का नैतिक विकास है। ऋषि अङ्गिरा का एक अत्यन्त प्रचलित आभाणक इन संदर्भ में उल्लेख्य है जिसमें उन्होंने व्यक्तित्व के निर्माण और विकास के लिए चित्र-रचना के साथ संस्कारों की तुलना करते हुए कहा है कि जैसे चित्रकर्म में सफलता पाने के लिए विविध रंगों की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार ब्राह्मण्य या चरित्र-निर्माण भी विभिन्न संस्कारों के द्वारा होता है-

चित्रकर्म यथाऽनेकैरङ्गैरुन्मील्यते शनैः।

ब्राह्मण्यमपि तद्वत् स्यात् संस्कारैर्विधिपूर्वकम्।।

संस्कार हमें यह अनुभव कराते हैं कि हमारी दैहिक क्रियाएँ भी आध्यात्मिक उद्देश्य से अनुप्राणित हैं। आचार-दर्शन के सामाजिक पक्ष की तरह संस्कार भी व्यक्ति के अन्तःकरण में सामाजिक दायित्व के उद्बोधक होते हैं।

संस्कारों के माध्यम से व्यक्ति के मानस पर सदाचार का प्रभाव अंकित करने की प्रक्रिया जन्म से पूर्व ही प्रारम्भ हो जाती है। उसके बाद जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमणसंज्ञक संस्कारों के मूल में भी आचार-चेतना ही निहित है। 'निष्क्रमण' के विषय में उल्लिखित मतों से ज्ञात होता है कि इस संस्कार का उद्देश्य शिशु के उदीयमान मन पर यह अंकित करना है कि यह विश्व

ईश्वर की अपरिमित सृष्टि है और उसका हमें आदर करना चाहिए। आगे के उपनयन से पहले के संस्कारों में चूड़ाकरण प्रमुख है, जिसके मूल में स्वास्थ्य, सौन्दर्य, कल्याण और शुचिता की कामना के साथ हर्ष, लाघव, सौभाग्य और उत्साह की वृद्धि तथा पाप के समूल शमन की आकांक्षा भी सम्मिलित है। सुश्रुतसंहिता (24.72, चिकित्सास्थान) से भी इसकी पुष्टि होती है-

पापोपशमनं केशनखरोमापमार्जनम्।
हर्ष लाघव सौभाग्यकरमुत्साहवर्धनम्।।

इसके पश्चात् उपनयन से समावर्तन तक के संस्कार आचार-अङ्कन की सुदीर्घ शृङ्खलात्मक प्रक्रिया के प्रतीक हैं। इन सभी संस्कारों का मूल उद्देश्य समाज के नवजात सदस्यों को शिक्षा, अनुशासन, आत्म-नियन्त्रण तथा त्यागमय सदाचार के पथ पर आनयन रहा है, जिससे वे अपने और समाज के लिए उपादेय सिद्ध हो सकें। आठ वर्ष की अल्पावस्था से ही बालक के लिए कठोर व्रताचार के परिपालन करने का विधान इस संस्कार विधि में है। यज्ञोपवीत के तीन धागे उसे सदा स्मरण कराते रहते हैं कि उस पर तीन ऋणों के चुकाने का दायित्व है। ब्रह्मचारी के रूप में अब उसे अजिन धारण करना है, गुरु के लिए समिदाहरण तथा अपने आश्रम के लिए भिक्षाहरण करना है। वह दिन में शयन नहीं कर सकता है, वाणी पर उसे नियन्त्रण रखना है, पारस्कर गृह्यसूत्र (2.3.2) में इन आचारों का उल्लेख इस प्रकार है -

ब्रह्मचार्यासि। अपोशान। कर्म कुरु। मा दिवा सुषुप्थाः।
वाचं यच्छ। समिधमाधेहि। इत्यादि।

गोपथ ब्राह्मण में ब्रह्मचारी के कर्तव्यों का विशद और विस्तृत विवरण मिलता है।

इसके पश्चात् समावर्तन अर्थात् दीक्षान्त संस्कार के समय स्नातक के सम्मुख विधि-निषेधों की एक लम्बी तालिका रखी जाती है। तैत्तिरीयोपनिषद् की 'शीक्षावल्ली' में इनका 'सत्यंवद, धर्मं चर, स्वाध्यायान्मा प्रमदः' - इत्यादि रूप में उपदेश किया गया है। 'पारस्करगृह्यसूत्र' (2.7) में भी इनका विशद कथन है जो 'स्नातस्य यमान् वक्ष्यामः' से प्रारम्भ होता है और 'दृढ़व्रतो वधत्रः स्यात् सर्वत आत्मानं गोपायेत मित्रमित्' सूत्र से समाप्त होता है। संक्षेप

में आचारजन्य ये नियम इस प्रकार हैं - स्नातक को स्वयं न नृत्य-गान करना है और दूसरों के द्वारा इन्हें करते समय उसे सम्मिलित भी नहीं होना है। सामान्य अवस्था में ग्रामान्तर गमन नहीं करना है। पेड़ पर नहीं चढ़ना है। कच्चे फल नहीं तोड़ना है। दो आपस में वार्तालाप कर रहे हों, तो उनके मध्य में नहीं जाना है। नग्न स्नान वह नहीं कर सकता। अश्लील वाक्य नहीं बोल सकता। अब वह भीख भी नहीं मांग सकता। किसी स्त्री और पुरुष का जिनके शरीर में कुछ विशेष चिह्न हो, उपहास करना उसके लिए वर्जित है। विकृत अर्थात् फटे-लटे वस्त्र नहीं पहनना है। अपने व्रत का निष्ठापूर्वक पालने करते हुए तथा सबसे मित्रवत् व्यवहार करते हुए अपनी रक्षा करनी है। अब उसे मात्र सत्य ही बोलना है - 'सत्यवदनमेव' (पा.गृ.सू.3.8.8)।

संस्कारों के अतिरिक्त गृह्यानुष्ठानों में परिगणित पंचमहायज्ञों के माध्यम से भी, जिनका निरूपण शतपथ ब्राह्मण में भी है, आचार-दर्शन का दिग्दर्शन कराने का प्रयत्न वेदकालीन भारतीय ऋषियों ने किया है। म.म्र. काणे के शब्दों में इनकी उपयोगिता इस प्रकार है-'ब्राह्मणों एवं श्रौतयागों का संपादन सबके लिए संभव नहीं था, किन्तु स्वर्ग के मुख अग्नि में एक समिधा डालकर सभी देवों के प्रति अपनी सम्मान - भावना प्रकट कर सकते थे। इसी प्रकार दो एक श्लोकों का जप करके कोई भी प्राचीन ऋषियों, साहित्य एवं संस्कृति के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट कर सकता था, और इसी प्रकार एक अंजलि जल के तर्पण से कोई भी पितरों के प्रति भक्ति एवं प्रिय स्मृति प्रकट कर सकता था तथा पितरों को सन्तुष्ट कर सकता था। समग्र विश्व के प्राणी एक ही सृष्टि-बीज के द्योतक हैं, अतः सबमें आदान-प्रदान तथा 'जियो और जीने दो' का प्रमुख सिद्धान्त कार्यरूप में उपस्थित रहना चाहिए। उपर्युक्त भक्ति, कृतज्ञता, सम्मान, प्रियस्मृति, उदारता और सहिष्णुता की भावनाओं ने प्राचीन आर्यों को पंच महायज्ञों की महत्ता प्रकट करने को प्रेरित किया है।'[1]

आचार-दर्शन का प्रयोजन है अपनी त्रुटियों का निराकरण करते और अनुभवों से लाभ उठाते हुए सम्पूर्णता की ओर निरन्तर अग्रसर होना। युगों के निरीक्षणजन्य अनुभव से वेदकालीन भारतीय ऋषियों को यह परिज्ञान हो गया

---

1. हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र (हिन्दी अनुवाद) - भाग-1, पृष्ठ - 384।

था कि जीवन भी संसार की अन्य कलाओं के समान ही एक कला है। लेकिन इसके लिए संस्कार तथा परिष्कार निरन्तर अपेक्षित हैं। स्त्री-पुरुष के संयोग से उत्पन्न व्यक्ति केवल पंच महाभूतों का एक पिण्ड, असभ्य, पाशविक तथा वन्य त्र-जन्तुओं से नाममात्र के लिए भिन्न है। उसके विकास के लिए एक निश्चित आचार-प्रक्रिया की उतनी ही आवश्यकता है, जितनी कि उद्यान में बढ़ने के लिए एक पौधे को जल, मिट्टी, खाद और वायु की। इस वन्यपशु को सुसंस्कृत मनुष्य के रूप में परिणत करने के लिए एक सुनिश्चित आचार-दर्शन तथा तदनुकूल प्रक्रिया की आवश्यकता निरन्तर बनी रहेगी – इसका अनुभव वैदिक सूत्रकारों ने बहुत प्रारम्भ में ही कर लिया था। विविध व्रत और संस्कारों के अनुष्ठान केवल विद्यार्थी के जीवन को ही नहीं अनुशासित करते, अपितु उसके माध्यम से वे सम्पूर्ण मानव-समाज को मर्यादा और अनुशासन का आचार सिखाते हैं। इन सांस्कृतिक अनुष्ठानों के माध्यम से यह अनौपचारिक शिक्षा हमें मिलती है कि जीवन का प्रत्येक निःश्वास आत्मसंयम से परिपूर्ण होना चाहिये। सत्य और आस्था, उत्सर्ग और उदारता, त्याग और संयम – ये वे मूल्य हैं जो गृह्यानुष्ठानों में व्यक्त आचार-दर्शन के महत्त्वपूर्ण घटक हैं।

निष्कर्ष यह है कि मनुष्य का आभ्यन्तर जीवन दो प्रवृत्तियों – सत् और असत्, सौजन्य और पैशुन्य के सतत संघर्ष से सदैव ओतप्रोत रहता है। अन्त में सत्य और सौजन्य की ही विजय होती है। विश्व अपूर्ण हो सकता है, किन्तु वह अवास्तविक अथवा अध्यासमात्र नहीं है – इसलिए हमें सदैव सदाचार के पथ पर ही चलने के लिए सन्नद्ध रहना चाहिए। इस प्रकार वैदिक गृह्यानुष्ठान मनुष्य को आनन्दमय, आशावादी यथार्थपरक और सदाचारसंवलित आचार-दर्शन को अपनाने की प्रेरणा प्रदान करते हैं।

एकादश अध्याय

ब्राह्मणोक्त आचार-दर्शन की साम्प्रतिक उपादेयता

आज वैज्ञानिक और तकनीक प्रधानयुग में मशीनीकृत वस्तुओं का ही सर्वत्र बोलबाला है। इतना ही नहीं वरन् वर्तमान परिस्थितियों में मानव भी यंत्रवत् हो गया है। पाश्चात्य संस्कृति के बढ़ते प्रभाव ने 'सर्वसुख-उपभोगवाद' की प्रवृत्ति को जन्म दिया है। इस प्रवृत्ति के माध्यम से युगों-युगों से वन्दनीय भारतीय संस्कृति के अन्दर भी उपभोक्तावादी संस्कृति के तत्त्व समाविष्ट हो गये हैं, और यही है कारण कि समाज में मनुष्यों के द्वारा नैतिक मूल्यों के स्थान पर धन को ही सर्वोच्च मानवीय मूल्य माना जाने लगा है। विज्ञान के इस युग में आर्थिक कल्याण और भौतिक सुखों की प्राप्ति को ही परम-मूल्य के रूप में स्वीकार किया जा रहा है। सदियों से हमारी संस्कृति में व्याप्त पुरुषार्थ चतुष्ट्य का दृष्टिकोण आज विलुप्तप्राय है जबकि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष स्वरूप चारों पुरुषार्थ जीवन को सर्वाङ्गीण विकास की दिशा में उन्मुखीकरण करने वाले चार जीवन मूल्यों की ओर संकेत करते हैं। इस दृष्टि से यहां अर्थ को आर्थिक मूल्य, काम को मनोवैज्ञानिक मूल्य, धर्म को सामाजिक और नैतिक मूल्य तथा मोक्ष को आध्यात्मिक मूल्य माना गया है। यह भी सच है कि मनुष्य के आचरण एवं व्यवहार को नियंत्रित करने में उसकी अर्थव्यवस्था, मन, समाज और नियमों का पालन एवं आध्यात्मिक चिन्तन अहं भूमिका का निर्वहन करते हैं।

सम्प्रति उद्योग बहुल पाश्चात्य संस्कृति के प्रभावस्वरूप हमारे अंदर भी आर्थिकशक्तिसम्पन्न, सैनिकशक्तिसम्पन्न और सत्तासम्पन्न को ही प्रतिष्ठा और सम्मान देने की प्रवृत्ति घर कर गई है। इस दुष्प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप न

केवल अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर ही कुप्रभाव दृष्टिगोचर होते हैं अपितु हमारे नैतिक मूल्यों में सामाजिक एवं पारिवारिक स्तर पर भी क्षरण हुआ है। मूल्य परिवर्तन के द्वारा परिवर्तित समाज के सन्दर्भ में विनोबाजी की यह उक्ति अक्षरश: सत्य प्रतीत होती है कि आज 'भ्रष्टाचार शिष्टाचार और सदाचार विशिष्टाचार बन गया है।' निर्धन सदाचारी आज हमारे यहाँ उपहास के पात्र बन गये हैं। समाज में अर्थप्रधान मानसिकता के कारण धन को सर्वोपरि मूल्य माना जाने लगा है। यह भी दु:ख का विषय ही है कि धन के आगे विद्या तिरस्कृत हो रही है। इसीलिए वर्तमान परिस्थितियों में नीतिशतक के रचयिता भतृहरि के श्लोक की यह पंक्ति उपयुक्त प्रतीत हो रही है –

सद्विद्या यदि किं धनैरयशो यद्यस्ति किं मृत्युना।

(नीतिशतक – श्लोक संख्या 53)

सम्प्रति मनुष्य के नैतिक मूल्यों में अत्यधिक ह्रास हो जाने के कारण धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक और शैक्षणिक स्तर पर भी मूल्यों में विघटन हो रहा है जो वस्तुत: न तो विश्व की दृष्टि से हितकर है और न ही हमारे राष्ट्रीय हितों की पूर्ति में सहायक सिद्ध हो रहे हैं। राजनीति में नीति के लिए कोई स्थान शेष नहीं दिखायी दे रहा है, साथ ही राजनीतिज्ञों के अंदर भी विध्वंसात्मक जीवन मूल्य स्थापित हो चुके हैं। नैतिक नियमों की शिथिलता के फलस्वरूप शैक्षिक वातावरण पर भी गुरु और शिष्य के आचरण सम्बन्धी दोषों के कारण कुठाराघात हुआ है। शिक्षा के प्रचलित स्वरूप के द्वारा अच्छे विद्यार्थी भी विद्या, विवेक और नियमों की उपयोगिता को अस्वीकार करते हैं। हमारे युग चिन्तकों ने नैतिक शिक्षा को अत्यधिक महत्त्व प्रदान किया है, वर्तमान में शिक्षा का उद्देश्य मात्र साक्षरता बन गया है जो किसी भी दृष्टि से उचित प्रतीत नहीं होता। लेकिन आज हमारे शिक्षण संस्थानों के लिए ज्ञान-प्राप्ति, चरित्र-निर्माण, अन्तर्दृष्टि का विकासादि जैसे आवश्यक नैतिक-प्रत्ययों का कोई मूल्य नहीं है और मनुष्य के आचरणसम्बन्धी पतन के कारण ही धर्म, भाषा, जाति, राष्ट्र, प्रदेश, शहर, क्षेत्र, परिवार स्व और अहं तक ही उसका व्यक्तित्व सीमित हो गया है। मतान्ध व्यक्तियों के कारण इस तथ्य का विस्मरण कर दिया गया है कि 'मत मनुष्य के लिए है, मनुष्य मत के लिए नहीं।' इसके कारण विभिन्न

धार्मिक साम्प्रदायिक दंगे, भाषा के नाम पर किये जा रहे उपद्रव, प्रादेशिक सीमा के लिए होने वाले आन्दोलन, जातिगत एवं पारिवारिक संघर्ष के कारण हमें नित्य अनिष्टकारी घटनाओं का सामना करना पड़ रहा है। यहाँ यह कहना उपयुक्त होगा कि मानवीय संवेदनाओं और कल्याणकारी भावनाओं की असमय मृत्यु के परिणामस्वरूप हमारे समाज में ईर्ष्या-द्वेष, घृणा, क्रोधादि अहितकर संवेगों के द्वारा सत्य, दया, स्नेह, मैत्री, अहिंसा, करुणा, सहिष्णुता, सहानुभूति जैसे उदात्त भावों का स्थान ग्रहण कर लिया गया है। हमारी शिक्षण संस्थाएँ मात्र नौकरी के लिए डिग्री देने का कार्य कर रही हैं उचित शिक्षा के अभाव में मानवीय नैतिक मूल्यों में दिन-प्रतिदिन आने वाली गिरावट के कारण समाज में सर्वत्र झूठ, कपट, चोरी, बेईमानी, दगाबाजी, और धोखेबाजी का बोलबाला है। दुष्प्रवृत्तियों के निवारण-हेतु हम वैदिक साहित्य में बतलाये गये मार्ग का अनुसरण करके पुनः सच्चाई और आदर्श के द्वारा एक नये समाज की सर्जना कर सकते हैं जहाँ आचार की दृष्टि से श्रेष्ठ मूल्यों की पुनः प्रतिष्ठा की जा सके।

वैदिक वाङ्मय को यदि जीवन का सर्वस्व कहा जाये तो कोई अत्युक्ति न होगी क्योंकि इसमें जीवन के सभी आयामों से सम्बन्धित सामग्री पुष्कल परिमाण में मिलती है। चाहे वैदिक संहितायें हों अथवा ब्राह्मण ग्रन्थ या आरण्यक अथवा उपनिषत्-साहित्य, यत्र-तत्र-सर्वत्र मानव-जीवन को आचार-विचार और संयम के द्वारा सुसंस्कृत बनाने का प्रयास किया गया है। वैदिक संहिताओं के सदृश ब्राह्मण ग्रन्थों में भी मनुष्य के लिए आशा, ज्ञान, शुचितादि सुविचारों और श्रेष्ठ गुणों का प्रतिपादन किया गया है जिनका अनुसरण करता हुआ व्यक्ति अपनी आसुरी प्रवृत्तियों पर विजय प्राप्त करके निरंतर उत्थान की ओर अग्रसर दिखायी दे सकता है। श्री अरविन्द ने भी तत्कालीन समाज का चित्रण इस प्रकार किया है -

"भारत का इतिहास बताता है कि उत्तरवैदिक युग में विभिन्न दर्शनों का उदय हुआ, बहुमुखी काव्य साहित्य का निर्माण तथा कला एवं विज्ञान, राजनीति आदि सभी की पृष्ठभूमि में एक अटूट धार्मिक भावना और साथ ही आध्यात्मिक सत्यों की असंदिग्ध स्वीकृति सदैव दृष्टिगोचर होती रही।"

ब्राह्मण ग्रन्थों में प्राप्य 'श्रेष्ठ' की अवधारणा में विविध गुणों का समावेश

किया गया है जैसे मानव के हृदय में हितकारिता, परोपकारिता, करुणा, प्रीति, परार्थभावना, सहने की सामर्थ्य, धीरता, उदारता, दयालुता, शूरता, न्यायप्रियता, आतिथ्य एवं स्वामिभक्ति की भावना, इन्द्रियों पर विजय प्राप्ति की कामना, सत्यता (ऋत एवं सत्य का अनुगमन करना), श्रद्धा, आज्ञापालन आदि गुणों के द्वारा तत्कालीन जीवनमूल्यों के विषय में ज्ञान प्राप्ति में सहायता मिलती है। इन गुणों के अतिरिक्त भी ब्राह्मणग्रन्थों में विनयशीलता, स्वातंत्र्य, स्वाभिमान, मन एवं प्रज्ञा के उत्कृष्ट संयोग, विद्या से अनुराग, श्रेष्ठ विचारों के प्रति सम्मान, कर्म के प्रति आकर्षण, पुण्यशीलता, दैवीय आचरण के अनुगमन, अध्यात्म के प्रति आकर्षण आदि भाव निहित हैं।

इसी ब्राह्मण-साहित्य के अंतर्गत पारिवारिक दृष्टि से पिता-माता-पुत्र-पुत्रवधू आदि से सम्बन्धी कर्तव्यों एवं अधिकारों का विवेचन भी प्रसंगवश दिया गया है। परिवार के सदस्यों के मध्य सुख-सौमनस्य के दर्शन होते हैं। वर्तमान परिस्थितियों में ब्राह्मण ग्रन्थों में वर्णित परिवार संबंधीसुख एवं सांमजस्य का आश्रय ग्रहण करके हम अपने गृहों में सभी सदस्यों के मध्य परस्पर प्रेम और सहानुभूतिपूर्ण वातावरण की सर्जना कर सकते हैं जहाँ रहकर प्रत्येक व्यक्ति प्रतिपल अपने जीवन का निर्माण करता रहता है। वर्तमान में संयुक्त परिवार प्रथा का विघटन हो चुका है, लोग अपने कर्तव्य पथ से विमुख होकर अधिकार के लिए द्वन्द्व कर रहे हैं, भाई-भाई से झगड़े अक्सर छोटे-छोटे बिन्दुओं पर होते दिखाई दे रहे हैं। ऐसी परिस्थिति में हमें ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रतिपादित आचरण का अनुपालन करना चाहिये। मनुष्य के वैयक्तिक गुणों का प्रभाव पहले स्वयं पर फिर परिवार के ऊपर और तब समाज में परिलक्षित होता है अत: सामाजिक दृष्टि से उपयोगी संबंधों के प्रसंग में मित्र, शासक-शासित, स्वामी-सेवक, याज्ञिक-यजमान, पुरोहित, योद्धा, राजा और ऋषि के कर्तव्यों और अधिकारों का विशद विवेचन किया गया है जिन्हें आचार-दर्शन के सन्दर्भ में प्राणस्वरूप स्वीकार किया जा सकता है।

मनुष्य को यथार्थत: व्यवहारिक उन्नति की प्राप्ति त्याग द्वारा होती है और त्याग की भावना मनुष्य मात्र में होनी ही चाहिये। तभी तो ब्राह्मण ग्रन्थों में पराया धन, परायी स्त्री, दूसरे के यश-कीर्ति को खुद हड़पने के विचार और इस हेतु प्रयत्न, स्वयं कुछ पाने के लिए दूसरे के भाग की लालसा करना

इत्यादि निन्दनीय माने गये हैं क्योंकि ये सारी चीजें मनुष्य को आचार से हीन बनाती हैं। वेदों के ज्ञान के आधार पर यह कहा जाता है कि हमारा नैतिक स्तर इतना ऊँचा होना चाहिये जिसमें अनैतिकता का लेशमात्र भी न हो। संभवत: इसी दृष्टि से अधिकांश ब्राह्मणग्रन्थों में अगम्यागमन को अपराध घोषित किया गया। इसी प्रकार यहाँ ऐसे भी संकेत मिलते हैं कि हमारा न्याय भी वही चाहिये जिसमें दूसरों के अधिकारों और उनके हितों की रक्षा सावधानीपूर्वक करनी चाहिये।

ब्राह्मण ग्रन्थों में बताये गये मार्ग पर चलकर मनुष्य श्रेष्ठ आचरण को प्राप्त कर सकता है जैसे बड़ी विपत्ति के आने पर भी धैर्य का परित्याग नहीं करना चाहिये, दूसरों से बदला लेने के स्थान पर उसे क्षमा कर देना चाहिये, मन को वश में रखना चाहिये, चोरी डकैती इत्यादि नहीं करनी चाहिये, हृदय में शुद्धता बनाये रखने के लिए आन्तरिक और बाह्य पवित्रता बनाये रखनी चाहिये, इन्द्रियों को वश में रखना चाहिये सत्य वचन बोलना चाहिये इत्यादि। इनके अलावा सात्विक बुद्धि और सात्विक ज्ञान की भी प्रशंसा की गई है। निष्काम भाव से कर्मरत मनुष्य की आत्मा को कल्याणमार्ग की प्राप्ति भी होती है। ऐसा कहकर ब्राह्मण ग्रन्थों में आध्यात्मिक उन्नति का मार्ग प्रशस्त किया गया है। इसके द्वारा हम परमात्मा को प्राप्त करते हैं इसीलिए इसे आध्यात्मिक उन्नति कहा गया है। आध्यात्मिक उन्नति के फल के रूप में परमात्मा की प्राप्ति का प्रतिपादन किया गया है। अध्यात्म में जो कुछ भी सहायक हो, उसे धार्मिक उन्नति की संज्ञा दी गई है। धार्मिक क्रियाओं को संपादित कर मोक्ष को प्राप्त किया जाता है लेकिन इन क्रियाओं का सम्पादन निष्काम भाव से किया जाना चाहिये। ब्राह्मण ग्रन्थों में यह कहा गया है कि यदि हम यज्ञ, दान, तप और धर्म का निष्काम भाव से पालन करते हैं तो हमारी मुक्ति हो सकती है। लेकिन इस मार्ग में स्वार्थ, आसक्ति, अहंकार एवं अन्य किसी प्रकार की कामना को बाधक माना गया है। यदि हम यज्ञ, दान, तप, सेवा-सकाम भाव से करते हैं तो उन्हें सकाम धर्म की कोटि में रखा जा सकता है और सकाम धर्म का पालने करने से कामना की पूर्ति होती है, स्वर्गादि प्राप्त होते हैं किन्तु मोक्ष की प्राप्ति नहीं।

ब्राह्मण ग्रन्थों में वाणी, श्रम, तप, श्रद्धा, सत्संग, स्वाध्याय इत्यादि का भी स्थल-स्थल पर बहुविध निरूपण किया गया है। स्वाध्याय की प्रशंसा में अन्यत्र भी कहा गया है कि कितने ही अहिंसादि तीक्ष्ण व्रतों से युक्त यत्नशील पुरुष स्वाध्याय रूप ज्ञानयज्ञ करने वाले, जिसके द्वारा वे परमात्मा को प्राप्त करने वाले हैं -

स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः।।

- (गीता - 4.28)

ब्राह्मण ग्रन्थों में जिन सत्कर्मों का निर्देश किया गया है उससे ऐसा प्रतीत होता है कि लौकिक उन्नति से लेकर परमार्थिक उन्नति तक का पथ प्रशस्त किया गया है। लोक में भी ऐसे व्यक्तियों की प्रशंसा की जाती है - जो व्यक्ति उद्वेग न करने वाला, प्रिय, हितकारक और यथार्थ भाषण करने वाला है और जिसे वेदशास्त्रों के पठन और परमेश्वर के नाम-जप का अभ्यास है, ऐसा आचरण करने वाला मनुष्य जो कुछ कहता है वही हो जाता है। पवित्र आचरण करने वाले व्यक्ति की आत्मा भी पवित्र हो जाती है। सत्य व्यवहार से तीर्थ, व्रत, दानादि के फल की प्राप्ति हो जाती है, तीर्थ में स्नान से पापों का नाश होता है। समस्त विश्व के प्रति मैत्री भावना रखने से सद्विचारों का निर्माण होता है। नीति के अनुसार मनुष्य का यह कर्तव्य माना गया है कि व्यक्ति न केवल अपने विषय में सोचे अपितु परहित के लिए भी कार्य करे। ब्राह्मण ग्रन्थों का यह भी वैशिष्ट्य है कि इनमें अनेक आख्यानों और आख्यायिकाओं के माध्यम से मनुष्य को सत्कार्य करने हेतु प्रेरणा प्रदान की गई है और बुराइयों से दूर रहने का संदेश दिया गया है।

इनमें प्रतिपादित विषयों में तीन प्रकार के कर्मों का भी विधान किया गया है जिन्हें नित्य, नैमित्तिक, काम्य और प्रायश्चित्त कर्मों की संज्ञा प्रदान की गई है। नित्य कर्मों में उन कर्मों (त्रिकाल सन्ध्या व पंचमहायज्ञादि) को रखा गया है जिन्हें करने से किसी फलविशेष की प्राप्ति नहीं होती तथापि न करने से पाप अवश्य होता है। नैमित्तिक कर्म उन कर्मों को कहा गया है जिन कर्मों के न करने से कोई हानि तो नहीं होती, किन्तु करने से पुण्यफल की प्राप्ति अवश्य होती है जैसे तीर्थाटन आदि।

जब कोई कर्म विशेष कामना की सिद्धि के लिये किया जाता है तो वह काम्य कर्म कहलाता है। मनुष्य अपने पापों से मुक्त होने के लिए प्रायश्चित करता है, संभवतः इसी दृष्टि को ध्यान में रखकर ब्राह्मण साहित्य में भी ऋत्विग्गण, यजमान, अपराधी इत्यादि के सन्दर्भ में प्रायश्चित कर्मों का निर्देश किया गया है।

प्रायः समस्त ब्राह्मण-ग्रन्थों में याज्ञिक कृत्यों का विधिविधानर्वूक सूक्ष्म विवेचन किया गया है। यज्ञों के प्रतिपादन का ब्राह्मणकार की दृष्टि में क्या प्रयोजन था, इसे जानने के लिए हमारे लिए यज्ञ का व्यापक अर्थ समझना आवश्यक है। इस सम्बन्ध में यह कहना उपयुक्त होगा कि यह जो व्यापक विश्व है, समस्त जीव-जगत्, इन जीवों को तृप्त करने की जो चेष्टा है, इसी का नाम यज्ञ है। ब्राह्मण ग्रन्थों में निहित पंचमहायज्ञों के पीछे भी श्रेष्ठ नैतिक अवधारणा निहित है जिसमें देवता, ऋषि, पितर, मनुष्य और इतर प्राणियों को तृप्त करने की चेष्टा दृष्टिगोचर होती है। ब्राह्मण ग्रन्थों में यह भी कथित है कि पहले देवताओं को दो, ऋषियों को दो, पितरों को दो, मनुष्यों को दो, सारे प्राणियों को दो और जो अवशेष रह जाये उसे स्वयं खाने में प्रयोग करो।

यहाँ क्रम की दृष्टि से 'देव' यज्ञ को प्रथम स्थान पर रखा गया है। देवताओं के कार्य-सम्पादन के द्वारा ही ठीक समय पर बरसात होती है, सूर्य के तेज में न्यूनता और अधिकता दिखायी देती है अतः मनुष्य को देवताओं को प्रसन्न रखना चाहिये। ऋषियों के सम्बन्ध में यह माना जाता है कि जो ऋषि जीवन-पर्यन्त ज्ञानार्जन करके ज्ञान देते हैं, हम उन ऋषियों की सेवा करें अतः इसे ऋषि-यज्ञ कहा गया है। तीसरा यज्ञ है पितृ-यज्ञ, जिसमें माता-पिता जिन्होंने हमारा पालन-पोषण किया, हमें संसार में जीने योग्य बनाया अतः इनमें उन माता-पिता को जो इस संसार में नहीं हैं अतः अथवा जीवित हैं, उन सबकी सेवा करने का निर्देश दिया गया है। चौथा महायज्ञ मनुष्य-यज्ञ को कहा गया है। संसार में कोई भी मनुष्य यह कहने में समर्थ नहीं है कि वह अकेला जीवित रह सकता है। सभी मनुष्यों को सहयोग की आवश्यकता पड़ती है, सभी प्रकार के कार्य करने वाले मनुष्य हमारी व्यवस्था के अनिवार्य अंग हैं। इसलिए जब मनुष्य कार्य में सबका सहयोग लेते-देते हैं तो सबको

भोजन मिले यह भी मनुष्य का ही दायित्व है। इस प्रकार सबको सबका हिस्सा प्राप्त हो, ऐसी भावना से प्रेरित याग को नृयज्ञ कहा गया है। पंचम महायज्ञ के रूप में भूतयज्ञ का विधान किया गया है जिसमें दूसरे प्राणियों की सेवा की भावना समाहित है। वर्तमान जीवन-शैली में हमने इसका सर्वथा त्याग कर दिया है जो अनुचित है।

अतः देवता, ऋषि, पितर, मनुष्य और सारे प्राणियों को हिस्सा देना ही यज्ञ है। इन सभी को इनका हिस्सा देकर जो बच जाये, उसे प्रसाद रूप में खाना ही यज्ञावशेष भोजन है। इसे मनुष्य के पापों को क्षीण करने वाला माना गया है। यज्ञ की इस भावना को स्वीकार करके यदि हम मनुष्य-मात्र के कल्याण की कामना से युक्त होकर कर्म करें तो निश्चय ही समाज को एक नई दिशा मिलेगी और वह हमें कल्याण के मार्ग पर पहुँचाने में अवश्य ही सहायक सिद्ध होगी।

आज अतिभौतिकवादी युग में ब्राह्मण-ग्रन्थ मनुष्य मात्र के लिये यह संकेत करते हैं कि उसे उस उन्नति को प्राप्त करने की दिशा में अग्रसर होना चाहिये जिस उन्नति से सबकी सेवा बने, सभी प्राणियों का हित हो और सबको सुख मिले। हमें वाणी की कठोरता, मिथ्या-भाषण, अप्रिय एवं अहितकर वचन एवं परनिंदा के श्रवण तथा रागद्वेष से मुक्त होकर विषयों पर संयम रखकर स्वयं को शुद्ध एवं दिव्य बनाने का प्रयत्न करना चाहिये। हमें भौतिकवाद के दायरे से निकलकर मन की उन्नति करने हेतु प्राप्य मन विषयक उद्धरणों से प्रेरणा प्राप्त होती है। मानसिक उन्नति को प्राप्त करने हेतु हमें अपने मन के भीतर स्थित दुर्गुण, दुव्यर्सन और पापों का निवारण करके मैत्री, दया, करुणा, शान्ति और एकाग्रतापूर्वक उपासनादि का आश्रय ग्रहण करना चाहिये।

इस प्रकार संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि जिस आचरण से हमारा उत्थान हो, दूसरे का भी अहित न हो, ऐसे मानवीय दृष्टि से उदात्त आचरण व्यवहार को ब्राह्मण ग्रन्थों में समाविष्ट किया गया है। इनमें प्रतिपादित असंख्य आचारिक उद्वरणों को शुभ, समृद्धि और विकास का हेतु, माना जा सकता है।

द्वादश अध्याय

उपसंहार

आचार मानव-जीवन का एक अपरिहार्य अंग है जिसका प्रतिपादन, वैदिक साहित्य में प्रचुर मात्रा में किया गया है। इसके अन्तर्गत जहाँ एक ओर तो मनुष्य के वैयक्तिक गुणों एवं आत्मोन्नति के साधनों पर विशेष बल प्रदान किया गया है वहीं दूसरी ओर पारिवारिक, समाजिक, राष्ट्रीय और वैश्विक कल्याण की कामना करते हुये अनेक तथ्यों को स्पष्ट किया गया है। अतः यह कहना उपर्युक्त होगा कि वेदों में वर्णित आचार दर्शन जीवन के व्यापक स्वरूप को प्रकट करता है। हम समाज में रहते हुये स्वजन-परिजन, शत्रु-मित्र, याज्ञिक-यजमान, गुरु-शिष्य, राजा-प्रजा इत्यादि के साथ किस प्रकार व्यवहार करें, हमारी सामाजिक उन्नति के क्या सोपान होने चाहिये, हमें जीवन को श्रेष्ठ बनाने हेतु किस मार्ग का अनुसरण करना चाहिये इत्यादि सन्दर्भों में प्राप्त आचरणपरक तथ्यों और उपदेशों को आचार की श्रेणी रखा जा सकता है। यह सर्वविदित तथ्य है कि मनुष्य जैसे कर्म करता है, उसी भांति उसके जीवन का निर्माण होता है। अत:वेदों में भी यही शिक्षा दी गई है-इस जीवन में मनुष्य का उत्थान हो, कभी भी वह पतन की ओर न जाये।

वैदिक साहित्य का वर्गीकरण चार भागों में किया गया है-संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषत्-साहित्य। इन सभी में हमें मानव को सदाचार की प्रेरणा देने वाले एवं जीवन के वास्तविक उन्नयन से सम्बन्धित विषयों का समावेश दिखायी देता है। वैदिक संहिताओं की भांति ही ब्राह्मण ग्रन्थों में निहित आचार ज्ञान की दृष्टि से ब्राह्मण ग्रन्थों के स्वरूप विषय एवं महत्त्व की जानकारी करना भी आवश्यक है अतः इस ग्रन्थ के प्रथम अध्याय "वैदिक वाङ्मय में ब्राह्मण ग्रन्थ" में इसी सन्दर्भ में प्रकाश डाला गया है। वस्तुतः उत्तरवैदिक काल में वैदिक संहिताओं की दुर्बोधता के कारण वेदमंत्रों के

विस्तृत विधान के अतिसूक्ष्म आयामों का आरोपण करने और तत्कालीन वैचारिक आंदोलन को दिशा देने की भावना के कारण ही ब्राह्मण ग्रन्थों का साक्षात्कार किया गया, ऐसा प्रतीत होता है।

विद्वानों ने मंत्रभाग के साथ ब्राह्मण भाग को भी वेद माना है। यह विशिष्ट साहित्य वर्तमान में हमारे समक्ष प्रवचनात्मक और व्याख्यात्मक रूप में उपस्थित है जिसका मुख्य विषय यज्ञ का सर्वांगपूर्ण निरूपण है। विधि एवं अर्थवाद वाक्य कर्मानुष्ठानों में प्रेरित करते हैं। इनमें यागों की अनुष्ठानविधियों, द्रव्यों, सम्बद्ध देवों, विनियुक्त मंत्रों और छन्दप्रभृति के द्वारा औचित्य-निरूपण करते समय ब्राह्मण ग्रन्थों के रचयिताओं ने मानवीय भावनाओं और मनोविज्ञान का ध्यान रखते हुये यजमान के सम्मुख उस कृत्य-विशेष से होने वाले हानि-लाभ को यथावत् प्रस्तुत किया है। यद्यपि ब्राह्मण ग्रन्थों की भी रचना पूर्णतः गद्य में है। तथापि उनमें बीच-बीच में उस युग में प्रचलित गाथाओं को भी पद्यबद्ध दिया गया है क्योंकि मानव के अन्तर्मन में निहित वासनाओं, कामनाओं और आकांक्षाओं को समझे बिना निंदा या प्रशंसा के द्वारा विनियोग करने हेतु बहुविध निर्देश प्राप्त होते हैं। इस दृष्टि से इनका महत्त्व न केवल सांस्कृतिक, ऐतिहासिक, भौगोलिक तथा वैज्ञानिक तथ्यों के कारण है अपितु इनमें उदात्त आचार दर्शन का भी प्रस्तुतीकरण है।

ब्राह्मण ग्रन्थों के आचार-विषयक चिन्तन की दृष्टि से यह अति आवश्यक है कि इससे पूर्व 'आचार-दर्शन' के स्वरूप को समझा जाये। अतः द्वितीय अध्याय-"आचार की पारम्परिक अवधारणा" में इसी विषय पर चर्चा की गई है। मनुष्य जो व्यवहार अपने दैनिक जीवन में करता है उसे मनुष्य का आचरण कहा जाता है। विद्वानों ने इस सन्दर्भ में नीति, धर्म, कर्तव्यादि शब्दों का प्रयोग किया है। इसी प्रकार 'आचरति एवम् अनेन इति वा'- इस अर्थ में आ+चर+घञ् 'व्युत्पत्ति के द्वारा 'आचार' शब्द की व्युत्पत्ति बताई गई है। 'आचार' अथवा 'नीति' शब्द आंग्ल भाषा के 'एथिक्स' या 'मॉरेलिटि' का हिन्दी पर्याय है जो 'मोर्स' शब्द से बना। आचरण को अंग्रेजी भाषा में 'कण्डक्ट' कहते हैं जो मनुष्य की ऐच्छिक क्रियाओं का द्योतक है। इस प्रकार आचार का सम्बन्ध मानव की ऐच्छिक क्रियाओं अथवा आचरण से है, अनैच्छिक एवं स्वाभाविक

क्रियाओं से नहीं। अतः 'आचारशास्त्र' विभिन्न आचारिक मूल्यों में एक शाश्वत सनातन मूल्य अथवा तथ्य की खोज कराता है कि वह कौन सा मूल्य है जो सभी मनुष्यों के लिए देश-काल की सीमा से अनुबन्धित हुये बिना सत्य माना जाये, जो मानव के लिए उचित या अनुचित कर्मों का निर्णय करे जिसकी प्राप्ति से मनुष्य अपने जीवन में सदैव सफलता और आनंद अनुभव करता हुआ आत्मपूर्णता की ओर अग्रसरित हो : कोशग्रन्थों के अनुसार, आचार का अभिप्राय मानव के व्यवहार, चाल-चलन और आचरण से है।

श्रुतियों और स्मृतियों में आचार-पालन एवं उनके महत्त्व पर पर्याप्त बल दिया गया है। बृहत्पराशर स्मृति में आचारवान् मनुष्य के इह तथा पर दोनों लोक श्रेष्ठ बताये गये हैं। विभिन्न ग्रन्थों में बतलाये गये आचार के महत्त्व पर दृष्टि डालने से ऐसा प्रतीत होता है कि हमारे पूर्वजों और आचार्यों ने आचार को ही जीवन का सर्वस्व माना है, मनुस्मृति के 'श्रुत्युक्तः' से यह सिद्ध हो जाता है कि श्रुतियों अर्थात् वेद में कहा गया आचरण ही परम मानवीय धर्म है। इसी संदर्भ में वाचस्पति गेरोला का कथन है-" चरित्र की श्रेष्ठता वैदिक संस्कृति का मूल है। इस चारित्रिक श्रेष्ठता के उपादान हैं- नैतिकता, शील, सदाचार और मर्यादा। चारित्रिक श्रेष्ठता समस्त विद्याओं, शास्त्रों एवं धर्मो का आधार है। वह एक सामान्य राष्ट्रधर्म है जिसके परिपालन के बिना राष्ट्र का उत्थान संभव नहीं है। वैदिक ऋषि-महर्षियों से लेकर परवर्ती सन्तों-महात्माओं ने राष्ट्र के चारित्रिक बल को सुदृढ़ बनाये रखने के लिए समय-समय पर अनेक कार्य किये। चारित्रिक श्रेष्ठता से आत्मबल प्राप्त होता है और आत्मबल के लिए नैतिकता और सदाचार का पालन आवश्यक है।"

नैतिकता और सदाचार के मार्ग के अनुसरण की प्रेरणा हमें पूर्व वैदिक काल से ही मिलने लगती है। इसके अतिरिक्त हमारे दार्शनिकों ने भी अपने अपने सम्प्रदायों के विषय में भी आचारपरक चिन्तन किया। बौद्ध-दर्शन मुख्यतः आचारदर्शन ही है जिसमें अष्टांग मार्ग का पालन सभी के लिए आवश्यक माना गया है। जैन-दर्शन में भी आचार के कठोर नियमों का विधान तथा हिंसा का सर्वथा निषेध किया गया है। सांख्य दर्शन में संसार के प्राणियों का वर्गीकरण उनके अन्दर स्थित विभिन्न गुणों के आधार पर किया गया है।

सांख्यकारिका में मिलने वाले 'धर्म' शब्द का निरूपण तत्त्वकौमुदीकार ने जहाँ अभ्युदय और निःश्रेयस् के साधक यज्ञ तथा दानादि के अनुष्ठान एवं अष्टांग-योग के रूप में किया है, वहीं जयमंगलाकार ने इसे यम-नियमों हेतु प्रयुक्त माना है।

योगदर्शन में भी यम एवं नियमों के द्वारा नैतिक साधना पर प्रकाश डाला गया है। महर्षि जैमिनि ने धर्म की परिभाषा करते हुए धर्म को एक अध्यादेश अथवा आदेश माना है। पूर्वमीमांसा-दर्शन में मिलने वाले आचारपरक तथ्य ईश्वरीय ज्ञान के अनुकूल हैं तथा उन्होंने वेद-विहित कर्मों को ही सत्कर्म माना है। लौगाक्षिभास्कर ने मोक्ष का कारण 'ईश्वरार्पण' के भाव से कर्तव्यपालन करना बतलाया है।

पूर्वशांकर वेदान्तियों के अनुसार, मनुष्य की संतुष्टि या पूर्णप्राप्ति केवल धन से ही नहीं हो सकती अतः आत्मकल्याण के इच्छुक व्यक्ति को चाहिये कि वह पवित्र स्थान पर शुद्ध सात्विक भाव से सम्पन्न होकर सद्ग्रन्थों का अध्ययन करता हुआ सत्य ज्ञान का अनुष्ठान करे। अद्वैत वेदान्तियों ने पाप-पुण्य को आध्यात्मिक जगत् से सम्बन्धित माना है। अविद्या का प्रभाव मनुष्य के व्यक्तित्व पर पड़ता है अतः उन्होंने इससे मुक्ति-हेतु न केवल सत्यज्ञान को अपितु सदाचार और ईश्वर भक्ति को भी आवश्यक बताया है।

रामानुज-दर्शन में भक्ति मनुष्य के ईश्वर के पूर्णतम ज्ञान तक मौन रूप में तथा एकाग्र समाधि रूप में पहुंचाने का नाम है। इस सम्बन्ध में हमें विवेक अथवा भोजन सम्बन्धी विचार भी मिलते हैं। इसी क्रम में विमोक (सबसे अच्छे सम्बन्ध करके केवल ईश्वर-प्राप्ति हेतु प्रबल इच्छा), अभ्यास (निरन्तर ईश्वर-चिन्तन), क्रिया (दूसरों का भला करना), कल्याण (प्राणिमात्र के प्रति शुभकामना), सत्य-व्यवहार, आर्जव (सच्चरित्रता,) दया, अहिंसा, दान (दाक्षिण्य), अनवसाद (सदा प्रसन्न रहना) और आशा का वर्णन भी किया गया है। यहां भक्ति को अन्य उपायों में सर्वोत्तम और परिणाम रूप में मोक्ष कहा गया है। इसी प्रकार शैव, शाक्त एवं अन्य परवर्ती दर्शन ग्रन्थों में भी आचारपरक विवेचन उपलब्ध है जिसका विस्तृत वर्णन "पौररत्य दार्शनिक प्रस्थानों में आचार दर्शन की रूपरेखा" शीर्षक के अन्तर्गत किया गया है।

पाश्चात्य-नीतिशास्त्रीय चिन्तन परम्परा में विभिन्न परम्पराओं के विभिन्न मनीषियों के सिद्धान्त प्राप्त होते हैं।

इनको क्रमशः विधानवाद, प्रज्ञावाद, सुखवाद, विकासवाद, वैराग्यवाद, कर्तव्यवाद, पूर्णतावाद और मूल्यवाद के नाम से जाना जाता है। इनमें तीन मत अति लोकप्रिय हैं-सुखवाद, काण्टवाद और पूर्णतावाद। सुखवाद के अनुसार सुख ही एकमात्र शुभ है तथा ज्ञान, सौन्दर्य, सदाचरण इत्यादि अन्य मूल्य उसकी प्राप्ति के साधन मात्र हैं। सिज्विक, बेथम, मिल आदि के मतानुसार केवल सुख ही आन्तरिक मूल्य है। जर्मन दार्शनिक कांट की दृष्टि में शुभ संकल्प निरपेक्ष शुभ है तथा शुभ कर्म या कर्तव्य साधन नहीं स्वयं साध्य है। इनमें सर्वाधिक विख्यात सिद्धान्त पूर्णतवाद है जो 'आत्मन्' के सामंजस्यपूर्ण विकास अथवा पूर्णता को परमशुभ घोषित करता है। पाश्चात्य नीतिशास्त्रियों का एक वर्ग ऐसा भी है जो सच्चरित्रता या सद्‌गुणसम्पन्न मानव को चरम शुभ मानता है। इनके अतिरिक्त समकालीन दार्शनिकों ने मानव-जीवन को चरम मूल्य माना है। यद्यपि इनकी संख्या नगण्य ही है। पाश्चात्य नैतिक मूल्यों के स्वरूप का चिन्तन "पाश्चात्य दार्शनिक प्रस्थानों में आचार-दर्शन की रूपरेखा" नामक शीर्षक में विस्तृत रूप से किया गया है।

ब्राह्मण ग्रन्थों में निहित आचार के अवबोध के लिए यह अति आवश्यक है कि इनकी पूर्वपीठिका में निहित आचारसम्बन्धी विषयों को जाना जाये। इसी दृष्टि को ध्यान में रखकर पंचम अध्याय के अन्तर्गत वैदिक संहिताओं में प्रतिपादित आचरण एवं व्यवहार सम्बन्धी विश्लेषण किया गया है। वैदिक आर्य यद्यपि धन-धान्य से युक्त होकर सुख एवं ऐश्वर्य की कामना करते थे तथापि वे अपने जीवन के प्रति, इहलोक तथा परलोक के प्रति सदा सजग रहते थे। वे मोक्ष के प्रति सदा उत्सुक रहते थे, संभवतः यही कारण रहा होगा कि सर्वशक्तिमान् सत्ता के विषय में अधिकाधिक जानने हेतु उनकी उत्कण्ठा रहती थी। विभिन्न आचारिक नियमों में बंधकर ही जीवन व्यतीत करने में वे अपने को धन्य मानते थे। उन्हें यह भी ज्ञान था कि केवल संन्यास धारण करके, सांसरिक कर्तव्यों से विमुख होकर पलायनवादिता से स्वर्ग ओर मोक्ष संभव नहीं है अपितु ऋत-सत्य, अहिंसा, उदारता, शौच, ओज, बल, दीक्षा, तप और

जीवन में आये विभिन्न सम्बन्धों के प्रति अपने उचित कर्तव्य-व्यवहारों से श्रेष्ठ सदाचरण द्वारा भी संवर्ग, मोक्ष तथा इहलोक में धन, धान्य, यश प्रभृति की प्राप्ति संभव है। संहिताओं में वर्णाश्रमों और आश्रमों का निर्देश किया गया है और दुष्कर्मों की निंदा की गई है। राजनैतिक आचार की भी यत्र-तत्र प्रसंगवश व्याख्या की गई है।

वैदिक आर्यों का जीवन उपासनामय था और उपासना से देवता प्रसन्न होते हैं और देवता प्रसन्न होगा तो अपने भक्त को उसका अभीष्ट प्रदान करेगा। अतः मानव को इच्छापूर्ति के लिए यज्ञादि श्रेष्ठ कर्म करके देवों को अवश्य प्रसन्न करना चाहिये जिससे उन्हें सुफल प्राप्त हो। यज्ञ के उपरान्त दक्षिणा देने का फल वेद में स्पष्ट वर्णित है। यज्ञ करने से पाप क्षीण होते हैं और यज्ञकर्ता का जन्म सफल हो जाता है, यह उस मानव का विश्वास था। यज्ञ फल के रूप में भौतिक सुख-समृद्धि, सर्वजन-कल्याण, शन्ति एवं स्वर्गप्राप्ति कहे गये हैं। संहिताओं में मनुष्य-जन्म की सफलता इसमें निहित है कि वह आजीवन धन, बल, यश, पुत्र-पौत्रादि से समृद्ध होकर सदाचारवान् रहे तथा मृत्यु के बाद जरा-मरणरहित स्थान को प्राप्त करे। मनुष्य जीवन ही उसे इस लाभ को प्राप्त करा सकता हैं कि वह आचारनिष्ठ तपोमय जीवन व्यतीत करे, अन्यथा अन्य पशु आदि प्राणियों के समान आहार-निद्रा-भय और मैथुन द्वारा ही जीवन-यापन होगा परन्तु धर्म, आचार तथा उचित कर्तव्यों की साधना के बिना वह यश-मोक्षादि श्रेष्ठतम लाभों से वंचित रह जायेगा।

प्रस्तुत ग्रन्थ के षष्ठ, सप्तम और अष्टम अध्यायों में ब्राह्मण ग्रन्थों में निरूपित आचार-दर्शन का विस्तृत सर्वेक्षण किया गया है। ष्ठ अध्याय में ऋग्वेदीय ऐतरेय एवं शांखायन ब्राह्मण ग्रन्थों में वर्णित आचार विषयक चेतना का प्रतिपादन किया गया है। सप्तम अध्याय में शुक्ल यजुर्वेद की माध्यन्दिन एवं काण्व शाखाओं से सम्बन्धित शतपथ ब्राह्मण तथा कृष्ण यजुर्वेदीय तैत्तिरीय ब्राह्मण में वर्णित आचार का विश्लेषण किया गया है। इसी प्रकार अष्टम अध्याय में सामवेदीय एवं अथर्ववेदीय ब्राह्मण ग्रंथों में सन्दर्भित आचार के स्वरूप को स्पष्ट किया गया है। सायणाचार्य के कथन से ज्ञात होता है कि सामदेव के आठ ब्राह्मण ग्रन्थों की मान्यता सुदीर्घ काल से है।

कौथुम शाखा के इन ग्रन्थों के अतिरिक्त जैमिनीय शाखा से सम्बन्धित, जैमिनीय, जैमिनीयार्षेय एवं जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण ग्रन्थों को तथा अथर्ववेद के एकमात्र गोपथ ब्राह्मण को भी समावेशित किया गया है। विषय-विवेचन की दृष्टि से समस्त ब्राह्मण ग्रन्थों के आचारिक अनुशीलन-हेतु आचार को पाँच वर्गों में बांटा गया है और इन्हें क्रमशः वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक, राजनैतिक और उपासना सम्बन्धी आचार की कोटि में रखा गया है। वैयक्तिक जीवन के गुणों के रूप में ऋत, सत्य, अहिंसा, मैत्री, अभय, स्वस्ति, विवेक, दान, यश, पाप-राहित्य, अतिथि-सत्कार, शुचिता आदि का विविध प्रसंगों में निरूपण किया गया है। व्यक्ति के सदाचार और शुद्धता पर बल देते हुये अस्तेय, व्यभिचार, ब्रह्महत्या, दुराचार, पाप को छिपाने हेतु किये जाने वाले असत्य-भाषण, स्त्री-व्यसन, कठोर वचन और दूसरों पर मिथ्या दोषारोपण को निषिद्ध माना गया है। वाणी का गौरव-गान करते हुये अहंकार से युक्त वाणी को राक्षसी वाणी कहा गया है। वाणी रूपी नावों के द्वारा पापों को पार किया जा सकता है अतः वाणी पर संयम आवश्यक है। पशु हिंसा का निषेध करते हुये इसे निन्दनीय कृत्य के रूप में ऐतरेय ब्राह्मणकार ने माना है, साथ ही मानव-बलि की भी निंदा की गई है। प्रायः सभी ब्राह्मण ग्रन्थों में कर्मनिष्ठ जीवन और पुरुषार्थ-साधना पर प्रकाश डाला गया है। पुण्य के महत्त्व को बतलाते हुये पाप के क्षय का भी विधान किया गया है। 'स्वस्ति' के सन्दर्भ में कथन है-"स्वस्तय इति स्वस्तितामाशास्ते।" इस वैयक्तिक आचरण का पारिवारिक, सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक जीवन में ही महत्त्व प्रतिपादित किया गया है। यजुर्वेदीय ब्राह्मण ग्रन्थों में माता-पिता एवं पुत्र के गौरवयुक्त स्वरूप की चर्चा करते हुये कहा गया है कि "कोई माता अपने पुत्र को हानि नहीं पहुँचाती और न ही किसी पुत्र को ही माता को हानि पहुँचानी चाहिये।" वृद्धावस्था में पिता पुत्रों के सहारे रहता था किन्तु पुत्र पूर्वावस्था में पिता के सहारे रहता था। पति-पत्नी के परस्पर सम्बन्धों, उनके कर्तव्यों और अधिकारों का भी निरूपण किया गया है। समाज में छोटे बड़ों का आदर करते थे, अभिवादन करने वाले व्यक्ति को कोई कभी सताता न था तथा इस से यज्ञ, तप श्रद्धा, ब्रह्मचर्यपालन आदि पर बल दिया गया है। यजमान की यज्ञ को आत्मा

और यज्ञ को देवों की आत्मा कहकर याग को मानव का सर्वस्व घोषित किया गया है। इसका अनुष्ठान व्रत, दीक्षा, सत्य, श्रद्धा और वाक् के द्वारा सम्पन्न किया जाता था। श्रम और तप के द्वारा ऋषित्व की प्राप्ति हुई तथा ब्रह्मा ने इन्हीं के द्वारा प्रजा को उत्पन्न किया। इनमें दूसरों की प्रशंसा करने और निंदा से दूर रहने का संदेश भी दिखायी देता है। अगम्यागमन को अपराध माना गया है तानूनप्त्र संज्ञक कृत्य में उल्लेख है कि यजमान और ऋत्विक् एक दूसरे का अमंगल न करें। यज्ञ में जप और स्वाध्याय को श्रौतयागों के समान ही स्थान प्रदान किया गया है।

हमें ज्ञात है कि ब्राह्मण ग्रन्थों में विभिन्न श्रौतयागों और गृह्यानुष्ठानों का याज्ञिक कृत्यों के अन्तर्गत विवेचन किया गया है क्योंकि धर्म के तीन स्कन्ध माने गये हैं-यज्ञ, अध्ययन एवं दान। इन यागों में पतिपादित आचार-चेतना को क्रमशः नवम और दशम अध्यायों में प्रदर्शित किया गया है। ब्राह्मणग्रन्थों का यह वैशिष्ट्य है कि इनमें मनुष्य के कल्याण-हेतु आशा, ज्ञान, शुचिता, श्रम आदि जैसे महनीय तत्त्वों का अनेकशः वर्णन किया गया है जिनका अनुसरण करके व्यक्ति वर्तमान परिस्थितियों में भी अपनी आसुरी प्रवृत्तियों पर सतत विजय प्राप्त कर सकता है, ऐसे उदात्त, आचरण एवं व्यवहार से मनुष्य का अवश्य ही उत्थान होगा। इसी दृष्टि से एकादश अध्याय -"ब्राह्मणोक्त आचार-दर्शन की साम्प्रतिक उपादेयता" में सामग्री निबद्ध की गई है।

अन्त में ब्राह्मण ग्रन्थों के अध्ययन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि इनमें प्रतिपादित आचरणसम्बन्धी तथ्य वास्तव में उदात्त एवं महान हैं। इनमें न केवल याज्ञिक कृत्यों का वर्णन हैं वरन् इन्हें किसी दृष्टि तक आध्यात्मिक ज्ञान का स्रोत भी माना जा सकता है। इनके माध्यम से संभवतः जीवन के प्रत्येक अंग को पूर्ण बनाने का प्रयास किया गया है। इनमें विवेचित आचारपरक अवधारणायें न केवल हमें पतन के मार्ग पर जाने से रोकने में सहायक सिद्ध होती हैं अपितु उत्थान के मार्ग का अनुसरण करने की भी प्रेरणा प्रदान करती हैं।

।। ब्रह्म सत्यं च पातु माम्।।

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

आधार ग्रन्थ

अथर्ववेद संहिता, (सायणभाष्यसहित) विश्वेश्वरानंद वैदिक शोध संस्थान, होशियारपुर, 1960-64

आर्षेय ब्राह्मण, सं. वे. रा. शर्मा, केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, तिरुपति, 1964

ऋग्वेद संहिता, वैदिक संशोधन मण्डल, पूना, 1941

ऐतरेय ब्राह्मणम्, (सायणभाष्यसहित) आनंदाश्रम, पूना 1931

ऐतरेयालोचनम्, सत्यव्रत सामश्रमी, कलकत्ता, 1906

कोषीतकि ब्राह्मणम्, आनन्दाश्रम, पूना

गोपथ ब्राह्मणम्, सं. राजेन्द्रलाल मित्र, कलकत्ता, 1872

छान्दोग्य उपनिषद्, (शांकरभाष्यसहित) गीताप्रेस वि.स. 2019

छान्दोग्य ब्राह्मण, (गुणविष्णुभाष्यसहित) सं. दुर्गामोहन भट्टाचार्य, कलकत्ता,

जैमिनीयार्षेय जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण, सं. वे. रा. शर्मा, तिरुपति, 1967 सं. रामदेव लाहौर, 1921

जैमिनीय ब्राह्मण, सं. डॉ. रघुवीर एवं लोकेश चंद्र, सरस्वती-विहार, 1954

ताण्ड्य ब्राह्मणम्, सं. पं. चिन्नस्वामिशास्त्री तथा पट्टभिराम शास्त्री (दो भाग)चौखम्बा, 1934 एवं 1936 सं. आनन्द चन्द्रा, वेदान्त वागीश, कलकत्ता, 1870-74 डब्ल्यू कालन्द: अंग्रेजी अनुवाद पंचविश ब्राह्मण कलकत्ता, 1932

तैत्तिरीय संहिता आनंदाश्रम, पूना, 1934

तैत्तिरीय ब्राह्मण, आनंदश्रम, पूना

देवताध्याय ब्राह्मण, सं. वे स. शर्मा, तिरुपति, 1965 सत्यव्रत सामश्रमी, कलकत्ता

निरुक्तम्, (दुर्गवृत्ति सहितम्) मनसुखराय गोर, कलकत्ता

पारस्कर गृह्यसूत्रम्, (हरिहरभाष्य सहितम्) डॉ. ओमप्रकाश पाण्डेय, चौखम्बा

मैत्रायणी संहिता, सं. सातवलेकर, 1942

वंश ब्राह्मणम्, (सायणभाष्यसहितम्) सं. वे. रा. शर्मा, तिरुपति, 1965 सत्यव्रत सामश्रमी कलकत्ता

वाजसनेयी संहिता, (उव्वट-महीधरभाष्यसंहिता) मोतीलाल बनारसीदास, 1971

व्याकरण महाभाष्यम्, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली

वेदभाष्य-भूमिका संग्रह, (सायणकृत) सं. पं. बलदेव उपाध्याय चौखम्बा,1958

शतपथ ब्राह्मण, सं. ए. वेबर, चौखम्बा (पुनर्मुद्रण)

शांखायन ब्राह्मणम्, आनन्दाश्रम, पूना, 1911

षडविंश ब्राह्मणम्, वे. रा. शर्मा. तिरुपति, 1967 सत्यव्रत सामश्रयी, कलकत्ता, 1873 विद्यासागर कलकत्ता, 1852

संहितोपनिषद् ब्राह्मणम्, सं. वे. रा. शर्मा. तिरूपति, 1965

सामविधान ब्राह्मणम्, (सायण एवं भरतस्वामिकृतभाष्यसहित) सं. वे. रा. शर्मा, तिरुपति, 1965

सामवेद संहिता, सं. पं. सातवलेकर, पारडी, 1939, पं. सत्यव्रत सामश्रमी, कलकत्ता

सहायक ग्रन्थ

अथर्ववेद: एक साहित्यिक अध्ययन, त्रिवेदी, डॉ, मातृदत्त, विश्वेश्वरानंद संस्थान, होशियारपुर, 1973

आचारशास्त्र के मूल सिद्धान्त, मिश्र रामनंदन तथा अनिरूद्ध, पटना, 1978

ऋग्वैदिक काल में पारिवारिक सम्बन्ध, शास्त्री, शिवराम, मेरठ, 1962

एथिक्स ऑव इण्डिया, हॉपकिन्स ई. डब्ल्यू, व्यूहेवेन 1927

जैनाचार, मेहता, मोहनलाल, वाराणसी, 1966

धर्मशास्त्र का इतिहास, काणे, म.म.पी.वी, हिन्दी समिति, लखनऊ

धर्म दर्शन: प्राच्य एवं पाश्चात्य, मसीह, याकूब, पटना, 1963

नीति दर्शन की पूर्वपीठिका, पाण्डेय, संगमलाल, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी (मूल प्रोलेगामिना टू एथिक्स-थामस हिल ग्रीन),1955

नीति: धर्म: दर्शन, गांधी महात्मा, इलाहाबाद, 1976

नीति मंजरी, द्विवेदद्या, काशी, 1966

नीतिशास्त्र, जोशी, शान्ति, दिल्ली, 1979

नीतिशास्त्र का सर्वेक्षण, पाण्डेय, संगमलाल, इलाहाबाद, 1968

नीतिशास्त्र की रूपरेखा, जयप्रकाश एवं चौधरी बलवीरसिंह, 1936

नीतिशास्त्र मीमांसा, वर्मा, अशोक कुमार (मूल प्रिंसिपिया एथिका जार्ज एडवर्ड मूर), विहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, 1973

नैतिक जीवन के सिद्धान्त, (मूल-प्रिंसीपल ऑव एथिक्स जॉन डयूई), दिल्ली, 1963

नैतिक चिन्तन के आयाम, राय, डॉ. छाया, दिल्ली, 2000

प्राचीन भारत की नीतियाँ, सिद्धान्तालंकार, दीनानाथ दिल्ली

प्रारम्भिक आचारशास्त्र पाश्चात्य और भारतीय, शर्मा, अशोक कुमार, पटना, 1954

नीतिविज्ञान के मूल सिद्धान्त, सक्सेना, लक्ष्मी, उत्तरप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, लखनऊ,1972

भारतीय दर्शन, मूल डॉ. राधाकृष्णन् हिन्दी अनुवाद नं. कि. गोभिल, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, 1966

भारतीय दर्शन, मिश्र, डॉ. उमेश, उ.प्र. हिन्दी समिति, लखनऊ 1975

भारतीय धर्म एवं दर्शन, उपाध्याय, बलदेव, वाराणसी, 1977

भारतीय नीतिशास्त्र का इतिहास, आत्रेय, भीखनलाल, लखनऊ, 1964

भारतीय नीति का विकास, पाण्डेय, श्यामलाल पटना, 1965

भारतीय नीतिशास्त्र, पाठक, दिवाकर, बिहार, हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना, 1971

भारतीय संस्कृति का विकास, शास्त्री, डॉ. मंगलदेव, वाराणसी, 1966

वेद और जीवन, गुप्त, नाथूराम, दिल्ली, 1975

वेदकालीन राजव्यवस्था, पाण्डेय, राजबली, लखनऊ 1971

वेद सौरभ, सरस्वती, जगदीश्वरानंद सहाय, दिल्ली, 1975

वेदत्रयी परिचय, मूल सतयव्रत सामश्रमी अनुवादक-पाण्डेय डॉ. ओमप्रकाश, हिन्दी समिति, लखनऊ, 1975

वैदिक धर्म एंव दर्शन, (मूल-कीथ, आ.ले.) अनुवादक-सूर्यकान्त, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1965

वैदिक साहित्य और संस्कृति, उपाध्याय, आ. बलदेव, काशी, 1976

वैदिक साहित्य और संस्कृति का स्वरूप, पाण्डेय, डॉ. ओमप्रकाश, वाइली ईस्टर्न लिमिटेड दिल्ली, 1994

वैदिक साहित्य, त्रिवेदी, रामगोविन्द, काशी, 1975

वैदिक संहिताओं में आचार-मीमांसा, डॉ. प्रतिभारानी, दिल्ली, 1989

वेदामृतम् नीतिशिक्षा, द्विवेदी, डॉ. कपिलदेव, विश्व भारती अनुसंधान परिषद्, ज्ञानपूर, वाराणसी 1984

वैदिक वाङ्मय का इतिहास, (ब्राह्मण एवं आरण्यक ग्रन्थ) भगवद्दत्त तथा सतयश्रवा, प्रणव प्रकाशन, नई दिल्ली, 1971,1973

सामवेदीय ब्राह्मणों का परिशीलन, , पाण्डेय, डॉ. ओमप्रकाश, भारत भारती अनुष्ठानम् 1991

संस्कृत साहित्य का बृहद् इतिहास, , सं. चौबे प्रो. बी.बी. उत्तरप्रदेश संस्कृत संस्थान् लखनऊ

हिन्दू सिविलाइजेशन, मुकर्जी, राधामुकुद, बम्बई, 1957

हिन्दू आचार-दर्शन, सहाय देवनाथ, पटना, 1973

हिन्दू पॉलिटी, जा़यसवाल, के.पी. बंगलौर, 1955

कोश ग्रन्थ

ए वेदिक कांकोर्डेन्स, ब्लूमफील्ड, मॉरिस, दिल्ली, 1964

एनसाइक्लोपीडिया ऑफ रिलीजन एण्ड एथिक्स, जेम्स हेस्टिंग्स, न्यूयार्क 1951

बृहत् अंग्रेजी हिन्दी कोश, हरदेव बाहरी, वाराणसी, 1960

वैदिक बिब्लियोग्राफी (पाँच खण्डों में), दाण्डेकर आर.एन. पना

वैदिक इण्डेक्स ऑफ नेम्स एण्ड सब्जेक्ट्स (दो खण्डों में), आर्थर एन्थोनी मैकडानल एण्ड आर्थर वैरिडल कील, वाराणसी, 1958

वैदिक पदानुक्रम कोश (सोलह खण्डों में), विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान, होशियारपुर

संस्कृत हिन्दी शब्दकोश, आप्टे, वामन शिवराम, दिल्ली, 1966

हिन्दी विश्वकोश (12 खण्डों में), , धीरेन्द्र वर्मा, भगवतशरण उपाध्याय एवं गोरखप्रसाद नागरी प्रचारणी सभा वाराणसी, 1960



प्रतिभा प्रकाशन
(प्राच्यविद्या प्रकाशक एवं पुस्तक विक्रेता)
29/5, शक्ति नगर, दिल्ली-110007
दूरभाष : (001) 27451485, 22912722